प्रकाशक : अनुसंधान विभाग
भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर (राजस्थान)

मूल्य : तीस रुपया

प्रथम संस्करण : जनवरी १९७१

मुद्रक : देवनागरी मुद्रणालय, उदयपुर

दो शब्द

भारतीय लोक कला मंडल के संस्थापक-संचालक पद्मश्री देवीलाल सामर के षष्टि-प्रविष्टि-समारोह पर देवीलाल सामर अभिनन्दन समारोह ने 'गेहरो फूल गुलाब रो' नामक अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित किया है। इस अवसर पर कला मंडल की ओर से 'लोकरंग' का प्रकाशन करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता है।

प्रस्तुत ग्रंथ संस्था के अनुसंधान-विभाग की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। सामरजी के योग्य निर्देशन में लोकरंगी कलाओं के विविध पक्षों पर इस विभाग द्वारा अब तक छोटे-बड़े बीस से अधिक ग्रंथ प्रकाशित किये जा चुके हैं।

राजस्थान की रसवंती कला परम्पराएँ बड़ी समृद्ध एवं समुन्नत रही हैं। लोकनाट्य ख्याल जैसी यहां की सशक्त विधा गत दस वर्षों से हमारे अध्ययन का विषय बनी हुई है। इन ख्यालों के यहां कई छोटे-छोटे आंचलिक रूप प्रचलित हैं जिनका संगीत, गायकी एवं नृत्य अदायगी की दृष्टि से अपना शिल्पगत वैशिष्ट्य है। सामरजी ने इन नाट्यों के विलुप्तप्राय रूपों को न केवल पुनर्जीवित ही किया अपितु साहित्यिक धरातल प्रदान कर पारम्परिक पृष्ठभूमि में नया आकलन देकर उन्हें श्रीहीन होने से भी बचाया है। इसके अतिरिक्त कला मंडल के रंग प्रांगण में प्रतिवर्ष लोकनाट्य समारोह एवं संगोष्ठी की संयोजना द्वारा उन्होंने विभिन्न प्रादेशिक लोकनाट्यों को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान करने में अनिर्वचनीय योग दिया है।

इसलिये यह उचित समझा गया कि सामरजी की इस लोकरंग साधना के अनुरूप एक ऐसा ग्रंथ प्रकाशित किया जाय जो भारतीय लोकनाट्यों का प्रतिनिधित्व करते हुए सम्बन्धित विषय का प्रामाणिक

विवेचन प्रस्तुत कर सके तथा ऐसा ग्रंथ-रत्न सामरजी की इस साधना को समर्पित किया जा सके। 'लोकरंग' के पीछे यही दृष्टि रही है।

इस ग्रंथ में लोकनाट्यों की चर्चित कम चर्चित अट्ठाईस विधाओं पर अधिकारी विद्वानों के लेख संग्रहीत हैं। इन विधाओं पर किया गया यह अध्ययन तथ्यपूर्ण एवं रोचक है। ग्रंथ के अन्त में एक परिशिष्ट भी दिया गया है जो लोकनाट्यों की पीठिका को समझने में बड़ा सहायक सिद्ध होगा।

प्रस्तुत प्रकाशन में जिन लेखकों ने अपनी रचनाएँ भेजकर सहयोग दिया उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। आदरणीय डॉ० सत्येन्द्र का मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने अपने व्यस्त क्षणों में ग्रथ की भूमिका लिखकर इसकी उपयोगिता में श्रीवृद्धि की। ग्रंथ में प्रकाशित कुछ चित्र केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी से प्राप्त हुए हैं, इसके लिये अकादमी को धन्यवाद देना मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ। देवनागरी मुद्रणालय के संचालक श्री कृष्णचन्द्र शास्त्री के विशेष रुचि लेने के कारण ही यह ग्रन्थ इतने सुन्दर रूप में पाठकों के समक्ष आ सका। अतः वे भी धन्यवादार्ह हैं।

आशा है, यह ग्रन्थ नाट्यकर्मियों तथा रंगसेवियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

भारतीय लोक कला मण्डल
१५ मार्च १९७१

(डॉ० महेन्द्र भानावत)
अनुसंधानअधिकारी

अनुक्रम

भूमिका
डॉ० सत्येन्द्र

लोकदर्शन
डॉ० बद्रीप्रसाद पंचोली १

रामलीला
रामनारायण अग्रवाल १३

रासलीला
डॉ० श्याम परमार ३३

माच
डॉ० शिवकुमार 'मधुर' ५२

खयाल
डॉ० अज्ञात ७४

तमाशा
डॉ० श्याम परमार ९०

गवरी
डॉ० महेन्द्र भानावत ११६

चविट्टुनाटकम
सबीना रफी १३६

भवाई
डॉ० श्याम परमार १५६

जात्रा
डॉ० आशुतोष भट्टाचार्य १७९

ख्याल
डॉ० महेन्द्र भानावत १६२
यक्षगान
डॉ० श्याम परमार २१५
कठपुतली
डॉ० महेन्द्र भानावत २२८
ललित
डॉ० श्याम परमार २४०
भगत
डॉ० अरविन्द कुलश्रेष्ठ २५१
तेरुकूत्तु
डॉ० सुरेश अवस्थी २६७
रमखेलिया
प्रो० प्रफुल्लकुमारसिंह 'मौन' २७२
गोंधल
डॉ० श्याम परमार २७७
भागवतमेल
ई० कृष्ण अय्यर २८३
विदेसिया
डॉ० उषा वर्मा २८६
कुटियाट्टम
डॉ० श्याम परमार २६४
करियाला
रोशनलाल गुप्ता ३००
अंकिया
डॉ० अज्ञात ३०५
दशावतार
डॉ० श्याम परमार ३११
नौटंकी
डॉ० महेन्द्र भानावत ३१६

छायापुतली
एम. वी. रमणमूर्ति ३२५
कुरवंजि
डॉ० श्याम परमार ३३१
सांग
डॉ० शंकरलाल यादव ३३५
भांडपथर
राधाकृष्ण वाक्रू ३४१

परिशिष्ट

लोकनाट्य : उद्भव और विकास
देवीलाल सामर ३४७
लोकनाट्य : परम्परा और परिवेश
जगदीशचन्द्र माथुर ३५८
लोकनाट्य : नवीनीकरण और नैरंतर्य
डॉ० श्याम परमार ३६६
लोकनाट्य : आधुनिक संदर्भ
डॉ० नरेन्द्र भानावत ३७३

चित्र–अनुक्रम

१. कठपुतली : नचैया और नर्तकी, २. साँग : वहार और बारीकी, ३. रासलीला में कृष्ण-राधिका, ४. कठपुतली : काठ और कला, ५. तुर्राकलगी : अट्टालिका से उतरना, ६. चिड़ावी ख्याल : कलाकार का कमाल, ७. तमाशा : वजइया तथ सुरतिया, ८. त्रिसंस्कृति का वाहक : यक्षगान, ९. रासधारी में राम, सीता और लक्ष्मण, १०. यक्षगान : मेकअप की एक मुद्रा, ११. गवरी : राइयों के साथ राईबूड़िया, १२. जात्रा : एक जुलूस उत्सव, १३. नौटंकी : नक्काड़ावादन, १४. रासलीला : मनसुखा की माखन चोरी, १५. खयाल अपने अपने, १६. गवरी की खेतुड़ी : कहीं नजर न लगजाय १७. कठपुतलियाँ : अमरसिंह राठौड़ के खेल में, १८. भक्ति - भागीरथी रामलीला की एक भूमिका, १९. माच और मर्दानगी, २०. भागवतमेल : लीलावती-प्रह्लाद खेल, २१. असम का एक अंकी : अंकिया २२. ख्याल : वेर और घूमर, २३. रास के रचैया : श्रीकृष्ण, २४. गवरी : एक गम्मत एक घाई ।

पद्मश्री
देवीलाल सामर
की
लोककला साधना
को
आदर सहित

भूमिका

लोकनाट्य का लोकमंच से सम्बन्ध है। इन दोनों से लोकरंग प्रस्तुत होता है। लोकनाट्य का आधार कोई लोक-नाटक होता है। और यह प्रतीत होता है कि लोकमानस से ओतप्रोत लोकनाट्य अनादि प्रागैतिहासिक काल में जन्म लेकर काल के विशाल अवरोधों को चीरता हुआ आज तक लोक में प्रचलित है।

नाटयशास्त्र में पंचमवेद 'नाटयवेद' की उत्पत्ति का रोचक इतिहास दिया हुआ है। वह यों है :

१. त्रेतायुग के आरम्भ में देवताओं ने ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि वे पंचमवेद 'नाट्य-वेद' का निर्माण करें क्योंकि-

क. लोक ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध से विमूढ़ काम और लोभ के वशीभूत वासनाओं में प्रवृत्त सुख-दुःख का अनुभव करने लगा है।

ख. जंबूद्वीप देव, दानव गंधर्व, राक्षस, यक्ष तथा महानागों से आक्रान्त हो गया है।

ग. वेदों का व्यवहार और श्रवण स्त्रियों और शूद्रों के द्वारा नहीं किया जाता। अतः सर्ववर्णोपयोगी क्रीडनीयक (मनोरंजन) जो दृश्य-श्रव्य हो आप बनायें।

२. 'तथास्तु' कहकर ब्रह्माजी ने विचार किया कि मैं-

क. धर्म, अर्थ और यश की प्राप्ति करने वाले, शास्त्र-वचनों के उपदेश सहित,

ख. लोक-ज्ञान के संकलन से युक्त,

ग. भविष्य में लोक के लिए सब कर्मों के मार्ग का निर्देश करने वाले,

घ. सम्पूर्ण शास्त्रों के अर्थ को व्यक्त करने वाले,

ङ. सभी शिल्पों को प्रेरणा देने वाले,

च. नाट्य पर आधारित,

छ. इतिहास के सहित,

पंचमवेद की रचना करूंगा ।

३. ब्रह्माजी ने सभी वेदों का स्मरण किया और

क. ऋग्वेद से पाठ,

ख. सामवेद से गीत,

ग. यजुर्वेद से अभिनय,

घ. अथर्ववेद से रस,

ङ. उपवेदों से भी आवश्यक सामग्री लेकर पंचम वेद का निर्माण किया ।

४. तब ब्रह्मा ने इन्द्र से कहा—'अब आप अपने

क. कुशल,

ख. ज्ञानवान,

ग. वाणीचतुर तथा

घ. श्रम से पीछे न हटने वाले,

देवताओं से अभिनय करायें ।' इन्द्र ने कहा—'देवता यह कार्य नहीं कर सकते । आप यह काम

क. वेद के रहस्य को समझने वाले और

ख. अपने व्रतों से निवृत्त

ऋषियों से सम्पन्न कराइये ।'

५. ब्रह्माजी ने तब भरत को सौंपा कि अपने १०० पुत्रों के साथ प्रयोग करायें।

६. पहले भरत ने इन्द्रध्वज के अवसर पर 'देवासुर संग्राम' खेला ।

७. असुरों ने रुष्ट होकर विघ्न डाला ।

८. इन्द्र ने जर्जर से दैत्यों और बाधाओं को मार भगाया ।

९. तब ब्रह्मा ने विश्वकर्मा से कहा कि लक्षणयुक्त नाट्यशाला बनाओ ।

१०. विश्वकर्मा ने नाट्यगृह बनाया । उसकी पूजा की गयी । देवताओं को प्रतिष्ठित किया गया और उन्हें बलि प्रदान की गयी ।

११. ब्रह्मा ने भरत से कहा कि इसमें मेरा रचा 'अमृतमंथन' समवकार खेलो ।

१२. फिर शंकर के यहाँ अमृतमंथन समवकार एवं 'त्रिपुरदाह' डिम अभिनीत किये गये ।

१३. शिव ने इसे ताण्डव प्रदान किया ।

१४. पार्वती ने लास्य ।

तब 'भरत' ही इसे देवलोक से मर्त्यलोक में लाये । नाट्यशास्त्र की भूमिका-रूप यह विवरण व्यंजना से यह प्रकट करता है कि—

१. स्त्री और शूद्रों को वेदों से वंचित कर देने से समाज में दरार पड़ गयी। संभवतः विद्रोह भी हुआ हो। और वैदिक ऋषियों की श्रव्य ऋचाएँ अथवा काव्य से बढ़कर दृश्यकाव्य का निर्माण हुआ ।

२. देवताओं और ब्राह्मणों ने भी इस खाई को पाटने के लिए इसे 'वेद' नाम देना स्वीकार कर लिया ।

३. देवताओं ने अपने आभिजात्याभिमान से नाटक खेलना अस्वीकार कर दिया। वे भला साधारण लोक की वस्तु को कैसे स्वीकार करते ? नाट्य लोक-वृत्ताश्रित होता था इसलिये भी देवताओं ने उसे खेलना स्वीकार नहीं किया ।

४. पहले नाटक खुले क्षेत्र में हुआ या होता था– अर्थात् नाटक का मूल मंच लोकमंच था। लोकमंच की यह परम्परा अनादिकाल से आज तक चली आयी है। भरत ने मंच आदि का कोई उल्लेख नहीं किया इससे यही ध्वनित होता है कि मंच बनाया नहीं गया था ।

५. खुले मंच पर 'नांदी' के बाद नाटक आरम्भ कर दिया गया ।

डा० रघुवंश ने नाट्यशास्त्र के अनुवाद की भूमिका में बताया है कि 'अभिनव के उपाध्याय (भट्टतोत) के अनुसार पूर्वरंग की व्यवस्था दैत्यों द्वारा विघ्न उपस्थित किये जाने पर की गई है अतः यहां केवल नांदी के प्रयोग का भाव है। अभिनव ने वेद सम्मत होने के कारण 'मंगलकामना' की दृष्टि से नांदी का प्रयोग स्वीकार किया है, पूर्वरंग का अवसर नहीं माना है।'

नाटक के मंचन में विकास होने पर 'पूर्वरंग' जैसा जटिल प्रयोग संभव था, अतः भट्ट तोत तथा अभिनव का मत पूर्णतः समीचीन है। जैसा डा० रघुवंश ने माना है वैसा दूरारूढ़ नहीं ।

६. यह भी द्रष्टव्य है कि 'नाट्यशास्त्र' ने प्रथम नाटक के रचयिता का न तो नाम ही दिया है और न उसका प्रकार ही बताया है :

> "नान्दीकृता मया पूर्वमाशीर्वचनसंयुता ॥ ६५
> अष्टांगपदसंयुक्ता विचित्रा वेदनिर्मिता ।
> तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः" ॥ ५७ (प्रथम अध्या०)

मुझे इसमें यह व्यंजना प्रतीत होती है कि 'देवासुरसंग्राम' लोकनाट्य था। उसकी लोकप्रचलित कथा को लेकर अनुकरणपूर्वक उसका नाट्य प्रस्तुत करते हुए उसमें यथाप्रसंग संवाद नटों ने प्रस्तुत किये।

वस्तुत: 'अमृतमंथन' से नाट्यशाला के अनुकूल लिखे गये नाटकों और उसके अभिनय का प्रवर्तन हुआ।

इस चर्चा से यह विदित होता है कि नाटक का मूलाधार लोकरंग था। लोकक्षेत्र की वस्तु को उठाकर आभिजात्य वर्ग के समक्ष प्रस्तुत करने की प्रक्रिया में उसे वेदों से जोड़ा गया और नाट्यशाला को यज्ञानुष्ठान और बलि से युक्त करके उसे धार्मिकता और आध्यात्मिकता से अभिमंडित किया गया। अब वह आभिजात्य वर्ग के अहं को संतुष्ट कर सकता था। यह और कहा गया कि—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येस्मिन्यन्न दृश्यते ।। ११६ ।। (प्रथम अध्या०)

नाट्यशास्त्र के गहन अध्ययन से और भी इस बात की पुष्टि होती है कि नाट्यशास्त्र-प्रणेता ने तत्कालीन लोकनाट्यों को संस्कृतरूप देने का प्रयत्न किया।

प्रो० कोनो ने माना है कि वेदों के कर्मकांड सम्बन्धी रूपक तत्कालीन लोकप्रचलित स्वांग से लिये गये थे।[1] प्रो० लेवी ने माना है कि भारत के नाटक पहले प्राकृत में लिखे गये[2] और वे उसे 'कृष्णसम्प्रदाय' पर आश्रित बताते हैं।[3] प्रो० हिलब्रांट भी लोकप्रचलित स्वांग की सत्ता संस्कृत नाटकों से पहले से मानते हैं।[4] इन लोगों की स्थापनाओं की आलोचना हुई है और उन्हें अमान्य ठहराया गया है। स्वयं कीथ ने भी इन्हें अमान्य माना है। किन्तु गहरे पैठने पर हिलब्रांट तथा लेवी प्रभृति विद्वानों का मत ठीक प्रतीत होता है।

नाटक और वैदिक कर्मकांड-पूर्वी लौकिक स्वांग ही लोकरंग या लोक-नाटक हैं। डा० कीथ की आलोचना का एकमात्र आधार तत्कालीन साहित्य की साक्षी पर निर्भर है। इस आधार पर लोकनाट्य के अस्तित्व को यदि सकारा नहीं जा सकता तो नकारा भी नहीं जा सकता। अनेकों ऐसे लोकप्रचलित धर्म

---

१. कीथ, संस्कृत नाटक (हिन्दी अनुवाद), पृ० १५.
२. वही, पृ० ३७.
३. वही, पृ० ३७.
४. वही, पृ० ४०.

कर्म होते हैं जिनको साहित्य में स्थान नहीं मिलता। मिलता भी है कभी तो तब मिलता है जब उसे कोई प्रतिभाशाली उठाकर एक मान्य स्तर प्रदान कर देता है या उसका व्यापक शास्त्र निरूपित किया गया हो, तब सब प्रकार के वर्णों का उल्लेख करना ही होता है और उसमें ऐसे लौकिक रूपों को भी समाविष्ट करना पड़ता है। उदाहरणार्थ दशरूपकों के भेदों में स्वयं कीथ ने 'प्रहसन' की चर्चा करते हुए लिखा है कि "प्रहसन में इस बात के सभी लक्षण पाये जाते हैं कि वह लोक में उत्पन्न हुआ और लोक प्रचलित था।"[5]

'भाण' एकालाप है। स्पष्टतया प्रतीत होता है कि वह भी लोकधर्मी था।...... भाण आदिम स्वांग का शास्त्रीय रूप है[6] और उपरूपकों में शिल्पक का स्वरूप अस्पष्ट है। यदि उसे स्वांग माना जाय तो स्पष्ट है कि वह मनोरंजक नहीं था।[7]

इन उल्लेखों से यह विदित होता है कि नाट्यशास्त्र के दश रूपकों में से दो और अन्यत्र प्रतिपादित उपरूपकों में से एक 'शिल्पक' लोकप्रचलित परम्परा में पैदा हुए और शास्त्रकार ने उन्हें शास्त्र में स्थान दिया। स्पष्ट ही उन्होंने उनका शास्त्रीय निरूपण किया।

इनके साथ ही उपरूपकों में कुछ ऐसे भी रूपक हैं जो नृत्य से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। कीथ का ही मत हम यहां व्यक्त करेंगे। वे कहते हैं :

'सट्टक.........' "उसका नाम नृत्य के प्रकार का द्योतक है, बहुत संभव है कि इन रूपकों में इस प्रकार के नृत्यों के प्रयोग से उपरूपकों के एक भेद में 'सट्टक' का आरम्भ हुआ हो।"[8]

"हल्कीश स्पष्टतया उदात्तीकृत नृत्य है"[9]

"नाट्यरासक सांगीत रास है।"[9]

"प्रस्थान नाट्यनृत्य पर आश्रित है।"[9]

एकांकी भाणिका और काव्य भी उसी प्रकार के प्रतीत होते हैं।[9] फिर

---

५. वही, पृ० ३७३.

६. वही, पृ० ३७४.

७. वही, पृ० ३७७.

८. वही, पृ० ३७६.

९. वही, पृ० ३७६.

कीथ ने उपरूपकों में 'नाटी' या 'नाटिका', 'प्रकरणिका', 'सट्टक' और 'त्रोटक' के लक्षण बताकर अन्य उपरूपकों पर चर्चा करने से पूर्व यह लिखा है कि—

"उपरूपक के जिन अन्य भेदों का निरूपण किया गया है उनकी प्रतिनिधि रचनाएँ प्राचीन साहित्य में नहीं मिलतीं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि उनमें वास्तविक रूपक की अपेक्षा गीत नृत्य और वाद्य से युक्त मूक नाट्य की विशेपता कहीं अधिक पायी जाती है।[10] अतः इन नाट्य-नृत्य प्रधान भेदों और अन्य रूपक-उपरूपकों को तुलनापूर्वक देखने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। भारतीय रूपक तथा उपरूपक का मूल लौकिक अथवा लोकक्षेत्रीय है।[11] शास्त्रकार ने वहां से उठाकर उसका उदात्तीकरण और संस्कार करने का प्रयत्न किया। इनमें से कुछ को वह पूर्णतः शास्त्रीयता के क्षेत्र में ले आया। उनमें लोकक्षेत्र के तत्त्व परिमार्जन–प्रक्रिया से दूर हो गये। कुछ को वह पूरी तरह परिमार्जित नहीं कर सका या उसने नहीं करना चाहा। इनमें नाटकों का मूल द्योतक स्वांग या लोकधर्मी रूप शेप रह गया और कुछ में लोकधर्मी नाट्य के वे रूप भी सुरक्षित रह गये जो नृत्य-नृत्त में से विकसित हुए थे।

वस्तुतः प्रत्येक शास्त्र का निर्माण कला-विकास के उन्नत शिखर पर पहुंचने के उपरान्त ही होता है। भारतीय नाट्यशास्त्र इसका अपवाद नहीं है। कितना विलक्षण कला-विकास और उसका सूक्ष्म निरूपण और विश्लेपण नाट्यशास्त्र में है। नाटक में प्रयुक्त प्रत्येक कला और शिल्प के उत्कर्ष का ही नहीं वरन् उसके

---

१०. वही, पृ० ३७६.

११. हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में बताया है कि 'गेय डोम्बिका भाण प्रस्थान शिगकभाणिका प्रेरणा राका क्रीड़हल्लीसक रासकगोष्ठी श्रीगदित रागकाव्यादि।' ८–४. (डा० द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ५६, पा-टि) डा० द्विवेदी ने लिखा है कि सो, 'सवृक' एक प्रकार का नाटक है या लौकिक तमाशा है नौटंकी की तरह। रासक भी इसी प्रकार का एक रूपक भेद है·········रासक वस्तुतः एक विशेष प्रकार का खेल या मनोरंजन है। रास में वही भाव है। सट्टक भी ऐसा ही शब्द है। लोक में इन मनोरंजक विनोदों को देखकर सस्कृत के नाट्य शास्त्रिओं ने इन्हें रूपकों और उपरूपकों में स्थान दिया था। वही, पृ० १००.

स्थिर स्तर का भी भान नाट्यशास्त्र से हमें होता है।

स्पष्ट है कि नाटकों के इतिहास में यह कम से कम पांचवीं अवस्था हो सकती है। यथा—

प्रथम अवस्था आदिम अवस्था है। इस अवस्था के अंतिम छोर पर मनुष्य ने कहानी कहना सीख लिया था, गीत भी गाने लगा था तथा नृत्य भी करने लगा था।[12] पर यह सब कुछ ऐसे था जैसे कोकिल गाती है और मयूर नाचता है अर्थात् प्रकृति के अवयव की तरह उससे तादात्म्यपूर्वक। उसकी कहानी भी मनुष्य से अधिक प्रकृति के व्यापारों की थी। वह और प्रकृति के विविध तत्त्व एक कुटुम्ब के सदस्य की भांति व्यापार-विद्ध थे। अतः प्रकृति के तत्त्वों से नामदान करते हुए उनकी क्रियाओं में अपने तद्रूप अभेद से गति, घटना और उनसे कहानी निर्मित होती देखी। मानव सहज ही अनुकरणप्रिय है। ये सभी अभिव्यक्तियां अत्यन्त सहज थीं। उतनी ही प्रबलता से अंतःप्रेरित थीं। यहाँ उसकी शारीरिक क्रियाओं और क्रीड़ाओं को अभिनय नहीं माना जा सकता। इन अनुकृति क्रियाओं को भी अभिनय नहीं माना जा सकता। इन क्रियाओं को भी वह भोग रहा था, उन्हीं की तरह जिनका वह अनुकरण कर रहा था। यहां गीत था, उसके साथ ही नृत्य भी था और नाट्य भी था। गीत या नृत्य की प्रधानता थी पर नाट्य भी संयुक्त था।

---

12. श्री जी. एस. घुरये ने लिखा है कि— Some Kind of dance would appear to have been an early need of man. How early in his cultural evolution man avecuted dance of same kind and in connection with what life activity, we can not positively state. But we Know in definitely from art efects of the upper Palaeolithic Age PALAEOLITHIC Age i. e. of about 25,000 or 20,000 B. C. That fairly elaborate dances, both solo masauerade and collective and even minded one were indulged in by the people of Europe in that age.

—Bharat Natya and its Costumes, by G.S. Ghurye (1958) P. 2.

दूसरी अवस्था वह है जब मनुष्य ने अपनी अस्मिता की चेतना प्राप्त की और प्रकृति-तत्त्वों में एक अन्य सत्ता का आभास पाया। इन प्रकृति-तत्त्वों का नामकरण वह पहले ही कर चुका था। अब उनमें उसने वर्ण देखे और उनके कार्यों के रूप और परिणाम के आधार पर देवता या दानव, सुर या असुर कहने लगा। उनके साथ उसके सुख-दुःख के सम्बन्ध या नाते स्थापित हुए। उसने आह्लादक तत्त्वों की स्तुति की और उनका अभिनंदन किया तथा स्वागत किया। जो अनाह्लादक थे उनके निवारण की इच्छा प्रकट की। यहीं उसे अपने अस्तित्व-रक्षा के लिए संघर्ष करना पड़ा।

लुई एच ग्रे ने अपने नाटक नामक निबन्ध की भूमिका में बताया है—

"The best evidence at our command seems to show that for primitive man life was by no means simple delight or poetic out look upon the beauties of nature, but rather a matter of deadly earnest, a strugge for existence and a terror of mishap of which we, in modern days, can scarcely form an adequate conception."[13]

देवासुरसंग्राम भी इसी भूमि पर उभरा तथा परी-कहानियां (fairy tales) भी यहीं पैदा हुईं। यहीं मनुष्य ने रति और भय के मूलभूत स्थायी भावों की अनुभूति की और 'एकोऽहं बहु स्याम' तथा 'त्राहि माम्-त्राहि माम्' की भावना उद्भूत हुई। उसने प्रकृति में व्यापारों को अभिधान ही प्रदान नहीं किया, उनके अर्थ को भावतत्त्व से भी संयुक्त किया। उषा को जो देवी थी, उसने देखा भगाते हुए और उसका पीछा करते हुए सूर्य को देखा। उसका मुँह लाल, अनुराग से लाल। इन कृत्यों का भी अनुकरण किया गया। अब यह अनुकरण स्वयं-स्फूर्त नहीं था। अब यह अनुकरण था।

तब तीसरी अवस्था में मनुष्य इस प्रयत्न में लगा कि वह इन देवों और दानवों पर किसी प्रकार अधिकार प्राप्त करे। एक ओर उसने लिरिक (गीत-स्तुति) से उन्हें विमोहित कर वश में करना चाहा तो दूसरी ओर अपनी आदिम अभेदवादी अनुभूति के सहारे 'अनुकृति' से उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न

---

13. Encyclopaedia of Religion & Ethics, Vol. IV. P.686.

किया। जैसे उनकी अनुकृति ही देवता हो। अनुकृति करली मानो देवता को पा लिया या किसी भी पदार्थ को इस विधि से पाया जा सकता है। यह आस्था उदित हुई। यहां टोना (मेजिक) और धर्म दोनों साथ-साथ उदित हुए। अब देवताओं की कहानियां जटिल होने लगीं। वे परी-कहानी से देव-दानवों की पुराणगाथाएं (मिथ) होने लगीं। जैसे व्यवहार में वैसे ही कहानियों में उन टोनों की कल्पना हुई जिनसे देवताओं को-दानवों को वश में किया जा सकता था और उनसे अभिप्रेत कार्य कराया जा सकता था।

चौथी अवस्था में हम मानव के हाथ में वह टोना आते देखते हैं जिससे वह देवताओं का आह्वान कर सकता है। उनके गुणों एवं उनके आवेश को स्वयं अपने अंदर आवेष्ठित कर सकता था। इसी भूमि पर मानव में भी देवत्व प्रतिष्ठित होने लगा, मानव में देवता का अवतार होने लगा। इस उपलब्धि से मानव महानकर्मा (हीरो) बना। देव-कथा और मनाव-कथा मिलजुल कर चली। यहीं 'ऐपिक' 'पुराणमहाकाव्य' का जन्म हुआ। यज्ञ और टोने आदि आनुष्ठानिक तंत्र की उद्भावना की गयी। इन सब के साथ समग्र मानवीय अभिव्यक्तियों को संजोकर यज्ञ को एक महान कर्म की संज्ञा दी गयी।

यजुर्वेद में विविध कलावेत्ताओं की नियुक्ति का परामर्श इसी उद्देश्य से किया गया है।[14] इसके अर्थ हैं कि वे सभी कलाएं अलग-अलग समुदायों द्वारा अलग-अलग विकसित की गयीं और यज्ञ के माध्यम से उन्हें एक उद्देश्य विशेष के लिए सुनियोजित किया गया।

इन चारों अवस्थाओं में से मानव की अनुकरणप्रियता पहले तादात्म्यभाव से फिर पराकर्षण भाव से तब वशीकरण भाव से, और तदनंतर स्वयंभू भाव से प्रकट होती रही। लोककृति को शास्त्रकार ने सूक्ष्म विश्लेषण करके कला तत्त्व के समावेश के लिए संभावनाएं पैदा करदीं।

नाट्यशास्त्र में उल्लेख है कि पंचमवेद-नाट्यवेद का निर्माण ऋग्वेद से

---

१४. नृत्ताय सूत गीताय शैलूषं धर्म्माय समाचरन्नरिष्ठायै
भीमलन्नर्म्माय रेभं हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषरवस्प्रमदे
कुमारीपुत्रमेधायं रथकारन्धैर्ययाय तक्षाणम।
(शुक्ल यजुर्वेद, वाजसनेयी संहिता, ३०वां अध्याय, पुरुषमेधप्रकरण;
पं० सीताराम चतुर्वेदी, 'भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, पृ० ५).

से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर किया।[15] पाठ्य का अर्थ 'संवाद' लगाया जाता है। ऋग्वेद में कई संवाद हैं। उसमें संवाद ही हैं, उनके प्रसंग नहीं हैं। प्रत्येक 'संवाद' की भूमिका किसी-किसी कथा प्रसंग से जुड़ी है जिसे आगे के वैदिक साहित्य में खोला गया है। यथा 'पुरूरवा–उर्वशी' संवाद। पुरूरवा मानव–संतान है, उर्वशी अप्सरा है देवलोक की। दोनों की प्रेमकथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। अब प्रश्न यह है कि वेदों में और मूलतः ऋग्वेद में कथा क्यों नहीं, संवाद ही क्यों हैं ? स्पष्ट है कि ये उस काल में अतिप्रचलित कथा–प्रसंगों में से लिये गये संवाद हैं। ये संवाद भी लोक-प्रचलित रहे होंगे। वहीं से सुनकर वैदिक साहित्यवेत्ताओं अर्थात् ऋषियों ने इन्हें ग्रहण किया और इन्हें संस्कृत रूप दिया। तभी ये 'श्रुति' हैं। और ये बहुत पहले से प्रचलित रहे, उनके कर्त्ताओं का नाम विदित नहीं होने से ये अपौरुषेय माने गये।

ऋषि को द्रष्टा माना गया है। द्रष्टा 'संवाद' को देखता है। संवाद दृश्य हैं और यदि संवाद काव्य है तो वह काव्य को दृश्य रूप में देखता है। प्रत्येक संवाद किसी न किसी आख्यान या कथा से संबद्ध है यह निस्संदेह है तो कथा रूप में जो ऋषियों ने देखा उसी में से लिया हुआ यह संवाद है। ऋषि ने सचमुच काव्य को देखा। उसने लोकमंच में से उन अंशों को चुना जिनमें उन्हें किसी महान काव्यात्मा की संभावना दिखायी पड़ी। इस प्रकार उन्होंने जो देखा उस देखे महान् तत्त्व से युक्त करके उन संवादों को प्रस्तुत किया। पर संभावना यही प्रतीत होती है कि ये संवाद विकास की उक्त अवस्थाओं में से किसी न किसी से सम्बन्धित हैं। फलतः ये संवाद स्वयं लोकरंग की साक्षी प्रस्तुत करते हैं।

इसके साथ ही वैदिक कर्मकाण्ड में कुछ ऐसे विधानों का समावेश है जिनकी प्रकृति नाटकीय है—

"कर्मकांड में केवल गीतों का गान या देवताओं का स्तुतिपाठ ही नहीं सम्मलित था, उसके अन्तर्गत अनुष्ठानों का एक जटिल चक्र था जिनमें से कुछ में नाटकीय प्रदर्शन का तत्त्व विद्यमान था; अर्थात् संस्कारकर्ता उस समय के लिये अपने व्यक्तित्व से भिन्न रूप धारण करते थे।"[16]

---

१५. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि। (१–१७)

१६. संस्कृत नाटक; कीथ, पृ० १२.

उदाहरण—"कतिपय विवरणों में सोम-विकेता अनुष्ठान की समाप्ति पर दाम से वंचित किया गया है और पीटा गया है या ढेलों से मारा गया है। ऐसी दशा में यह संदेह नहीं हो सकता कि यहां पर सोम-व्यापार के निषेध का प्रतिबिम्ब नहीं बल्कि संरक्षक गंधर्वों से सोम प्राप्त करने का नाटकीय वृत्तान्त मिलता है।"[17]

महाव्रत में 'अनुष्ठान का एक आवश्यक अंश है— गौर वर्ण वैश्य और कृष्ण वर्ण शूद्र का एक चिकनी सफेद खाल के लिए संघर्ष जो अंततोगत्वा विजयी वैश्य के पल्ले पड़ती है।'....वस्तुत: हमें एक आदिम नाटकीय कर्मकांड मिलता है, और कहा जा सकता है कि वह सारे वैदिक युग में लोकप्रिय था। उसी अनुष्ठान में एक विचित्र उपाख्यान की विशेषता पायी जाती है; एक दूसरे को भद्दी गाली देते हुए एक ब्राह्मण ब्रह्मचारी तथा गणिका का प्रवेश कराया गया है।'[18] तथा 'महाव्रत के अवसर पर फसल के हेतु पानी बरसाने तथा जन-समूह की समृद्धि-प्राप्ति के लिए बलाएँ टोटके के रूप में आग के चारों ओर नृत्य करती हैं।'[19]

फलत: यह भी सिद्ध होता है कि 'रूप-आरोप' और 'अभिनय' भी वैदिक युग में पूर्णत: प्रचलित थे। इनका सादृश्य आदिम कर्मकांडों से भी विद्वानों ने लक्षित किया है। आदि कर्मकांडों का सादृश्य वैदिक जटिल कर्मकांडों में केवल एक निष्कर्ष की प्रेरणा देता है कि वैदिक नाटकीय कर्मकांडों का प्रेरणा-स्रोत आदिम जन ही है। अत: वैदिक साहित्य की पृष्ठभूमि में लोकनाट्यों की परंपरा का संकेत माना जाना चाहिये। यहां वेदों की पृष्ठभूमि में हमें संवाद-पाठ्य संवाद प्रधान नाट्य, संगीत प्रधान नाट्य और नृत्य—नाट्य तीनों का आभास मिलता है। फिर पतंजलि से शोभिक, चित्रकार और ग्रंथिक का पता भी चलता है। शोभनिक अभिनय द्वारा कंसवध और बालिवध प्रत्यक्ष दिखाते हैं। चित्रकार चित्र में कंसवध और बालिवध कराते हैं; तथा ग्रंथिक जो शब्दों के द्वारा (वाचिक अभिनय द्वारा) कंसवध और बालिवध का वर्णन करते हैं। इनमें हमें वर्तमान 'रामलीला' के प्राचीन बीज के दर्शन हो सकते हैं। 'बालिवध' का सम्बन्ध रामलीला से और कंसवध का सम्बन्ध 'कृष्णलीला' से (रास से नहीं) है। श्री रामनारायण अग्रवाल ने रामलीला शीर्षक लेख में लिखा है कि "अधिकांश

———————

१७. वही, पृ० १३
१८. वही, पृ० १४
१९. वही, पृ० १४

रामलीलाओं में मानस का पाठ तबले और हारमोनियम आदि साजों पर व्यासजी ही करते हैं और पात्र अभिनय की शैली में उनका अर्थ करते जाते हैं।" स्पष्ट है कि व्यासजी पुराने 'ग्रंथिक' हैं और 'पात्र' पुराने 'शोभनिक'। यही स्थिति कृष्णलीला की भी है। कृष्णलीला के समाजी 'ग्रंथिक' हैं और पात्र 'शोभनिक'।[20]

पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ में 'रासलीला के विदेशी दर्शक' शीर्षक निबंध में श्री नारविन हर्डन हेवन ने विदेशियों के जो विवरण दिये हैं उनके ये अंश द्रष्टव्य हैं :

---

२०. दक्षिण में कथाकली नृत्य में भी भायक और समाजी ग्रंथिक की भांति है और अभिनेता शोभनिक है।

Singers and musicians became separate parts of drama and Kathakali turned into a kind of dumb show, an amination set to an accompanying orchestra's descriptional words and music.

—The dance in India : by Faubious Bowers (1953), P 68.

मनीपुर की रासलीला में शौभनिक और ग्रंथिक मिलते हैं।

Vocal duets of the two women side singers which relieve the performers from continuous singing enable them to gesticulate more freely. These lead side singers generally sing the areas of Radha.

—The dance in India. P. 136.

ऐसे ही गायक कृष्ण के लिये होते हैं। यहां लेखक ने भूल की है। वह यह मानकर चला है कि दोनों की वार्ता मूल में अभिनेता करते थे। यथार्थ यह है कि मूल में पार्श्वगायिकाएं और गायक अभिनेताओं का वाचिक अभिनय करते थे बाद में अभिनेता स्वयं बात करते थे।

'टाड ने बताया है दौलतराव सिंधिया के दरबार में जन्माष्टमी के अवसर पर रासधारी मथुरा से आया करते थे।

'टामस डएट ब्रोटन' ने १८०९ के एक पत्र में उदयपुर की उत्तरी सीमा पर रूपहली नामक स्थान पर पड़े माधोजी सिंधिया के कैम्प में जन्माष्टमी के अवसर पर लिखा कि मथुरा से रासधारी आये थे। रास के लिए एक शामियाना लगवाया गया।

"जिस शामियाने में हमें बिठाया गया था वह १५० फीट लम्बा था। वह तीन भागों में विभाजित था। बांसों और बल्लियों पर रंगीन कागज चढ़ाकर एक बाड़ खड़ी कर दी गई थी जिन पर दीपक जल रहे थे। सामने दो फीट ऊंचा मंच था। इसके स्तंभ और शिविकाएं भली प्रकार चित्र–वेष्टित थीं। इसे सिंहासन कहते थे। इसके मध्य में फूलडोल था। फूलडोल में पुष्प, हीरक रत्न और बहुमूल्य मणियां सुसज्जित थीं। पुष्पगुच्छ, पुष्पमालाएं फूलडोल में विहंसते हुए बालगोविंद को ढकेल रही थीं। पंडितों, ब्राह्मणों का समुदाय अर्चना कर रहा था। कुछ व्यक्ति पंखा खींच रहे थे। शामियाने का मध्य भाग नर्तकों के लिए छोड़ दिया गया था। शेष दोनों ओर का स्थल दर्शकों से परिपूर्ण था।"

१८७४ का एक उल्लेख एफ. एस. ग्रूस द्वारा मथुरा में (गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद), दिया है :

"ब्राह्मणों का एक वर्ग जो मुख्यत:'कहाला'और 'पिसामे' के ग्रामों में निवास करता है और जिनका मुख्य कार्य रासलीलाओं का निरीक्षण है। रास अलिखित धार्मिक रूपक है जिसमें कृष्ण के जीवन की प्रमुख घटनाएं व्यक्त होती हैं। यह मध्यकालीन यूरोप के 'मिरेकिल–प्लेज' के समरूप है। सम्पूर्ण रास एक या उससे अधिक समय में समाप्त होता है। प्रत्येक दृश्य अपने मौलिक रूप में मौलिक स्थान पर प्रदर्शित होता है। जिस दृश्य को बड़े सौभाग्य से मैं देख सका विवाह का दृश्य था जो संकेत में व्यक्त किया गया था। रंगमंच के स्थान पर एक वाटिका थी। पृष्ठभूमि में एक लाल पत्थर का मंदिर था। ऊपर पूर्णिमा का चंद्रमा था। सामने से अनेकों दीप–रश्मियों का प्रकाश पात्रों के मुख पर बिखरकर एक अपूर्व दीप्ति फैला देता था। एक स्थान पर ग्रूस ने यह भी लिखा है कि रासलीला के अभिनेता मूक अभिनय करते थे और मंडली का स्वामी कथनोपकथन की पूर्ति करता था।" (प्रो. अ. मुं. पृ. ७१३-७१६)। यहां अभिनेता

शोभनिक है। मंडली का स्वामी ग्रंथिक है। इसमें पतंजलि के समय से आज तक की परंपरा मिल जाती है।

डा० श्याम परमार ने 'रासलीला' शीर्षक निबन्ध में 'साहित्यकोश' में दी गयी टिप्पणी के आधार पर 'रासलीला' का जो विधान दिया है वह पारसी स्टेज से प्रभावित मंचवाली नाटक मंडलियों का सा है।

परम्परागत 'रास' में नेपथ्य का पर्दा नहीं रहता। दर्शकों से घिरा खुला मंच रहता है।[21] एक तख्त पर कृष्ण-राधिका के लिए आसन रहते हैं। आरती से पूर्व एक चादर का पर्दा उनके आगे कर दिया जाता है।[22] आरती के उपरांत राधा-कृष्ण और गोपियों का रास नृत्य अवश्य होता है। रास-नृत्य के बाद ही विशेष लीला की जाती है। कृष्ण-राधा के सिंहासन के सामने कुछ स्थान नृत्य और नाट्य के लिए खाली छोड़ दिया जाता है। दर्शक चारों ओर से घेरकर उस स्थान पर बैठते हैं। एक कोने में दर्शकों से आगे समाजी बैठते

---

21. The stage on the same level as the audience is quite bare except for a small square plateform on which there are two seats in Radha & Krishna.

—The dance in India. P. 165.

22. इस परदे का विधान कथाकली में भी मिलता है— Behind it, there is a simply patterned rectangular silk curtain (thesissila) held by two men dressed like ordinary chaprasa. During scenes the curtain is dropped to the floor and removed the men who held it sit about their coller jobs of the evenig.

—Thc dance in India. P. 66.

ब्रज की रासलीला के सम्बन्ध में भी यही बात बताई गई है—
The only curtain used is held up by two men when a special dramatic offect is required such as before the Jhankis or etc.

—Indian dance, by Rina Singh Reginald Massey (1967), P. 165.

हैं। लीला के अभिनेताओं के साथ पदगायन में सामाजिकों में बैठे गायक भी गाते हैं। संवाद लिखित नहीं होते। वहीं यथावसर उद्भावित होते हैं। अतः पर्दे के पीछे किसी निर्देशक की आवश्यकता नहीं रहती। निर्देशक तो जनता दर्शकों के पास ही बैठता है।

इन रासलीलाओंमें भी वस्तुतः सामाजिक गायक 'ग्रंथिक' माने जायेंगे, वे नाट्य-नृत्य नहीं करते। अभिनेता या नर्तक पात्र 'शोभनिक' है, जो बहुधा अर्द्धमूक अभिनय करते हैं।

अतः महाभाष्य में 'शोभनिक' तथा 'ग्रंथिक' दोनों किन्हीं-किन्हीं रासकों और हल्लीशक में महाभाष्य काल में रहे होंगे और इनमें कंस-वध तथा बालि-वध दिखाये जाते होंगे।

लोकरंग की यह एक परम्परा है जिसमें यह आभास स्पष्ट मिलता है कि लोक-नृत्य में से ही लोकनाट्य का जन्म उस समय हुआ होगा जब गायकों का पृथक दल वादकों के पास पीठस्थ होकर रास गान करते होंगे और विविध उद्दाम भावपूर्ण स्थलों पर नर्तकों मे से कोई या कुछ भावानुकूल नाट्य मुद्राएं भी कर उठते होंगे। रासक, नाटच-रासक, साटक, हल्लीशक आदि ऐसे ही रूपक-उपरूपक हैं।

'पतंजलि' ने इसी प्रसंग में ग्रंथिकों के सम्बन्ध में एक और बात कही है: आतश्च सतो व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते : केचित् कंसभक्ता भवन्ति, केचिद्वासु-देवभक्ताः। वर्णान्यित्वं खल्वपि पुष्यन्ति : केचित् कालमुखा भवन्ति, केचित् रक्तमुखाः। ३। १। २. तो कभी--कभी ग्रंथिक लोग दो दलों में विभाजित हो जाते थे: कुछ कंस-भक्त बनते और काला मुख कर लेते। कुछ कृष्ण-भक्त बनते और अपना मुख लाल रंग लेते थे। ग्रंथिकों अर्थात् वाचिक अभिनेता या कथक दो दलों में बंट जाते थे। इस अंश का अर्थ पूरी तरह स्पष्ट नहीं है, तभी कुछ ने कुछ और कुछ ने कुछ अर्थ लगाया है। ग्रंथिकों में से कुछ कालमुख-कालामुख कर लेते थे। कुछ रक्तमुख-लालमुख करते थे।[23] वे ऐसा मुँह रंग का करते

---

२३. लोकाभिनयों में मुख रंगने के उदाहरण आज भी मिलते हैं। कथाकली नृत्य में नायक पच (Pacha) कहलाते हैं अर्थात् हरे मुख वाले। उनका वेष (makeup) हरे रंग का होता है। राक्षसों के मुख पर हरे पोत पर लाल अग्निशिखा जैसे टिपके और मुखाकृति के चारों ओर काली रेखायें बनाई जाती हैं। कुछ के मुख लाल पुते होते हैं और उन पर काली रेखायें खींची रहती हैं। अच्छे चरित्र जो अलौकिक शक्ति सम्पन्न होते हैं उनके मुख सफेद रंगे रहते हैं जिन

थे। रंग से रंगे काले और लाल मुख वाले वर्ग को लेकर कई विवाद खड़े किये गये हैं; उनसे कई अर्थ निकाले गये हैं। कुछ भी अर्थ क्यों न किया जाय, इस वर्ण या रंग से मुख रंगने की बात ऐसे सवादों और नाट्यों का संबंध लोक-तात्त्विक स्थिति से निर्विवाद बैठता है। 'लोकमंच' की परम्परा का संकेत इसमें है।

यह स्पष्ट है कि लोकमंच और लोकनाट्य का क्षेत्र ही मौलिक था। वहीं मनीषियों ने उसे लेकर उसे साहित्यिक रूप दिया और शास्त्र में बांधा।

यहां तक कि नाटक का उदय धार्मिक अनुष्ठान से हुआ, लोकनाट्य और मंच की लोक–तात्त्विक स्थिति के लिए अर्थहीन है। बात यह है कि विचारकों ने भ्रम में पड़कर ऐसी बातें कही हैं। अनुष्ठान या कर्मकांड और 'धर्म' एक बात नहीं। अनुष्ठान और कर्मकाण्ड में मनुष्य के अपने Fullfillment स्वरूप की संप्राप्ति और उपलब्धि के लिए किये गये सार्थक और निरर्थक सभी प्रयत्न आते हैं। धर्म उनमें एक विशेष चेतना से नया अर्थ देता है और तदनुकूल उन्हें संशोधित भी करता है। बालक अनेकों कर्म और अनुष्ठान करता है। अपने आपको अभिव्यक्त करने के लिए और अपनी अस्मिता को प्राप्त करने केलिए इन कर्मों और अनुष्ठानों में अनुकृति तो रहती है पर धार्मिक चेतना नहीं रहती।

---

२३. पर नारंगी और काली रेखायें रहती हैं। धूर्त और ठग काले मुख के होते हैं जिन पर लाल धारियां पड़ी होती है। आदि में— The dance In India by faubion Bowers (1953). इसी प्रकार राजस्थान के भीलों के गवरी नृत्य में भी रंगों का उपयोग किया जाता है। डॉ. महेन्द्र भानावत ने अपने निवन्ध में हमें वताया है कि या तो ये मुख गहरे रंगों से रंग दिये जाते हैं या फिर इन पर मुखौटे लगा दिये जाते हैं।........ राक्षस तथा दैत्य-दानवों के लिये गहरा नीला, चोरों के लिये काला, देव–देवियों के लिये लाल तथा जोगी-साधुओं के लिये पीला रग काम में लाया जाता है। ये सारे कलात्मक अंकन रूढ़िगत होते हैं। (पृ० १३३) फौविअन वोवर्स ने इन रंगों का सामान्यत: यह अर्थ वताया है—

In general green means godliness, white means spirituality, red means ambition and violence black means evil and yellow means passivity. (पृ ७५) निश्चय ही यह कथाकली सम्बन्ध में वताया गया है।

लोकनट्यों के मूल में भी इसी प्रकार से मानव के वे प्रयत्न, कर्म या अनुष्ठान हैं जिनसे वह अपनी सत्ता, अस्तित्व अपनी अस्मिता को प्राप्त करना चाहता रहा है। उसके ये प्रयत्न और अनुष्ठान उसके उस जीवन में से फूटे जिसमें उसका प्रकृति से उसके प्रत्येक व्यापार से तादात्म्य था। मानव-चेतना के विकास में उसे भेदक चेतना मिली तो उसके साथ अनजाने ही उन समस्त क्रियाओं और कर्मों में शेष विश्व के साथ विविध सम्वन्धों में ऐसा घनिष्ठ तारतम्य प्रतीत हुआ कि स्मरण मात्र से किसी को भी वह प्राप्त कर सकता है। भय और रति के भाव अब उभरने लगे थे और भय से रक्षा तथा रति से विस्तार की चाह उसमें होने लगी थी। यही अनुकृति कार्य आगे अनुष्ठान होगये और जब प्रकृति को देवत्व प्रदान की स्थिति से आगे उस देवत्व के बीजों से पुराण गाथा (Mythology) ने जन्म ग्रहण किया तब धर्म जिसे religion कहते हैं, ने जन्म लिया। अतः अनुष्ठान जीवनगत कर्मकांड का वह पक्ष है जिसमें मनुष्य की आदिम आस्था आज भी उसे यह मानने के लिए विवश करती है कि उसके करने से उसको आत्मोपलब्धि यानी उसके जीवन के अस्तित्व के आवश्यक पदार्थ या तत्त्व उसे मिल सकेंगे और अवांछनीय का निवारण हो सकेगा। यह आनुष्ठानिक तत्त्व मनुष्य की समस्त अभिव्यक्तियों में मिलता है।

नाट्यशास्त्र से विदित होता है कि नाटक का कृतित्व धार्मिकता से सम्बद्ध नहीं था। क्योंकि प्रथम नाटक किसी धार्मिक अभिप्राय से नहीं लिया गया वह केवल एक मेले के अवसर पर खेला गया। मेला था 'इन्द्रध्वज' का। प्रथम नाटक देवासुरसंग्राम विषयक था। देवताओं के लिए देव-असुर संग्राम उनके युग की एक घटना मात्र थी, उसमें धार्मिकता का कोई तत्त्व नहीं था। मानवों के लिए उसमें 'धर्म' की भावना मानी जा सकती है, देवताओं में धार्मिक अर्थ के कारण। इन्द्रध्वज का मेला भी देवताओं के लिए मात्र विजयोत्सव था जिसमें वीर-पूजा (Hero-worship) के तत्त्व तो हैं, पर वीरपूजागत धर्म भावना नहीं (देवताओं के स्तर पर)। 'पूर्वरंग' आदि में जो अनुष्ठान-तत्त्व हैं, प्रथम नाटक में वह कुछ भी नहीं था। जर्जर पूजन भी बाद की बात है।

वास्तविक बात यह प्रतीत होती है कि वैदिक अनुष्ठानों का मूल भी लौकिक अनुष्ठानों में ही था। वे अनुष्ठान भी वहां से लेकर उन्हें एक सांस्कृतिक और आभिजात्य स्तर वैदिक ऋषियों ने प्रदान किया तथा उनका विशदीकरण किया।

अतः लोकनाटकों की परम्परा तब से आज तक चलती चली आयी है। लौकिक अनुष्ठानिक तत्त्व आज भी प्रायः प्रत्येक लोकनायक के साथ लगे हुए मिलते हैं। फ्रेजर ने लिखा है कि Yet if we could trace the drama of the civilised nations back to its origin, we might find that it had its, roots in magical or religious ideas like these itts roots in which still mould and direct themasked dances of many sewages [24].

टोने से भी पूर्व की स्थिति अनुष्ठान (ritual) सम्बन्धी होती है। अनुष्ठान वे अनुकृत क्रियाएँ और आचरण हैं जिन्हें करने से ही यह भावना पूरी होती है कि हमने अवसर और अपने रूपगत कर्म को सम्पन्न कर लिया है और शेष प्रकृत सृष्टि के साथ तादात्म्यपूर्वक यथार्थ उपलब्धि प्राप्त कर ली है। अतः फ्रेजर ने जब टोने और धर्म का उल्लेख किया तो वह एक सीढ़ी नीचे ही रह गया। नाटक का मूल इस आनुष्ठानिक प्रक्रिया में है, जो प्रकृत अनुकृति होती है। और यथार्थ में तो अनुकृति के भाव से नहीं वरन् प्रकृति की सम्पूर्ण गति में सहभागी उसी के एक अवयव की भाँति होती हुई कुछ उद्भावित भेदक चेतना में अनुकृति लगने लगती है। बाद में इस अनुकृति में उसे टोने का आभास होने लगता है। फ्रेजर ने एक स्थान पर लिखा है—

"for it is familiar benet of magic that you can produce any desired effect by merely inutating lt, and as they now explained the fluctuations of growth and decays of reproductions and dissolution by the marriage, the death, and the rebirth of revival of the gods, their religious or rather magical dramas turned in great measures on these themes."[25]

प्रश्न यह है कि ऐसे कृत्यों में टोने की भावना कब और किसने प्रकट

---

24. "The golden bough VI The Scapagoat, by J. G. Frazer. P. 384.

25 Frazer the golden bough part IV adonis attis, osiris Vol. I Page 4.

की ? क्या 'मैजिकल ड्रामाज' के अभिनेता को ऐसा कुछ ज्ञान था ? नहीं तो, फ्रेजर महोदय कुछ आगे ही कहते हैं कि अभिनेता का काम तो अभिनय करना ही है बस, His affair is to act, not to analyse the motives of his actions.[26] ठीक यही स्थिति आनुष्ठानिक अनुकृति (ritualistics) की ही तो होती है। इसमें कहां 'मैजिक' है और कहां 'रिलिजन' है ? टोने के तत्व की संज्ञा तो व्याख्याता के पास ही है। धार्मिक भावना अवश्य अभिनेता में हो सकती है किन्तु वह मात्र अनुष्ठानों में नहीं, केवल तभी आती है जब मनुष्य धार्मिक भावनाग्रस्त सभ्यता के विकास के परिणामस्वरूप प्राप्त कर लेता है और यह वर्ग शीघ्र ही अलग छंट जाता है। लोक की आनुष्ठानिक वृत्ति स्वतन्त्र भाव से चलती रहती है।

निष्कर्ष यह है कि मानव के विकास में कृत्यों और गतियों की आनुष्ठानिक प्रकृति पहले आयी और यह टोने तथा धर्म से अधिक आदिम (प्रिमिटिव) है। फलतः सभ्यता के विकास के साथ टोने और धर्म के भाव जुड़ जाने और उनमें से कुछ के परिमार्जित हो आभिजात्य हो जाने पर भी लोकधारा प्रवाहित रही और आनुष्ठानिक प्रकृति भी साथ लगी चली आयी। यही कारण है कि आज भी प्रत्येक मंच स्थापना या नाट्यारम्भ से पूर्व कुछ अनुष्ठान किये जाते हैं। रामलीला और रासलीला में मुकुटपूजा और आरती ऐसे ही आनुष्ठानिक कृत्य हैं। मालवा में माच के लिए खंभ-स्थापना शुभ मुहूर्त में की जाती है। लालचोल, हरा धनिया, गुड़ और आम्रपल्लव आदि पूजन सामग्री के साथ होती है तथा पूर्वरंग जैसे अन्य कृत्य और देवी-देवताओं की स्तुतियाँ इसी वर्ग की हैं। खयाल में तुर्रावाले शिव और कलंगीवाले शक्ति के पक्ष के हिन्दू संत और मुसलमान फकीर तुकनगिरि तथा शाहअली की शिष्यपरम्परा के गेय विवादों का परिणाम है। प्रश्नोत्तर और कूटप्रश्न का समावेश अनुष्ठान की भूमि पर खड़े है। गवरी नाट्यनृत्य तो भीलों का ही है। अतः आनुष्ठानिकता से भरा हुआ है। डा० महेन्द्र भानावत ने गवरी का उद्देश्य इन शब्दों में बताया है- 'गवरी धारण करने के पीछे मात्र मनोरंजन का उद्देश्य ही नहीं रहा है और न आजीविका-उपार्जन की भावना ही दृष्टिगोचर होती है। इसका मुख्य उद्देश्य अपने धार्मिक कर्तव्य की संपूर्ति तथा बाबा भैरवनाथ (शिव)

---

२६. वही, पृ० ४.

को रिझाकर गांव की खुशहाली, जाति की सुरक्षा एवं रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य तथा दुर्भिक्ष से छुटकारा पाने का रहा है।" इसमें एक संशोधन अपेक्षित है। धार्मिक कर्तव्य की भावना यहीं नहीं मानी जा सकती। वस्तुतः ये समस्त क्रियाएं अनुष्ठान रूप हैं और परम्परा से अनुकृत हैं। इसमें अपने और समूह के अस्तित्व का आनुष्ठानिक भाग अन्तर्निहित है। आनुष्ठानिकता मूल में टोने रहित होती है, बाद में उसमें टोना प्रतीत होने लगता है। साथ ही उसे धार्मिक आवरण से आवृत कर दिया जाता है अथवा अनुष्ठान को ही टोने के रूप में धार्मिक व्याख्यापूर्वक प्रस्तुत कर दिया जाता है। अनुष्ठानों का मिलना प्रत्येक लोकरंग में स्वाभाविक है।

यहां तक यह प्रतिपादित किया गया है कि लोकनाट्य नृत्त-नृत्य से आदिम काल में विकासित हुआ और ऐतिहासिक विकास में इस लोकनाट्य की प्राकृत धारा प्राकृत-भाषा की तरह प्रवाहित रही और मनीषियों ने इनको या इनमें से उपयोगी तत्वों को लेकर उन्हें परिमार्जित कर विशेष अभिप्राय से संयुक्त कर एक विशिष्ट स्तर प्रदान किया और उसे आभिजात्य बना दिया। यह अभिजातीकरण तत्वतः नाट्यशास्त्र में भी सूचित है, जिसकी ओर संकेत किया जा चुका है।

नाट्यशास्त्र में एक स्थल पर उल्लेख है कि—

धर्मी या द्विविधा प्रोक्ता मया पूर्वं द्विजोत्तमाः।
लौकिको नाट्यधर्मी च तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥७०॥
स्वभाव भावोगत शुद्धं तु विकृतं तथा।
लोकवार्ता क्रियोपेतमंजलीलादिवर्जितम् ॥७१॥
स्वभावाभिनयोनेतं नाना स्त्रीपुरुषाश्रयम्।
यदीदृग भवेन्नाट्य लोकधर्मी तु स्मृता ॥७२॥

यहां स्वयं नाट्यशास्त्र में द्विधर्मी नाट्यों की विद्यमानता स्वीकार की है। एक लोकधर्मी नाट्य दूसरा नाट्यधर्मी। इन श्लोकों में से पहले से मिलता हुआ एक श्लोक श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—

लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविधः स्मृतः।
भारती सात्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा॥

इस पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं कि कुछ विद्वानों के अनुसार लोकधर्मी से भरत का संकेत ऐसे नाट्य की ओर है, जो जनसाधारण अर्थात् लोक का मनोरंजन करे और उनके जीवन को प्रतिबिम्बित करे, तथा नाट्यधर्मी से ऐसे नाटकों का तात्पर्य है, जो शास्त्रसम्मत नाट्य सम्बन्धी विधान के अनुकूल हों।

यद्यपि श्री माथुर का आगे का यह कथन सही है कि तीन श्लोकों में आये 'लोकवृत्तानुकरण', 'लोकोपदेशजनन', 'लोकस्य सर्वकर्मानुदेशकम्'; शब्द समूचे नाट्य को ही लोक की वृत्ति का अनुकरण लोकनिमित्त लोकप्रेरित सिद्ध करते हैं किन्तु यह बात भी दृष्टि में रखने की है कि यह लोकदृष्टि मूलाधार विषयक है। पर नाट्यशास्त्र जब शास्त्र की दृष्टि से नाट्य पर विचार करेगा तो वह किसी भी नाटक में नाट्य के अभिनय–पक्ष की सूक्ष्मताओं पर दृष्टि रख कर यह विधान कर सकता है कि जिसमें सीधा–सादा सपाट नाट्य हो पात्रों या अभिनेताओं की अभिव्यक्ति में वह लोकधर्मी नाट्य है। शास्त्रीय दृष्टि से लोकधर्मी नाट्य की परम्परा प्राकृत धारा की भांति प्रवाहित रहती है और आज तक चली आयी है। यहीं से नाट्य तत्वों को लेकर नाट्यधर्मी नाटककार नाट्य की कला से संयुक्त कर उसे विशिष्ट वर्गीय बना देता है। फिर भी उसमें लोकतत्व रह जाते हैं, इन्हीं के कारण श्री माथुर को यह कहना पड़ा है कि 'लगभग इन सभी शैलियों में किसी-न-किसी प्रकार आर्य संस्कृति के साथ आर्येतर द्रविड़ और आदिम जातियों की संस्कृति को जानबूझ कर शामिल किया गया है।' वस्तुतः बात उलटी है। लोकक्षेत्र (जिसे आर्येतर कहा गया है) के नाट्य को लेकर उसे आभिजात्य संस्कार (जिसे आर्य संस्कृति कहा गया है) से मंडित किया गया है। लोकनाट्य तो आधार–भूमि है। लोकनाट्य और नाट्यशास्त्र में भेद को मानकर ही नाट्यशास्त्र लोकनाट्य की आधार भूमि पर खड़ा हुआ है। नाट्यशास्त्रीय नाट्य का स्वरूप नाट्य के विशेष मंच के वैशिष्ट्य के साथ खड़ा हुआ है, उधर लोकमंच का समस्त स्वरूप वैशिष्ट्य रहित स्थल-मात्र होता है। कुटकड़िया रांगलो, रंगा जैसे पात्र की नाट्यगत अनिवार्यता लोकधर्मी नाट्यों में होती है। इससे उसकी प्रकृति कुछ और हो जाती है।

इस विवेचन से लोकरंग और लोकनाट्य की धारा स्वतंत्र रूपेण प्रवाहित रही। भरत ने भी वहीं से सामग्री लेकर नाटक प्रस्तुत किये और १० वीं ११ वीं शताब्दी से भी जो भाषा–संगीतकों का रूप मिलता है उसकी आधारभूमि

लोकरंग ही है। श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने कुलशेखरवर्मन को भाषा-संगीतकों के प्रथम उत्थान के प्रथम चरण का प्रथम कर्त्ता या प्रवर्त्तक माना है। उनकी नयी परिपाटी के संबंध में उनके ये शब्द द्रष्टव्य हैं : "ऐसा जान पड़ता है कि कुलशेखरवर्मन ने लोकप्रचलित पुराट्टु इत्यादि से विदूषक की शैली" ग्रहण की। फिर स्पष्ट किया है कि.........."कुलशेखर वर्मन ने लोकनाट्य के चाक्यार और विदूषक का मिश्रण किया"। किन्तु यथार्थतः इस संगीतक में केवल विदूषक की शैली ही नहीं ली गयी, समस्त नाट्य विधान ही लोक-धर्मी था। उसे संस्कृत (संस्कार करके परिमार्जित) किया गया। श्री माथुर ने बताया है कि—

१. "क्षेत्रीय भाषाओं के नागरिक साहित्य की अपेक्षा परम्पराशील नाट्य के आंचलिक साहित्य में अखिल भारतीय स्वरूप के पुट कहीं अधिक दृष्टिगत होते हैं।"[27]

२. यह नाट्य-साहित्य, ताल, नृत्य और गान के परिवेश में पलता है और क्षेत्रीय भाषाओं की सीमाएँ इस परिवेश को संकुचित नहीं कर पातीं।[28]

नृत्त के साथ नृत्य, नृत्य के साथ एक ओर नाट्य दूसरी ओर गीत लोक के आदिम छोर में विकसित होते हैं। उन्हीं के मूल सूत्र काल और देश भेद से मूल तत्वों को आघात पहुंचाये बिना, सामग्री में परिवर्तन स्वीकार करते रहते हैं। यही कारण है कि परम्पराशील नाट्यों में अखिल भारतीय स्वरूप अधिक मिलता है।

परंपराशील नाटकों में श्री माथुर ने 'संगीतक' को ही लिया है—वह भी भाषा–संगीतक को। भाषा–संगीतक के प्रवर्त्तक दसवीं शताब्दी में केरल के राजा कुलशेखर वर्मन को इन्होंने माना है। यह प्रथम चरण इन्हों ने सन् १००० से १५०० ई. तक माना है। इसकी तीन विशेषताएँ उन्होंने बतायीं—

१. राजमहल का वातावरण, क्योंकि ये नाट्य केरल, आन्ध्र-कर्नाटक, मिथिला-नेपाल और उत्कल के राजाओं के आश्रय में राजा के ही प्रयत्न से बने और खेले गये।

२. जयदेव के प्रभाव से नृत्य संगीत का आकर्षक समावेश और

३. संस्कृत प्राकृत मूल के बीच भाषा–गीतों का आरोपण।

———

२७. परम्पराशील नाट्य, श्री जगदीशचन्द्र माथुर, पृ० १३४.
२८. वही, पृ० १३४.

इन्होंने दूसरा चरण सन् १५०० ई. से १६५० ई. तक माना है। इसमें इस नाट्य को वैष्णव संतों ने विशेष अपनाया।

तृतीय चरण सन् १६५० से १८०० ई०। इसमें क्षेत्रीय रूप विकसित हुआ।

वस्तुत: श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने तीन चरण संगीतक के माने हैं। और संगीतक के संबंध में जब यह प्रश्न उठता है कि क्या ये लोकनाट्य हैं अर्थात् लोकसाहित्य की वस्तु हैं। श्रीजगदीशचन्द्र माथुर की तो मान्यता है कि "जो आंचलिक नाट्यविधाएं भारतवर्ष में आज दिन प्रचलित हैं, उन्हें 'लोकनाट्य' का नाम देना सही नहीं है। उनका साहित्य और उनकी प्रस्तुतीकरण–पद्धतियाँ लोककला की अपेक्षा कहीं अधिक परिमार्जित और अलंकृत हैं। रंगमंच और नाटक के अन्य रूपों से इनका पार्थक्य इनके परम्परानुगामी (ट्रेडिशनल) होने में है। अतः मैंने इन्हें 'परम्पराशील नाट्य' मानकर इनका अध्ययन किया है।" (प्रस्तावना)

स्पष्ट है कि लोकनाट्य से भिन्न हैं 'परम्पराशील नाट्य'। भिन्नता का कारण है इनका अधिक परिमार्जित और अलंकृत होना। श्री माथुर तत्वदर्शी हैं तभी उन्होंने संगीतकों को लोकनाट्यों से पृथक वर्ग में रखा है और उन्हें परम्पराशील नाट्यों का नाम दिया। पर समस्त विवरण से यह प्रकट होता है कि संगीतक के सभी मूल–तत्व लोकनाट्य के हैं, बस विशिष्ट वर्ग ने इतिहास के १० वीं शती से आरम्भ होने वाले मध्ययुग में इन लोकनाट्यों में विशिष्ट कला–तत्वों को जड़ कर दो रुचियों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। इसमें धुरी लोकनाट्य की ही है। इसमें अलिखित और लिखित दोनों प्रकार के नाट्यों का समावेश हो जाता है। तभी हाथरस के नत्थाराम की 'संगीत नौटंकी' का उदाहरण और व्रज की रासलीला के उदाहरण रूप में चाचा श्री हितवृन्दावनदासजी की स्वप्नलीला का उल्लेख किया गया है। १८८४-८५ में संकलनकर्त्ता टेम्पल ने Legends of the Punjab में किसी वंसीलाल के रचे कुछ स्वांग दिये थे। भूमिका में इन समस्त संकलित साहित्य को लोकसाहित्यके अन्तर्गत ही उन्होंने लिया था। वंसीलाल के स्वांग भी नत्थाराम के स्वांगों की तरह 'सांगीत' या संगीतक ही हैं। उदाहरणार्थ–

सिव के सुत गज बदन हैं, चरन निवाऊँ सीस।
पैर पदम गौरापती, किरपा करो जगदीस॥
किरपा करो जगदीस! मात मेरी करो कण्ठ में वासा।

छन्द ग्यान सुर करो आनके देखें लोग तमाशा ॥
गोपीचन्द के सांग कहन की दिल को लग रही आसा ।
रहते शहर उज्जैन राउ नित करते भोग विलासा ॥
गौड बंगाला, देस जिन्हौं का त्याग दिया विसवासा ।
कहते बंसीलाल "मात मेरी, पूरन कीजै आसा ॥"

मुक्ताल

मात शाकम्भरी माई
आन के करो सहाई,
मैं मूरख अग्यान,
बुध दीजे महा माई ।

गोपीचन्द महिलों चले, धर गनपत का ध्यान ।
आ उतरे रनवास में करन लगे अशनान ॥
करन लगे अशनान राउ ने, चन्दन चौक विछाई ।
चमकत वदन कनक जैसा, और मुख चंदर की नियांई ॥
निकसा भान गगन में सूरिज की इक जोत छिप छाई ।
हैं मृगनयन, कण्ठ कोइल, मुख ना उपमा कही जाई ॥
मोरी बैठी, नैन निहारी मैनावन्ती माई ।
टप-टप आंसू पड़े धरन पर थमती नहीं थमाई ॥

यह भी संगीतक है जो परम्पराशील नाट्य के अन्दर आयेगा क्योंकि टेम्पल महोदय के अनुसार यह अम्बाला जिले के जगाधारी गांव में खेला जाता था । इस स्वांग या संगीतक को लोकवार्त्ता की दृष्टि से अवदानों या Legends में सम्मिलित टेम्पल महोदय ने किया है । इस प्रकार हमें तो संगीतक के परम्पराशील सभी रूप लोकवार्त्ता क्षेत्र के ही प्रतीत होते हैं । अतः लोकनाटच के अन्तर्गत वे सभी लोकरंग आते हैं जो नृत्त और नृत्य प्रधान होते हैं और जिनमें नाट्यांश भी विकासावस्था में जोड़ा गया मिलता है । ब्रज का रास जो मूलतः रास नृत्य था और आज भी आरम्भ में इसका नृत्य भाग सबसे पहले अनिवार्यतः प्रस्तुत किया जाता है, कोई विशेष लीला उसके बाद ही की जाती है जिससे वह रासलीला कहा जाता है । इसी प्रकार असम का अंकिया नाट है । इसमें मुख्य अभिनय या लीला से पूर्व पूर्वरंग में 'नववेमाली' में वायनों या वाद्यकारों का चक्राकार नृत्य आवश्यक माना गया है । यही नहीं, श्रीकृष्ण, रुक्मिणी आदि प्रमुख पात्र नृत्य

करते हुए ही 'अग्निघर' में से आड़ कापड़ को हटाकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं। 'गवरी' भी मूलतः नृत्त–नृत्य था। डॉ. महेन्द्र भानावत ने बताया है कि–

"गवरी के मूल में नृत्य की प्रधानता रही है। नृत्य की यह प्रधानता आज भी इसमें देखी जाती है। इसी प्रधानता के कारण गवरी नाट्य को 'गवरी का नाच' भी कहा जाता है। जब यह नृत्य अपने विकास की मंजिल को पहुंच गया तब इसमें नाना स्वांग–स्वरूपों की रचना आरम्भ हुई।[29]

'चविट्टुनाटकम', का जो विवरण[30] दिया गया है उससे यह प्रकट होता है कि नृत्य को प्रत्येक पात्र में रमा दिया गया है। पात्रों का रंगमंच पर अभिनय पैरों की ताल से युक्त रहता है। यों मूलनाटक के आरम्भ से पूर्व लड़कियों का एक दल आकर नृत्य भी करता है। यह ईसाई नाट्य है। भवाई शब्द ही बताता है कि वह नृत्य ही है। निश्चय इसमें भी बाद में ही कथानकबद्ध नाट्य समाविष्ट हुआ होगा।

दूसरे वे लोकनाट्य हैं जो उस संगीतक परम्परा में रखे जा सकते हैं जिन्हें 'लीला विवर्जित' होने के कारण लोकधर्मी गेय नाटकों में रखा जा सकता है।

ये आदिम नृत्त-नृत्य से नाट्य मुक्त होकर गेयत्व और नाट्य की प्रधानता को ही अंगीकृत कर चलते रहे। इन्हें लोक-कवियों ने अपनाया और अपनी नाट्य–प्रतिभा का प्रयोग किया। नृत्य की प्रधानता न रही, गीत-संगीत की प्रधानता हो गयी। इसी से ये संगीतक कहलाये। पर मूल भूमि में लोकनाट्य के तत्त्व विद्यमान रहे। स्वांग, नौटंकी, सांगीत, भगत इसी वर्ग के लोकनाट्य हैं। इनमें संगीत पक्ष इतना प्रबल हो जाता है कि पात्रों को अभिनय–मुद्राओं के प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं रहती। लगता है कि विविध पात्रों के संगीतमय संवादों के माध्यम से संगीतमय कथा कही जा रही है। इसलिये कुछ लोग इसे कलंगी-तुर्रे की खयाल या लावनी के अखाड़े का विकास ही मानते हैं। यह संगीतक मूल लोकनाट्य का संगीत या गेयत्व की दृष्टि से संशोधित रूप है।

भारत में जितने भी लोकनाट्यों को अभीतक उभार कर अध्ययन का विषय बनाया गया है वे सभी मूलतः आनुष्ठानिक तत्त्वों से युक्त हो कर किसी न किसी प्रकार की धार्मिकता से भी युक्त मिलते हैं। लेकिन इस

---

२९. लोकरंग, पृ० ११६–११७
३०. वही, पृ० १३६–१४५
३१. नौटंकी और स्वांग व्यावसायिक होने के कारण अपवाद है।
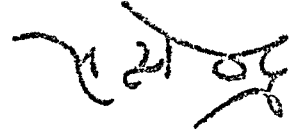
धार्मिकता में सकुचित भावना नहीं है। उसके साथ केवल आस्तिकता मूलक श्रद्धाभिवंदन।

लोकनाट्य लोकमनोरंजन का ही साधन नहीं है, यह लोकगत अर्जितानुभूतियों में से मानव के मूल अध्यात्म की अभिव्यक्ति का माध्यम भी है, जिसके द्वारा वह मूल अध्यात्म मानव के अति-प्रकृत अस्तित्व की हूक और कूक प्रकट होती है। यह अभिव्यक्ति अभिनेताओं को ही नहीं दर्शकों को भी उसके भागीदार बना लेती है। लोकनाट्य मात्र नाट्य नहीं है। यह समग्रतः अनुष्ठान है, जिसमें अनुष्ठान जैसे लगने वाले कर्म तो औपचारिक होते हैं। यह नाट्य समग्रतः अनुष्ठान रूप में तादात्म्य और आत्मावेश को सिद्ध करता है।

आज इन लोकनाट्यों की उपयोगिता को क्षेत्रीय सीमाओं से आगे ले जाने के प्रयत्न अपेक्षित हैं। अभी तक तो हिन्दी जगत भारत के इन समृद्ध सभी लोकनाट्यों के नामों तक से सम्भवतः परिचित नहीं है। श्री जगदीशचन्द्र माथुर की पुस्तक 'परम्पराशील नाट्य' संगीतक का अच्छा परिचय देती है। पर कितने ही लोकनाट्य उसमें नहीं आ सके हैं, कुछ के संकेत ही हैं। अतः यह महती आवश्यकता थी कि एक ग्रंथ ऐसा हो जिसमें अधिकाधिक लोकनाट्यों का परिचय दिया गया हो। डा० महेन्द्र भानावत द्वारा संपादित 'लोकरंग' ऐसा ही ग्रन्थ है। डा० महेन्द्र भानावत 'गवरी' के प्रामाणिक विद्वान हैं। 'गवरी' पर उन्होंने महत्वपूर्ण शोध-प्रबंध लिखा है। लोकनाट्य के पुनर्स्थापक लोककला मंडल के कार्यकर्त्ता होने के कारण उन्हें लोकनाट्य का अधिकारी पुरुष माना जा सकता है। लोकरंग में उन्होंने विविध लोकरंग-ज्ञाताओं के प्रामाणिक निबंध संकलित किये हैं। इससे अखिल भारत के लोकरंगों का ज्ञान ही हमें नहीं होता, भारत के मौलिक ऐक्य का भी पता चलता है। नये मंच के लिए कितनी ही नयी संभावनाएँ इनमें से मिल सकती हैं।

लोककला मंडल उदयपुर के संस्थापक श्री देवीलाल सामर ने कठपुतली की मृतप्राय रंगविधा को पुनरुज्जीवित ही नहीं किया, उसे एक सशक्त कला-साधन बना दिया है। उसमें नये नये प्रयोगों से उसे एक उच्च आसन भी प्रदान किया है तथा कठपुतलियों में से अनेकों अभिनंदनीय संभावनाओं की क्षमताएँ सिद्ध की हैं। आज इस 'लोकरंग' नामक ग्रन्थ में लोककला मंडल के ही कार्यकर्त्ता डा० भानावत ने भारत के विविध लोकरंगों की

जानकारी देकर वह भूमि तय्यार कर दी है कि इन लोकरंगों में जो संभावनाएँ हैं नाट्यकर्मी प्रतिभाएँ उनका पता चलाएँ और विविध लोकरंगों को नये अर्थ और नयी व्याख्या के साथ रंगगत नयी शक्ति से अभिव्यक्त करने की दिशा में प्रवृत्त हों। रंग–व्यवसायियों के लिए भी इसमें बहुत सामग्री है। पर रंग–सेवी अपनी प्रतिभा से इन लोकरंगों की संभावनाओं को उद्रेकित करके नवोन्मेष से युक्त कर आंचलिक प्रयोक्ताओं में नयी आस्था और नये प्राण फूंक सकते हैं और इसकी आज अत्यन्त आवश्यकता है, यह सभी मानेंगे।

जयपुर (राजस्थान)
फरवरी १२, १९७१

आचार्य : हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय

लोकदर्शन

डॉ॰ बद्रीप्रसाद पंचोली

लोक शब्द का सम्बन्ध अंग्रेजी के 'फोक' (Folc) से जोड़ा जाता है और इस सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों द्वारा किये गये अध्ययन को आधार मान कर भारतीय विद्वान भी लोक का अर्थ ग्रामीण अशिक्षित जनता या आर्य संस्कारों से अछूते आदिवासी समझने लगते हैं। इस मान्यता के आधार पर वे वेद को आर्य-परम्परा की देन और लोकसाहित्य को अनार्य-परम्परा की थाती मानते हैं। वे इसको वेदाधारित शास्त्र-परम्परा के समानान्तर में पनपने वाली स्वतन्त्र धारा मानते हैं। वस्तुतः जातीय जीवनधारा को इस प्रकार विभाजित करके प्रस्तुत करने का प्रयत्न शोध का कोई बहुत ऊंचा और वैज्ञानिक आदर्श प्रस्तुत नहीं करता। लोक और वेद भारतीय जीवनदर्शन के अभिन्न आधार हैं और इनको पृथक नहीं किया जा सकता। ये परस्पर पूरक माने जा सकते हैं। ये हमारी एक ही जीवनधारा के दो तट हैं। लोक की पारिभाषिकता को भारतीय सन्दर्भ में ही समझना चाहिए।

लोक का स्वरूप

लोक शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की लोक्-दर्शने धातु से है। इसका धातुज अर्थ है—देखनेवाला। रूढ़िगत अर्थ सामान्य लोग है। लोग शब्द लोक के समान ही अत्यन्त प्राचीन है और इसका प्रयोग वर्तमान अर्थ में वेद में भी हुआ है।[1] ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारम्भ से ही लोग शब्द सामान्य अर्थ में और लोकशब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। इस शब्द का अर्थ समझने के लिए मनुष्यवाची जन, मनुष्य, नर आदि शब्दों पर भी विचार कर लेना चाहिए। पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के अनुसार ये संज्ञाएँ मनुष्यकी श्रेणी बतलाती हैं। उनके अनुसार जन का अर्थ है—'प्रजनन करनेवाला'। जन में इसके अतिरिक्त कोई गुण नहीं होते। इसीलिए जन के विषय में कहा गया है—आत्महनो जनाः।[2] 'लोक' केवल देखते हैं आत्मोद्धार के मार्ग पर उन्नति नहीं करते। मनन करने वाला मनुष्य कहलाता है और जो भोगों में रमण नहीं करता (न रमते नरति इति नरः) वह नर कहलाता है।[3] इसीलिए कहा गया है—न कर्म लिप्यते नरे।[4]

पृथ्वी के कुछ प्राणी जन श्रेणी में आते हैं, कुछ लोक, मनुष्य या नर श्रेणी में। जन्म लेना और मर जाना तथा अपने जैसे और पैदा कर जाना जन कहलाने के लिए पर्याप्त है, परन्तु अन्य संज्ञाओं का अधिकारी बनने के लिए इस दो हाथ दो पैर धारण करने वाले प्राणी को कुछ गुण अपनाने होंगे। लोक संज्ञा का अधिकारी बनने के लिए उसमें दर्शन-क्षमता होनी चाहिए। उच्चकोटि के

---

1. अथर्ववेद १८।३।५२.
2. यजुर्वेद ४०।३.
3. वही, ४०।२.
4. कल्याण, मानवता अंक, पृष्ठ १६३.

द्रष्टा को भारत में ऋषि कहा जाता है। 'ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः' सूत्र का स्मरण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि निरुक्तकार यास्क ऋषि उस द्रष्टा को मानता है जिसका दर्शन उसकी मनन-क्षमता को भी प्रेरित करे। इस दृष्टिकोण से लोक का दर्शन सदैव लोक की मनन-सामर्थ्य को जगाकर उसे मनुष्य बनाने में सहायक होता है।

लोक का केन्द्र इन्द्र है। इसके साधन हैं शरीरस्थ इन्द्रियं। उपनिषद् में संसार को देखने वाली शरीरस्थ शक्ति को ही इन्द्र कहा गया है—'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत्। इदं दर्शमिती ३।[5] इदं शब्द से इन्द्र विकसित हुआ है।[6] पौराणिक दृष्टिकोण के अनुसार यह प्रकृति शतरूपा है और इसका उपभोग करने वाला इन्द्र सहस्राक्ष है। दार्शनिकों के मत में इस शक्ति को साक्षी-चैतन्य कहा जाता है। लोकनायक भगवान् बुद्ध को बौद्ध-परम्परा में 'चक्खुमान' कहा गया है। मनुष्य में सृष्टि को देखने अर्थात् उसका उपभोग करने की प्रभूत क्षमता होती है। सांख्यकारिका के अनुसार तो यह प्रकृति एक लज्जाशील नर्तकी है जो तब तक नृत्य करके इसे लुभाती रहती है जब तक यह उसके स्वरूप को समझ न जाय—

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥

तथा

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥[7]

---

5. ऐतरेय उपनिषद् १।३।१३.
6. वही, १।३।१४.
7. सांख्यकारिका, ५९, ६१.

इस दृष्टिकोण से देखने पर 'लोक' उस मनुष्य की संज्ञा प्रतीत होती है जो इस संसार को भली प्रकार से देखता है और इसका पूरी तरह से उपभोग करता है। ऐसा दर्शन सदैव उसके जीवन में सूक्ष्म संस्कारों की छाया छोड़ता है। ये संस्कार ही मानव के दार्शनिक, धार्मिक, वैज्ञानिक और व्यावहारिक चिन्तन की परंपराओं और एतद्विषयक विविध सामाजिक संस्थाओं के मूलाधार होते हैं। दर्शन, धर्म, समाजशास्त्र राजनीति, साहित्य, गणित, इतिहास, रसायनशास्त्र, भौतिकी, मनोविज्ञान आदि के क्षेत्र में जो कुछ मानवसमाज आजतक सोचता और व्यक्त करता आया है, उसका आधार लोक ही है। लोक का सम्बन्ध मनुष्य द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन पर अर्जित ज्ञान से है।

लोक का दर्शन

लोक को पारिभाषिक रूढ़ मान कर उसकी यौगिकता के आधार पर यह समझना कठिन नहीं है कि लोकदर्शन क्या है। शरीर में चेतन मन को प्रेरित करने वाला अवचेतन मन होता है जिसमें व्यक्ति की चेतना के समस्त सूक्ष्म संस्कार संचित रहते हैं।

समाज को एक शरीर मानने पर उसका चेतनमन साहित्यिक परम्पराओं में निहित मानना होगा जबकि उसका अवचेतन मन लोक है। प्रत्यक्ष दर्शन से संचित लोक के सूक्ष्म संस्कार उसके साहित्य को वैसे ही प्रेरित करते हैं जैसे व्यक्ति का अवचेतन मन चेतन मन की क्रियाओं को प्रभावित करता रहता है। लोक का अत्यन्त प्रभावी सूक्ष्म अंश साहित्य में विशेषतया शास्त्र-संज्ञक साहित्य में छन छन कर आया करता है। सारे शास्त्र लोकचेतना के बहुत थोड़े अंश को अपना विषय बना पाते हैं। लोक सागर है तो शास्त्र उसकी कतिपय लहरें मात्र।

'लोके वेदे च' इस सूत्र में सारा भारतीय जीवन समाया हुआ है। वेद भारतीय समाज की समस्त व्यक्त चेतना का मूलाधार है तो लोक उसकी अव्यक्त चेतना का नाम है जिसमें एक ओर तो उसकी चेतना व्यवहार में प्रतिफलित

होती रहती है और दूसरी ओर व्यक्त चेतना को आधार प्रदान करने वाले संस्कार निरन्तर संचित होते रहते हैं। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने जहां वेद को उस मधुमय उत्स की संज्ञा प्रदान की है जिससे भारतीय आध्यात्म-शास्त्र के समस्त स्रोत प्रभावित हुए हैं [8] वहां उन्होंने यह भी माना है कि लोक का प्रत्यक्ष-दर्शन ही समग्र दर्शन की कुंजी है।[9] महाभारत में कहा गया है कि लोक का प्रत्यक्ष दर्शन करने वाला ही सर्वदर्शी होता है—

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।[10]

वाग्भट ने विचारक को परीक्षक कहा है और उसे सारी मानवी क्रियाओं के आचार्य लोक का अनुकरण करने की सम्मति दी है—

आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः।
अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिकेऽर्थे परीक्षकः॥ [11]

स्पष्ट है कि लोकदर्शन जीवन की समग्रता को लेकर चलता है। आध्यात्मिक-जगत में इच्छा, ज्ञान और क्रिया के एकीभूत रूप को विज्ञानमयकोश के नाम से जाना जाता है। लोक समाज का विज्ञानमयकोश कहा जा सकता है। मन, प्राण और वाक् की भेदात्मक-सृष्टि से लोक ऊपर है। उसी से टूट कर समस्त मानव-समाज के संस्थानों का उदय होता है।

लोक की सर्वोच्च शक्ति

वेद द्वारा नेति-नेति कहकर मन-वाणी से अगम, अगोचर मानी जाने वाली

---

8. उरुज्योति, भूमिका.
9. प्रचीन भारतीय लोकधर्म, पृष्ठ १.
10. महाभारत, उद्योगपर्व, ४३।२६ : पूना संस्करण.
11. अष्टांगहृदय १।२।४५.

सत्ता की गोदी में नन्दलाल या कौसल्यानन्दन के रूप में उतार लेने की शक्ति लोक में ही है। इसी तरह मातृभूमि को भौमब्रह्म कहकर उपासना का विषय बनाने का काम भी लोक ही का है। लोकापवाद से बड़े-बड़े महारथी भी घबराते हैं। लोकसंग्रह को जीवन का सर्वोच्च ध्येय बनाकर कई कर्मशील जीवन-संसिद्धि को प्राप्त करने में समर्थ हुए हैं।[12] बड़े बड़े सम्राटों को लोक-शक्ति के सामने झुकना पड़ा है। महाकवि श्रीहर्ष ने शब्द-प्रयोग में व्याकरण के दर्प को भंग करने वाले लोक की प्रशंसा की है—

भक्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगध्वनि लोक एष।
शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽयं मृगोऽस्यास्तीति मृगीति नोक्तः॥

लोक की शक्ति को समझ कर कुछ तर्कशास्त्रियों ने लोक-प्रमाण को भी स्वीकृति प्रदान की है। न्यायाधिकरणों में तो लोक-प्रमाण को साक्षी के रूप में प्रथम स्थान दिया गया है। लोक की सर्वोच्चता इससे भी प्रमाणित होती है कि उससे हमारे ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा प्रभावित हुई है।

लोक का सनातन प्रवाह

जिसको भारतीय ग्रन्थों में सनातन धर्म कहा जाता है, वह लोक से अभिन्न है। अध्येताओं ने ऋग्वेद को शिष्ट संस्कृति से सम्बद्ध माना है जबकि उनके अनुसार अथर्ववेद का सम्बन्धलोक-संस्कृति से है।[13] ऐसे विद्वानों के अनुसार ये दोनों वेद भिन्न संस्कृतियों के प्रतीक हैं।[14] जैसा कि ऊपर कहा

---

12. श्रीभगवद्गीता ३।२०.
13. पं० बलदेव उपाध्याय, समाज : काशी विद्यापीठ : ४।३ : १९५८ : पृष्ठ ४४६.
14. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षोडश भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ ३.

जा चुका है, ऐसा कहना अनुचित है। वेद की सभी संहिताएँ, यही क्यों ब्राह्मण, आरण्यक, वैदिक उपनिषद् और कतिपय वेदांग सम्बन्धी ग्रन्थ भी, आर्ष-परम्परा से सम्बद्ध हैं और इस प्रकार प्रत्यक्षदर्शन की देन हैं। अतः इन्हें लोक से दूर नहीं माना जा सकता। धीरे-धीरे काव्य और शास्त्र लोक से दूर होने लगे हैं। काव्य की विविध विधाओं का इतिहास वस्तुतः इस बढ़ती हुई दूरी का ही इतिहास है। समय समय पर काव्य को लोक-जीवन के सन्निकट लाने के प्रयत्न होते रहे हैं। हमारी भाषाओं का विकास ऐसे प्रयत्नों की देन माना जाना चाहिये।

वस्तुतः जीवन और जगत को देखने के लिए प्रत्येक जाति की अपनी आँख होती है।[15] इन सभी ग्रन्थों में एक जाति का एक ही प्रकार का दृष्टि-कोण व्यक्त हुआ है और इन सबकी विशेषता लोक के अत्यधिक निकट होना है। केवल भाषा को लें तो आर्थर एवलान के अनुसार संहिताओं की भाषा प्रकृति के अत्यन्त निकट है।[16] आर्ष-परम्परा के समाप्त हो जाने पर प्रातिभ साहित्य की रचना होने लगी और तभी भाषा लोक से दूर होने लगी, परन्तु ऊपर आयुर्वेद के आचार्य वाग्भट की उक्ति को देख चुके हैं, जागरूक ग्रन्थकार विविध ग्रन्थों की रचना करते समय लोक का आश्रय लेते थे। स्थायी महत्त्व ऐसी ही रचनाओं का होता था।

विचार और विश्वास के क्षेत्र में जैन और बौद्ध आदि विविध धार्मिक परम्पराएं भी एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। वे सब लोक के सनातन प्रवाह को आधार बताकर विकसित हुई हैं। बुद्ध और महावीर ने केवल लोकभाषा को ही नहीं अपनाया, वरन् लोक में सनातन धर्म के नाम से प्रचलित मान्यताओं को

---

15. डॉ. जनार्दन मिश्र, भारतीय प्रतीक–विद्या, पृष्ट १३३.

16. सर जान वुड्रफ, गारलैण्ड आव लेटर्स.

भी अपनाया। बुद्ध ने अपनी मान्यताओं को सर्वत्र ऋषि प्रवेदित[17] या आर्य प्रवेदित धर्म कहा है।[18] सत्य पूर्वक अमृता वाणी के प्रयोग को उन्होंने सनातन धर्म की संज्ञा दी है।[19] इसी तरह महावीर ने अपने मत को सनातन आर्य दर्शन कहा है जिससे अनार्य दूर रहते हैं।[20]

गृह्यसूत्रों, जातक कथाओं, पुराणों, उपपुराणों आदि में तो लोक का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता ही है, परन्तु महाभारत और अग्निपुराण तो लोक-परम्परा की दृष्टि से विश्वकोश ही कहे जा सकते हैं। परवर्ती संस्कृत कवियों पर भी लोक का प्रभाव पड़ा है। लोकभाषाओं के उदय की कहानी तो इस सनातन प्रवाह की सबसे महत्त्वपूर्ण उछाल है। वस्तुतः वेद से लेकर वर्तमान काल तक यह प्रवाह कहीं नहीं टूटा है। कहीं इसका रूप स्पष्ट देखने को मिलता है तो कहीं प्रच्छन्न रूप से उसकी प्रतीति हो जाती है। लोकचेतना के इस अनवरत प्रवाह को समझने के लिए विस्तृत स्वतंत्र अध्ययन की आवश्यकता है।

प्रज्ञादर्शन और लोकायत-धर्म

यहां जिस सनातन-धर्म की ओर संकेत किया है उसी की लोक में प्रसृत होने से लोकायत संज्ञा प्रचलित हुई ज्ञात होती है। इसका आधार प्रज्ञादर्शन है। आजकल लोकायत के नाम से चार्वाक दर्शन प्रसिद्ध है जिसे अनीश्वरवादी माना जाता है, परन्तु बृहस्पति द्वारा प्रचारित मूल लोकायतधर्म अनीश्वरवादी नहीं था। वह कर्मवाद पर आधारित था। बाद में उसकी बदनामी हो गयी।[21] लोक

---

17. धम्मपद २०।९.
18. धम्मपद ६।४ तथा सुत्तनिपात चूलवग्ग, किंसीलसुत्त ७.
19. सुत्तनिपात, महावग्ग, सुभासित सुत्त ४.
20. सूत्रकृतांगसूत्र ७५६.
21. भारत सावित्री, भाग १, पृ० २००.

के सहज प्रवाह के अनुकूल जीवन-यापन करना लोकायत-धर्म का मूलाधार है। लोक-विश्वासी न तो तप की कठोरता में विश्वास करता है और न उत्कट भोग के परिणामों को देखते हुए कभी उनमें फंसना ही है। यही सर्व-साधारण द्वारा अपनाया जाने वाला मध्यम मार्ग है। बुद्ध ने भी कहा है कि इन दो अनार्य सेवित अतियों को त्याग कर मध्यम मार्ग का अवलम्बन लेना चाहिए।[22]

ग्रामदेवताओं में एक छप्पनजी भी होते हैं। इनकी विवाहादि के अवसर पर अनिवार्य रूप से पूजा की जाती है। 'छप्पन' शब्द 'षट्प्रज्ञ' से विकसित हुआ है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, लोकार्थ और तत्त्वार्थ का ज्ञाता षट्प्रज्ञ कहलाता है। जीवन में तत्त्व-चिन्तन और लोकव्यवहार का समन्वय षट्प्रज्ञ में देखने को मिलता है। वही पण्डित अर्थात् प्रज्ञा-सम्पन्न होता है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार प्रज्ञा शब्द ही पण्णा और पण्डा बन गया है। पण्डित शब्द पण्डा से ही प्राज्ञ अर्थ में निर्मित हुआ है।[23] महाभारत में विदुर का प्रज्ञा-दर्शन विस्तार से वर्णित है। गीता में स्थितप्रज्ञ का वर्णन मिलता है। बुद्ध और महावीर ने भी पण्डित की परिभाषा करते हुए जीवन के स्वर्णसूत्र प्रस्तुत किये हैं। इन सभी स्थलों पर प्राज्ञदर्शन के रूप में लोकदर्शन को देखा जा सकता है। गीता में कहा गया है कि "जब मनुष्य सब मनोगत कामनाओं को त्याग कर बाह्य लाभ से निरपेक्ष होकर आत्मा में ही सन्तुष्ट रहने लगता है तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। जब वह दुःख में अनुद्विग्न-मन और सुख में विगतस्पृह होकर भय, क्रोध आदि से रहित हो जाता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। वह न किसी से द्वेष करता है और न स्तुति। समस्त इन्द्रियों को वह अपने विषयों में विरत करके आत्मभाव में स्थित हो। जिसकी इन्द्रियां वश में होती हैं उसीकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। स्थितप्रज्ञ निःस्पृह और निरहंकार होता है।"[24] इस

---

22. विनयपिटक १।५.

23. भारत सावित्री, भाग २, पृ० २७, १५६.

24. श्रीमद्भगवद्गीता २।५५–७२.

ब्राह्मी स्थिति को योगी प्राप्त कर पाये हों या नहीं, परन्तु कठोर श्रम को अंगीकार करने वाला कृषक, मजदूर और सामान्य परिचारक अवश्य ही इस स्थिति के निकट पहुँच जाता है। सरदी की दाँत कम्पा देने वाली रात हो या निदाघ का झुलस देने वाला ताप, श्रमिक अपने काम में सारी सुधबुध भुला कर लगा रहता है। कभी सुख मिले तो वह उसे चार दिन की चांदनी समझ कर फूलता नहीं है और इसी तरह आकस्मिक विपत्ति आ पड़े तो वह इसे भाग्य का खेल समझ कर निरपेक्ष भाव से झेल लेता है।

सैद्धान्तिक-जगत्में प्रज्ञादर्शन की कल्पना श्रमिक की लोकोत्तर तल्लीनता को ही देखकर की गई ज्ञात होती है। इसे दूर की कल्पना कहना या नितान्त अव्यावहारिक कहकर टालना असंगत होगा। प्राचीन लोकायत धर्म लोक को ही आधार मान कर विकसित हुआ था। सारे भारतीय चिन्तन का आधार ही लोक है। प्रातिभ-साहित्य भी उसी को आधार मानकर चला है। लोक के निकट होने से और लोक से संरक्षित होने से ही लोकायत को चार्वाक कहा गया ज्ञात होता है।

भाषा और लोक

भाषा लोक की वस्तु है। लोक में ही उसकी अर्थनिष्ठा प्रमाणित होती है और लोक में ही उसका विकास होता है। प्रातिभ-साहित्य पर लोक का यह सबसे बड़ा ऋण है। शब्द को विविध शक्तियां लोक से ही प्राप्त होती हैं। भाषा में नामधातुएँ और अनुरणनात्मक शब्द तो लोक से विकसित हुए ही हैं, साथ ही भाषा की सारी धातुएं, जिनसे विविध शब्दों की रचना होती है, लोक में दृश्य-आधार को लेकर विकसित हुई हैं। सादृश्य के आधार पर भाषा का विकास लोक की देन है। शास्त्रीय दृष्टि से प्रमाणित शब्दों के अपवाद तो लोक की प्रभुता के सूचक हैं ही, जिन्हें शास्त्रीय दृष्टिकोणवाले भी अशुद्ध प्रयोग कहने की अपेक्षा आर्ष-प्रयोग कहना अधिक पसन्द करते हैं। भाषा की यह आर्षदृष्टि लोक की ही देन है।

ज्ञान–विज्ञान की अन्य शाखाओं पर लोक का प्रभाव

ज्ञान–विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में एक पक्ष लोक के दृश्य–आधार को लेकर विकसित हुआ है। ज्योतिष में दृग्ज्योतिष का आधार लोक ही है। फलित-ज्योतिष, हस्त-सामुद्रिक आदि तो पूरी तरह दृश्य-आधार को लेकर चलते हैं। आयुर्वेद, रसायनशास्त्र, भौतिकविज्ञान आदि के प्रत्यक्ष प्रायोगिक आधार के विषय में तो दो मत हो ही नहीं सकते। अर्थ के निर्वचन में निरुक्त लोक का ही आश्रय लेता है। गणित का आधार भी लोक से भिन्न नहीं हो सकता। संगीत में शास्त्रीय मार्ग-विधान के अतिरिक्त देशी-विधान भी प्रचलित है जो लोक की देन है। आचारशास्त्र, पुराणविद्या आदि भी दृश्य-आधार को लेकर विकसित हुए हैं।

लोक–उक्ति

समाज के विकास में लोकोक्तियों का बड़ा योगदान रहा है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार लोकोक्तियां मानवी ज्ञान के चोखे और चुभते हुए सूत्र हैं। ये मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटने वाली ज्योति प्राप्त होती रहती है।[25] मानव जीवन की कई समस्याओं का समाधान इन लोकोक्तियों में गुम्फित रहता है। लोकोक्तियों का उद्भव जीवन की श्रमशील परिस्थितियों में प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर होता है। सारा भारतीय नीति-शास्त्र लोकोक्तियों को आधार मान कर ही विकसित हुआ है। भारतीय साहित्य में सूत्र-शैली का विकास लोकोक्तियों के अनुकरण पर हुआ है। शब्द की व्यंजना शक्ति का पूर्ण चमत्कार लोकोक्तियों में देखने को मिलता है। ज्ञान-विज्ञान के किसी भी क्षेत्र से सम्बद्ध लोकोक्तियों को नित्य जीवन में व्यवहृत होता हुआ देखा जा सकता है।

---

25. पृथिवीपुत्र, पृ० १११.

लोकाराधन

लोकसंग्रह भारत की जीवन-साधना का केन्द्र है। इस्याधार को लेकर चलने वाले समाज में बिना नीति-च्युत हुए लोकरुचि का सम्मान करते हुए जीवन-यापन करना ही लोकाराधन है। लोक के लिए बड़े से बड़े प्रिय को त्याग देना सचमुच ही बहुत बड़ी बात है। राम की इतनी महत्ता का कारण लोकाराधन की प्रवृत्ति ही है। इसी के कारण वे मर्यादा पुरुषोत्तम बन गये हैं। मर्यादा का अर्थ ही 'मनुष्य का भक्षण करने वाली' है—मर्य अत्ति इति मर्यादा। राष्ट्रीयता और विश्वबन्धुत्व का आधार भी लोकसंग्रह या लोकाराधन ही है। 'स्व' से 'पर' में होते हुए परम की यात्रा करते हुए मध्यवर्ती विश्रामस्थल के रूप में इनका महत्त्व है। 'स्व' परम में लीन होकर 'असु' (सु+अ से विपर्ययपूर्वक) हो जाता है। लोक में एकता का आधार प्राणिक है जिसकी सिद्धि लोकाराधन से होती है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि लोक प्रत्यक्षदर्शन के आधार को लेकर चलने की प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। लोक-साहित्य और लोक-कलाओं का विकास इसी प्रत्यक्षदर्शन की प्रवृत्ति से हुआ है। लोक-साहित्य का अध्ययन इसी दृष्टिकोण से होना चाहिए। जीवन-साधना की आधारभूत प्रवृत्तियों में विभाजन का आश्रय लेना तो आत्मघात ही कहा जायगा।

रामलीला

रामनारायण अग्रवाल

भगवान राम और कृष्ण भारतीय संस्कृति के ऐसे महत्त्वपूर्ण आधार स्तम्भ हैं जिनसे हमारा साहित्य और कलाक्षेत्र सहस्रों वर्षों से प्रेरणा प्राप्त करते आरहे हैं। यही कारण है कि भारत के मंचीय इतिहास के आरम्भिक समय में ही हमें रामचरित और कृष्णचरित के अभिनीत किये जाने के उल्लेख प्राप्त हैं। आचार्य पाणिनि के सूत्रों में तथा मनुस्मृति में प्राचीनतम भारतीय नाटक रचयिता शिलालिन और कृशाश्व के नामों का उल्लेख मिलता है और पाणिनि के सूत्रों में कंस से संवन्धित कुछ उदाहरण भी दिये गये हैं जो विद्वानों के मत से 'कंसवध' नाटक के ही उद्धरण हैं। महर्षि पतंजलि के महाभाष्य में नटों द्वारा नाटक किये जाने और उनके विधिवत प्रशिक्षण का तो उल्लेख है ही, साथ में 'कंसवध' और 'वालिवध' नामक दो नाटकों का भी उल्लेख है। इससे यह प्रमाणित हो जाता

है कि 'वालिवध' नाटक एक प्राचीनतम रंगमंचीय नाटक था। हमारे संस्कृत नाटकों का मंच बहुत ही विकसित और परिमार्जित था, और उस मंच पर रामचरित के अभिनय की परम्परा भारतीय नाट्यकला के विकास के प्रथम चरण में ही प्रचार पा गई थी।

महाभारत में 'रामायण नाटक' का उल्लेख उपलब्ध है और रामकथा के नाटकों की यह परम्परा संस्कृत नाटक के रचयिता अन्तिम महान् नाटककार भवभूति के 'उत्तररामचरित' तक उपलब्ध हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि रामकथा को लेकर नाटक रचना करने और उन्हें रंगमंच पर अभिनीत करने की एक सुघड़ परम्परा अतीत में विद्यमान थी।

भारतीय रंगमंच पर रामचरित ने जो लोकप्रियता प्राप्त की उसी का यह फल हुआ कि रामकथा के अभिनय की परंपरा केवल हमारे इस विशाल देश की सीमाओं में ही न रह कर समीपवर्त्ती देशों तक जा पहुँची। थाई देश का रामलीला नाटक तो आज भी इस परम्परा का एक जीवित और ज्वलंत प्रमाण है। आजतक राम वहाँ भारत के समान ही उस देश के एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व हैं। यहां तक कि उनकी जन्मभूमि अयोध्या भी वहाँ बना ली गई है। हिन्द महासागर के भारत से संलग्न द्वीपों में रामकथा का व्यापक प्रसार और प्रचार बिना किसी प्रचारक की चेष्टा के स्वयमेव ही हुआ है। बर्मा के इतिहास में एक ऐसा प्राचीन उल्लेख उपलब्ध होता है कि सन् ११६७ ईसवी के आसपास वहां के किसी नरेश ने थाई देश पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की थी और वह नरेश थाई देश के कुछ निवासियों को दास बनाकर बर्मा ले आया था। उस समय इन थाई देशवासियों ने बर्मा में रामचरित का अभिनय किया था। इन विवरणों से भी यही सिद्ध होता है कि रामचरित के अभिनय की परम्परा बड़ी पुरानी है और अपनी लोकप्रियता के कारण वह न केवल भारत में ही वरन् समीपवर्त्ती अन्य एशियाई देशों में भी खूब फली फूली थी।

परन्तु जब हमारे देश पर मुसलमानों का आधिपत्य हुआ तब रामचरित के अभिनय की यह परम्परा भी अन्य ललित कलाओं के ह्रास के साथ-साथ ही

छिन्न भिन्न हो गई। फिर भी कुछ स्थल ऐसे अवश्य थे जहां रामलीला की यह परम्परा किसी न किसी रूप में प्रचलित थी।[1] उदाहरण के लिये हम इस प्रसंग में काशी का नाम ले सकते हैं लेकिन उस युग में रामकथा के अभिनय की यह परम्परा विशृङ्खलित हो गई थी जिसे गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस की रचना के उपरान्त ही नया ओज और तेज प्राप्त हुआ।

रामलीलामंच का गठन

वर्तमान युग में रामलीला का जो भारत व्यापी प्रचार है उसकी आधारशिला गोस्वामी तुलसीदासजी ने ही काशी नगरी में रखी, ऐसा कहा जाता है। रामचरितमानस के आरंभ में गोस्वामी तुलसीदासजी का जो जीवन-चरित दिया गया है उसके अनुसार वर्त्तमान शैली की रामलीला गोसाँईजी के ही समय से आरंभ हुई है। यह लीला अबतक अस्सी पर होती है और गोसाँईजी के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें तथा और लीलाओं में एक बात की विलक्षणता यह है कि और लीलाओं में खरदूषण की सेना निकलती है और राक्षस लोग विमान पर निकाले जाते हैं, पर यहां पर राक्षस लोग, जैसाकि रामायण में लिखा है, भैंसे, घोड़े आदि पर निकलते हैं। इसकी लंका का स्थान अब तक लंका के नाम से प्रसिद्ध है।[2]

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि 'रामचरितमानस' का संबल तथा गोस्वामी तुलसीदास जैसे महान भक्त महाकवि का संरक्षण पाकर रामचरित का यह मंचीय रूप नई सजधज से एक नवीन परिवेश में पुनः उठ खड़ा हुआ था और उसने जनता को अपने मौलिक कथानक तथा अभिनय की नवीन शैली से वशीभूत कर

---

1. यह बात प्रसिद्ध है कि मेघाभगत की रामलीला, जो अब काशी में चित्रकूट की रामलीला के नाम से प्रसिद्ध है, गोसाँईजी के पहले से होती थी।
2. रामचरितमानस सम्पादक : बाबू श्यामसुन्दरदास, तृतीय संस्करण, प्रकाशक—इण्डियन प्रेस, पृ० २६.

लिया था। जनता इस रामचरित के नवीन विकास से इतनी अधिक प्रभावित हुई कि काशी के मुहल्लों तक के नाम भी रामलीला के स्थलों के नाम से ही लोक प्रचलित हो गये। आज भी वह स्थान जहाँ रावण की लंका बनाई जाती रही है काशी में 'लंका' ही कहा जाता है।

गोस्वामीजी द्वारा स्थापित रामचरित के अभिनय की यह परम्परा काशी में ही नहीं वरन् एक साथ पूरे देश में ही लोकप्रिय हो गई। यहां यह प्रश्न उठता है कि ऐसी इस रामलीला में क्या विशेषता थी कि यह बिना किसी राज्याश्रय और प्रचार के ही स्वयमेव पूरे देश में इतनी शीघ्रता से फैल गई। हमारे विचार से इसके चार प्रमुख कारण थे—

१. इस देश में जनता सदैव से ही धर्म के प्रति आस्था और कला के प्रति अनुराग रखती आई है। रागरंग, नृत्य गायन और अभिनय की वह प्रेमी है। मुसलमानों की दासता के युग में बरबस जनता को अपने इन शिक्षाप्रद मनोरंजनों से उपराम लेना पड़ा था, परन्तु सम्राट अकबर के शासन-काल में जब स्थितियाँ सुधरीं और धार्मिकता की लहर के साथ-साथ कला तथा कलाकार का सम्मान और आत्मगौरव पुनर्जीवित हुआ तो जनता को एक नया संबल मिला। महाकवि तुलसी द्वारा प्रेरित इस रामलीला के मंच की स्थापना ने तब उसके दुखते हुए फोड़े पर मरहम जैसा काम दिया और भारतीय गौरव के प्रतीक बनकर राम नवीन साज सज्जा में इस मंच के माध्यम से आतंक के रावण पर पुनः अग्निवाण तानकर जब जनता के समक्ष आये तो वह गद्गद् भाव से स्वयं इस मंच के प्रति नतमस्तक होकर उसके पीछे लग गई।

२. गोस्वामी तुलसीदासजी का 'रामचरितमानस' स्वयं उस युग के अनुरूप भक्ति-युग की एक क्रान्तिकारी रचना थी जिसने तत्कालीन समाज को एक नवीन दृष्टि, नवीन प्रेरणा, नवीन संबल और नवीन निष्ठा के साथ-साथ नवीन आत्मबल तथा आदर्श प्रदान किया। यह रचना जब लीला प्रदर्शन के माध्यम से जनता के हमक्ष आई तो उसका आकर्षण और भी अधिक बढ़ गया।

कठपुतली : नचैया और नर्तकी

सांग : वहार श्रौर वारीकी

ऐसी दशा में तत्कालीन लोक जीवन को इस मंच के माध्यम से जो नवीन चेतना मिली उसपर जनता का उत्फुल्ल होना और इस मंच की ओर विशिष्ट रूप से आकर्षित होना अवश्यंभावी था।

३. गोस्वामीजी अपने युग के एक महान् व्यक्तित्व थे। उनकी पैठ अकबर की नाक के बाल महाकवि अब्दुल रहीम खानखाना जैसे देश के संभ्रान्त राजपुरुषों तक से लेकर अनाथ और निराश्रित जनतक समान रूप से थी। वे अपने युग में एक चमत्कारी और सिद्ध महात्मा के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। ऐसी दशा में उनके द्वारा आरंभ कराये गये कार्य में सभी वर्गों की रुचि और निष्ठा बहुत ही स्वाभाविक थी।

४. यह बात यहाँ विशेष रूप से ध्यान रखने की है कि तुलसीदासजी की रामलीला से पूर्व ही ब्रज में भगवान कृष्ण की ब्रजलीलाओं का मंच 'रासलीला' गठित हो चुका था। गोस्वामी तुलसीदासजी स्वयं कृष्णलीलाओं के अभिनय में रुचि लेते थे।

गोस्वामीजी ने रासमंच की कुछ ऐसी विशेषताओं का समावेश भी रामलीला के लोकमंच में कर लिया था जो रास की लोकप्रियता का मूलाधार थीं। जब ब्रज में कृष्णलीलाओं के प्रदर्शन के लिए एक मंच गठित होगया तब सगुण भक्ति की रामभक्ति शाखा को भी ऐसे एक ही मंच की अनिवार्यता का अनुभव हुआ, और रामभक्ति के प्रचार स्वरूप रामलीला एक समर्थ माध्यम बनकर उदित हुई। इस प्रकार रास से प्रेरणा लेकर रामलीला का यह मंच एक साथ उभर उठा। रामलीलाओं पर रास का प्रभाव बहुत स्पष्ट है।

रासलीला और रामलीला

यदि हम रासलीला और रामलीला के वर्तमान लोकमंच के स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होता है कि रामचरित के अभिनय को रामलीला कहा जाना भी रास के रामलीला पर पड़े व्यापक प्रभाव का प्रतीक है, क्योंकि मर्यादापुरुषोत्तम राम का चरित लीलापुरुषोत्तम कृष्ण की लीलाओं की कोटि में नहीं आता, फिर भी मर्यादापुरुषोत्तम के चरित के अभिनय को

'लीला' के नाम से लोकजीवन में प्रसिद्ध करा देना रास का ही काम था।

यह ठीक है कि चरित और लीला मोटे रूप से पर्यायवाची शब्द से प्रतीत होते हैं, परन्तु भक्त आचार्यों की दृष्टि से इनमें मौलिक भेद है। चरित के वर्णन में उन क्रियाकलापों का वर्णन विशेष रूप से होता है जो जीवन में किसी विशेष उद्देश्य से किये जाते हैं। ऐसी दशा में लोकरंजन का आदर्श स्थापित करने वाले रामचरित को लीला नहीं कहा जा सकता। लीला तो केवल आनन्द के उद्देश्य से की जाती है। इसके अतिरिक्त उसका और कोई उद्देश्य नहीं होता। वह निर्हेतु होती है। रासमंच पर प्रदर्शित कृष्ण की माखनचोरी, पनघटलीला, दान, मान आदि सब इसी प्रकार की लीलायें हैं। उनमें कोई लोकरंजन या आदर्श ढूंढ़ना व्यर्थ है। यही कारण है कि ब्रज के भक्तों ने रास के लोकमंच को 'रासलीला' नाम दिया था, और बाद में उसीके अनुकरण पर राम का लोकरंजक चरित्र 'रामलीला' कहा जाने लगा।

परन्तु नामकरण के अतिरिक्त भी यदि अन्य मंचीय उपादानों की दृष्टि से हम रामलीला और रासलीला की तुलना करें तो दोनों मंचों में काफी अंशों में समानता है। जैसे:—

१. रासलीला का संचालन आरम्भ से अंत तक समाजी (गायक) करते हैं उसी भांति रामलीला में भी एक रामायणी व्यास आसन ग्रहण करके आदि से अन्त तक रामलीला का संचालन करता है। वह सही अर्थों में रास की ही भांति रामलीला का सूत्रधार होता है।

२. रामलीला और रासलीला दोनों ही खुले मंच हैं। यद्यपि बाद में पारसी थियेटर के प्रभाव से कहीं-कहीं रामलीलाओं में पर्दों का भी प्रयोग होने लगा परन्तु देश की अधिकांश रामलीलायें आज भी खुले बाड़ों या मैदानों में होती हैं। जिन स्थलों पर कृष्ण ने जो बाललीलायें की हैं, उनकी स्मृति में व्रजयात्रा के समय आज भी उन स्थलों पर वे ही लीलायें प्रदर्शित की जाती हैं, ठीक उसी भांति पुरानी रामलीलाओं में भी नगर नगर में रामलीला के स्थलों की उसी प्रकार रचना की गई है। उदाहरण के लिये

रामनगर काशी की विख्यात रामलीला का नाम लिया जा सकता है।

३. रामलीला और रासलीला में रूपसज्जा, वेशभूषा आदि की परम्परा एक जैसी ही है। उदाहरण के लिए राजाओं को दोनों ही स्थान पर वंद गले कोट, चूड़ीदार पायजामे, कमर में पटके आदि पहनाये जाते हैं और साधू लोग पीली धोती और अलफी धारण करते हैं। ब्रह्मा का चार मुखवाला के मुखौटा रामलीला और रासलीला दोनों में ही प्रयुक्त होता है। हां, मुख्यपात्रों की वेशभूषा उनके व्यक्तित्व के अनुसार वदल जाती है। उदाहरण के रूप में कृष्ण की कटिकाछनी या रास का टेढ़ा मुकुट राम को धारण नहीं कराया जा सकता।

४. रासलीला और रामलीला दोनों का ही प्रारम्भ और समापन आरती से होता है।

५. रासलीला और रामलीला दोनों के ही संवाद अलिखित होते हैं और दोनों की अभिनय की शैली भी एक दूसरे से वहुत साम्य रखती है। रासलीला और रामलीला दोनों ही अभिनय की लोकधर्मी परम्परा के अवलंवी हैं और नाट्य-शास्त्र में वर्णित अभिनय की शास्त्रीय परम्पराओं के प्रति अधिक आस्थावान नहीं हैं।

इस प्रकार रासलीला और रामलीला में अद्भुत साम्य परिलक्षित होता है। उनमें जो भी भेद है वह राम और कृष्ण के व्यक्तित्व की पृथकता पर आधारित है। चरित्र और लीला के जिस भेद का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं उसके कारण ही रामलीला की शैली में रास शैली से भिन्नता पाई जाती है। उदाहरण के लिए रामलीला में नृत्य और गायन को उतना महत्व नहीं मिल सकता जितना कृष्णलीला में देखने को मिलता है। इसी भांति रामलीला में जहां प्रत्येक जनपद की वोली और भाषा स्थानीय प्रभाव के अनुरूप महत्त्व पा जाती है वहां रासलीला की भाषा आज भी कृष्ण के जनपद की ब्रजभाषा ही बनी हुई है। परन्तु ब्रजभाषा का प्रभाव रामलीलाओं पर भी कम नहीं पड़ा था। प्राचीन परम्पराओं की रामलीलाओं में आज भी ब्रजभाषा का प्रभाव अक्षुण्ण

है। उदाहरण के लिए हम जबलपुर की रामलीलाओं का उल्लेख यहाँ करना चाहते हैं। सेठ गोविन्ददासजी द्वारा स्थापित परिक्रामी रंगमंच के उद्घाटनोत्सव के अवसर पर हमें एक बार दशहरा पर जबलपुर की रामलीला देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वहाँ के 'अंगद-रावण संवाद' को हम आज भी नहीं भूले हैं। तुलसीकृत रामचरितमानस की चौपाइयों के अर्थ के साथ-साथ रावण और अंगद के ब्रजभाषा के कवित्त और सवैयों में उत्तर और प्रतिउत्तर देखते ही बनते थे। उस कवित्वमय संवाद ने एक अद्भुत नाटकीय वातावरण की अवतारणा में महत्त्वपूर्ण योग दिया था। इसी प्रकार मथुरा की रामलीला का लक्ष्मण-परशुराम संवाद भी अपना महत्त्वपूर्ण आकर्षण रखता है और धनुषयज्ञ की लीला देखने के लिए मथुरा की रामलीला में आज भी दूर-दूर का जनसमूह उमड़ पड़ता है। ये सब तथ्य रामलीला मंच पर रासलीला मंच के व्यापक प्रभाव के प्रमाण हैं क्योंकि इन दोनों ही मंचों का विकास एक ही युग में एक ही परिस्थिति में और एक जैसे ही उद्देश्य से हुआ था इसलिए भी इनका यह नैकट्य बहुत स्वाभाविक और आवश्यक था।

रामलीला का आरम्भिक रूप

आज यह जानने के पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं हैं कि रामलीला के वर्तमान रूप के विकास से पूर्व यत्र-तत्र जो रामलीला होती थी उसका सही रूप क्या था। परन्तु विभिन्न जनपदों की रामलीला के स्वरूपों का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी से पूर्व जहाँ-जहाँ भी रामचरित का अभिनय न्यूनाधिक रूप में प्रचलित था उसका रूप गीत नाट्य जैसा रहा होगा। स्थानीय धार्मिक प्रवृत्ति के कवियों ने रामकथा को भजनों के रूप में काव्यबद्ध कर रखा था और रामलीला के पात्र वेशभूषा धारण करके उन भजनों के संवाद रूप में गायन द्वारा ही रामलीला का प्रदर्शन करते थे। रामलीला की यह परम्परा आज भी उत्तर-प्रदेश के कुमायूं क्षेत्र में बड़े विकसित रूप में उपलब्ध होती है। वहाँ के कलाकार आज भी तुलसीकृत रामचरित को अपनी रामलीला का आधार न मानकर कुमायूं के प्राचीन परम्परागत भजनों और गीतों का अभिनयपूर्ण गायन

करके अपने यहां रामलीला का प्रदर्शन करते हैं। इस क्षेत्र में रामलीला का उनका अपना साहित्य और रामलीला प्रदर्शन की उनकी अपनी ही परम्परा है, जिस पर उस जनपद की भाषा के साथ क्षेत्रीय संस्कृति का भी व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। हमारा अनुमान है कि रामचरितमानस के उदय से पूर्व जहाँ कहीं भी रामलीला होती रही होगी वहां भजनों की इसी प्रकार की गायन-परम्परा उन रामलीलाओं का आधार रही होगी। बाबू श्यामसुन्दरदास के कथनानुसार — "यद्यपि श्रीकृष्णचन्द्र की रासलीला पहले से प्रचलित हो चुकी थी और भजन गाकर रामलीला करने की बात भी प्रसिद्ध है, परन्तु जिस चाल पर अब रामलीला होती है इसका मूल यही तुलसीकृत रामायण है।"[3]

इस उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि रामलीला के मंच की गेय रचनाओं से प्रभावित होकर उसी ढंग पर स्थानीय लोगों ने पहले रामलीलाओं के प्रदर्शन को भी इसी के अनुकरण पर भजन रचकर गेय रूप देने की चेष्टा की और कहीं कहीं उस परिपाटी पर रामलीलाओं का आयोजन भी होने लगा, परन्तु रामचरितमानस रूपी चन्द्र के उदय होते ही रामलीलाओं के तारागणों जैसी सीमित ज्योति वाले आयोजन भी उसी ज्योत्स्ना में अभिभूत होकर एकरस हो गये।

काशीनगरी और रामलीला

रामलीला के वर्त्तमान रूप का विकास रामचरित की रचना के उपरान्त गोस्वामीजी के जीवनकाल के उत्तरार्द्ध में काशीनगरी में हुआ। इसलिए राम-लीला के वर्त्तमान रूप की जन्मभूमि काशीनगरी ही ठहरती है। ऐसी दशा में गोस्वामीजी द्वारा आरम्भ की गई रामलीला के मूलरूप की जानकारी के लिये हमें काशी की रामलीला परम्परा से ही उसके सूत्र खोजने होंगे। काशीनगरी में रामलीला की परम्परा इतनी लोकप्रिय है कि वहां के मुहल्ले-मुहल्ले में रामलीलायें होती हैं, परन्तु काशी की तीन रामलीलायें बहुत प्राचीन और प्रसिद्ध हैं। इन तीन रामलीलाओं में अस्सी की रामलीला का उल्लेख पहले हो चुका है। अनेक

---

3. रामचरितमानस, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ६५।

मतों के अनुसार यह रामलीला गोस्वामीजी द्वारा आरंभ की गई मानी जाती है।

अस्सी की यह रामलीला देश की प्रसिद्ध रामलीलाओं में से एक है, जिसकी लीलाभूमि भी बहुत विस्तृत है। अस्सी से सोनारपुर तक की भूमि अयोध्या मानी जाती है और अयोध्या में घटित रामचरित की लीलायें इसी क्षेत्र में नियत स्थलों पर होती हैं। इसी भूमि में काशी का अवध मुहल्ला भी बसा हुआ है। इस लीला में दुर्गाकुंड भगवान राम को नौकापार कराने में गंगाजी की भूमिका का निर्वाह करता है। यहाँ भगवान राम के वनगमन का मार्ग भी बहुत लम्बा है। वह दुर्गाकुण्ड से संकटमोचन के पिछवाड़े होता हुआ काशी विश्वविद्यालय तक जाता है। विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार के निकट ही पंचवटी की लीलायें होती हैं। इसके उपरान्त लंका की लीलायें जिस मुहल्ले में होती हैं वह आज भी 'लंका' के नाम से ही प्रसिद्ध है। इस मुहल्ले की विशेषता यह है कि रामायण के वर्णन के अनुसार जैसे त्रिकूटाचल पर्वत के अंक में लंका त्रिभुजाकार बसी है वैसे ही यह लंकामुहल्ला भी त्रिभुजाकार है। यहां राम और रावण के सिंहासन, विभीषणकूप और जानकीमन्दिर आदि कई प्राचीन स्थल हैं जो गोस्वामीजी के सामने के ही निर्मित कहे जाते हैं।

रामलीला के लिये केवल काशी में ही नहीं, प्रायः प्रत्येक प्राचीन नगर में इसी प्रकार दूर-दूर लीला-स्थलों का निर्माण किया गया है। मथुरा में वनगमन की लीला जिस स्थल पर होती है वह स्थल आज भी मथुरानगर में 'चित्रकूट की बगीची' के नाम से प्रसिद्ध है। रामलीला के क्षेत्र को इस प्रकार विस्तृत बनाकर अधिक से अधिक जन-समूह को उसकी ओर आकर्षित करने के साथ-साथ रामलीला के आयोजकों ने उसके प्रति अधिकाधिक जनता का अपनत्व स्थापित किया था और उसके हृदय को छू लेने की विधि निकाली थी।

काशी की दूसरी प्राचीन रामलीला 'लाट भैरव की रामलीला' है। इस लीला के आयोजकों और प्रेमियों का मत है कि यही गोस्वामीजी द्वारा स्थापित काशी की प्रथम रामलीला है। यह रामलीला भी काशी में बड़ी भव्यता और

सरसता के वातावरण में सम्पन्न होती है।

तीसरी प्रसिद्ध रामलीला काशी की चित्रकूट की रामलीला है। इसके सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ इसे गोस्वामीजी से भी पुरानी मानते हैं और कहते हैं कि यह पहले 'मेघाभगत की रामलीला' के नाम से प्रसिद्ध थी। परन्तु कुछ इसे गोस्वामीजी के देहावसान के बाद उन्हीं के एक अनन्यभक्त पीपाजी द्वारा तुलसीदासजी की स्मृति में आरम्भ की हुई मानते हैं। गोस्वामीजी के स्वर्गवास से पीपाजी को असह्य वेदना हुई और वे बिना कुछ खाये पिये संकटमोचन पर जाकर पड़ गये। वहां उन्हें अयोध्या जाने की अन्तःप्रेरणा हुई और अयोध्या से लौटकर उन्होंने इस लीला को आरंभ किया। इस लीला की 'सुमेरु की झांकी' और 'भरत मिलाप' पूरी काशी में प्रसिद्ध है।

रामनगर की रामलीला

काशी की इन रामलीलाओं का पूर्ण रूप से विकसित राजसी रूप और वैभव गोस्वामीजी के निधन के उपरान्त काशी नरेश द्वारा स्थापित रामनगर की लीलाओं में देखने को मिलता है। रामनगर की यह रामलीला पूरे देश में अपनी विशिष्टता के कारण प्रसिद्ध है। यह रामलीला काशी-नरेश द्वारा क्यों आरंभ की गई, इस सम्बन्ध में एक रोचक अनुश्रुति काशी में प्रसिद्ध है।

कहा जाता है कि काशी नरेश रामलील, के बड़े प्रेमी थे और वे नियमपूर्वक प्रतिदिन अस्सी की रामलीला देखने जाया करते थे। एक बार ऐसा संयोग हुआ कि रामलीला के अवसर पर ही काशी के युवराज बीमार पड़ गए। एक दिन उनकी हालत बहुत चिन्ताजनक थी इसलिए काशी-नरेश उस दिन रामलीला में बैठने की स्थिति में न थे। वे केवल भगवान के दर्शन करने ही लीला में पधारे और तुरंत लौटने की इच्छा प्रगट की। महाराज की यह मनोदशा देखकर लीला के आयोजकों ने उन्हें विश्वास दिलाया कि भगवान राम की कृपा से युवराज का बाल भी बांका नहीं होगा। आप भगवान राम पर श्रद्धा और विश्वास रखकर निश्चिन्तता से पूरी लीला देखें। महाराज ने ऐसा ही किया और वे जब लीला देखने के उपरान्त अपने महल में लौटे तो यह देखकर उनको बड़ा विस्मय हुआ

कि इस बीच युवराज की हालत में काफी सुधार हो चुका था। इसके उपरान्त युवराज शीघ्र ही स्वस्थ हो गए। इस घटना ने महाराज को रामलीला का अनन्य भक्त बनादिया और उन्होंने स्वयं गंगा पार की रमणीक भूमि में राजसी सजधज से बड़ी सुरुचि सम्पन्नता के साथ रामनगर में रामलीला आरंभ कराई जो आज भी इस देश की सर्वश्रेष्ठ व सर्वाधिक प्रसिद्ध रामलीला मानी जाती है। भक्तों का विश्वास है कि रामनगर की रामलीला में स्वयं त्रेतायुगीय दिव्य आत्मायें पात्रों के रूप में प्रकट होकर प्रतिवर्ष लीला करती हैं। इस लीला में समय-समय पर घटित चमत्कारपूर्ण घटनाओं का विवरण भक्तजन बड़ी श्रद्धा और रुचि से सुनाते हैं। इस प्रकार वर्त्तमान समय में रामनगर की रामलीला को ही हम रामलीलाओं की इस माला की सबसे अधिक प्रकाशवान मणि कह सकते है। यह लीला ही तुलसीकालीन रामलीला का वर्त्तमान विकसित रूप प्रस्तुत करती है।

रामलीला की परम्परा का विस्तार

इस प्रकार काशी से आरम्भ होकर रामलीला की यह परंपरा रामचरित मानस की प्रतियों के समान ही सत्रर्व फैल गई। रामलीला की इस परम्परा के विस्तार में रामचरितमानस की लोकप्रियता, सुबोधता और सरसता ने बडा योग दिया। रामचरितमानस के छंदों तथा दोहा चौपाइयों की विशेपता यह है कि वे संगीत के सावारण ज्ञान से ही गाई जा सकती हैं। इसलिए रासलीला की भांति रामलीला के आयोजकों को रामलीला के लिए अभिनेता तैयार करने में अधिक कठिनाई नहीं होती। जहाँ रामलीला के पात्रों को व्यावसायिक आधार पर रखने और लंबे प्रशिक्षण देने की आवश्यकता होती है वहाँ रामलीला के पात्र साधारण प्रशिक्षण से ही अर्थ, पाठ और अभिनय के मोटे-मोटे तत्त्व सीख जाते हैं। रामलीला के सब पात्रों के लिए संगीत का ज्ञान भी अनिवार्य नहीं होता।

इसलिए आरंभ में रामलीला मंडलियों को व्यावसायिक आधार पर गठित नहीं किया गया। कलाकारों को अव्यावसायिक आधार पर एकत्रित करके प्रायः भाद्रपद मास में उनका लीला के लिए प्रशिक्षण आरंभ कराकर आश्विन मास

में हर नगर और हर गाँव में रामलीला आरंभ हो जाती है। इस प्रकार राम-लीला के आयोजकों ने पूरे देश में रामलीलाओं की धूम मचादी। इसका फल यह हुआ कि प्रत्येक रामलीला का आधार रामचरितमानस होते हुए भी आज प्रत्येक रामलीला का संयोजन, संयोजकों की अपनी रुचि, समय, साधन तथा कलात्मक स्तर के अनुसार पृथक-पृथक है। साथ ही, रामलीला के इन रूपों पर समय-समय पर जहां जिस रूप में जो वाह्य कलात्मक दबाव पड़े हैं उन्होंने उतना ही इस मंच को प्रभावित किया। यही कारण है कि रामलीला में राम-चरितमानस का पाठ कहीं व्यास गद्दी से सुनाई पड़ेगा और उसके आधार पर पात्रों द्वारा उनका अर्थ किया जाता दिखलाई देगा तो कहीं स्वयं स्वरूप ही रामचरितमानस का गायन करते सुनाई पड़ेंगे और उनकी व्याख्या व्यासजी समझाते मिलेंगे। परन्तु अधिकांश रामलीलाओं में मानस का पाठ तवले और हारमोनियम आदि साजों पर व्यासजी ही करते हैं और पात्र अभिनय की शैली में उनका अर्थ करते जाते हैं। कभी-कभी संवादों में प्रभावो-त्पादकता लाने के लिए स्वयं पात्र भी सस्वर मानस की चौपाइयों का पाठ करने लगते हैं। यही नहीं, तुलसी की चौपाइयों के साथ संवादों में प्राचीन कवित्त, सवैया आदि छंदों, राधेश्यामजी की रामायण के उद्धरणों तथा उसके साथ में उर्दू ढंग की शेरोशायरी भी रामलीला मंच पर सुनाई देगी। कहीं-कहीं रामलीला में सीताजी भी नौटंकी की शैली की लोकप्रिय धुन बहरेतवील में रावण को यह डाँट लगाती मिल जायेगी—" अरे रावण, तू धमकी दिखाता किसे, मुझे मरने का खोफ़ो ख़तर ही नहीं।"

कहीं आपको रामलीला में फिल्मी गीत या उनकी पेरोडियां भी रामकथा में जुड़ी मिल जायेंगी तो कहीं रावण की सभा में काली पोशाक पर हैट लगाये उसका दूत भी दर्शन दे जायेगा। यही नहीं, दशरथजी के हाथ में रिस्टवाच भी बंधी मिल जायेगी और हास्यरस के नाम पर संवादों में कहीं रावण का दूत लंका के द्वार पर अंगद 'हू आर यू' या 'हाऊ डू यू डू' पूछता भी सुनाई पड़ जायेगा।

हमारे पारसी रंगमंच ने भी रामलीला को पूरी तरह प्रभावित किया है

और उसके प्रभाव से अधिकांश रामलीलाओं में पर्दों का प्रयोग इतना बढ़ गया है कि उसने उसके खुले मंचीय रूप में भारी विकृति लादी है। कहीं-कहीं तो रामलीला एक विकृत ढंग का पारसी थियेटर ही बनकर रहगई है।

भारत की राजधानी दिल्ली की रामलीला की यहां के पत्रों में बड़ी चर्चा रहती है क्योंकि उसमें राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा अन्य मंत्री प्रायः बुलाये जाते हैं, परन्तु यहां की जो सबसे प्राचीन रामलीला है उसकी दशा बहुत ही दयनीय है। यहां भगवान राम की लीला पर अधिक जोर न दिया जाकर शाम और रात्रि को निकलनेवाले झांकियों के जुलूस को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है और उन्हीं में पानी की तरह पैसा बहाने को ही संयोजक लोग अपना प्रमुख कार्य मान बैठे हैं। यहां की रामलीला में राम का पात्र क्षत्रियों के किसी परिवार से चुना जाता है और जो परिवार रामलीला को सबसे अधिक धन देता है, आयोजक प्रायः उसी परिवार के बच्चे को राम बनालेते हैं क्योंकि यहां की लीला एक प्रकार की मूक लीला है। उसमें पात्रों को अर्थ पाठ कुछ नहीं करना होता। यह कार्य प्रायः आकाशवाणी के कलाकार अलग एक माइक से करते रहते हैं और जनता को यह समझाते रहते हैं कि रामलीला में अब क्या हो रहा है अथवा होने वाला है। इस प्रकार की मूक लीलायें जो केवल रामचरित की लीलाओं को मुख्य रूप से झांकी बना बना कर ही दर्शकों को दिखलाई जाती हैं, अन्य नगरों में भी होती हैं। परन्तु उत्तरप्रदेश, राजस्थान और मध्यप्रदेश आदि प्रांतों में रामलीला बहुत व्यवस्थित ढंग से होती है। राजस्थान में उदयपुर, जयपुर तथा भरतपुर की रामलीलायें बहुत सुन्दर ढंग से होती हैं। उत्तरप्रदेश में काशी की रामलीलाओं के अतिरिक्त अयोध्या, चित्रकूट, मथुरा आदि अनेक नगरों की रामलीलायें अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं।

देश भर में जहां भी रामलीलायें होती हैं वहां विजयादशमी के दिन सभी स्थलों पर रावणवध होता है, परन्तु लीला आरम्भ की तिथियां प्रत्येक स्थान पर अलग अलग हैं। दिल्ली में रामलीला नौदुर्गा के आरंभ के साथ प्रारंभ होती है परन्तु यू०पी० तथा राजस्थान आदि में यह लीला प्रायः श्राद्ध पक्ष में ही आरंभ

हो जाती है। जहां लीलायें पहले से आरम्भ हो जाती हैं वहां वे रामचरितमानस के आधार पर अधिक व्यवस्थित ढंग से की जाती हैं परन्तु जहां रामलीला कम दिनों में ही पूरी की जाती है वहां मुख्य लीलाओं को दिखलाकर ही दशहरा को रावणवध कर दिया जाता है। रावणवध के दूसरे दिन भरतमिलाप होता है। कहीं तो भरतमिलाप के उपरान्त उसी दिन रात को राज्याभिषेक की लीला करके उसे समाप्त कर दिया जाता है और कहीं-कहीं भरतमिलाप के दूसरे दिन राजगद्दी होती है। राज्याभिषेक के साथ ही रामलीलाओं का यह क्रम समाप्त होजाता है।

मुख्य रूप से रामलीलाओं की प्रदर्शन-पद्धति इस प्रकार है—

रामलीला का प्रारम्भ प्रायः अधिकांश स्थानों पर मुकुट पूजन से होता है। इस दिन रामलीला के पात्र पहले पौराणिक परम्परा के अनुसार पूजन करते हैं फिर उनका वरण-बंधन होता है। इसके उपरान्त रामलीला आरम्भ होजाती है। अधिकांश स्थलों पर रामलीला के आरम्भ के दिन पहले कोई न कोई सवारी निकलती है। जहां सवारी नहीं निकलती वहां नारदजी हाथ में वीणा लिये नगर में घूम घूम कर रामलीला के आरम्भ की घोषणा करते हैं। अधिकांश रामलीलायें रामजन्म से आरम्भ होकर राज्याभिषेक के साथ समाप्त हो जाती हैं। प्राचीन नगरों में रामलीला पन्द्रह वीस दिन तक चलती थी। रामलीला के वीच वीच में अलग-अलग नगरों की प्रथा के अनुसार सवारी व जुलूस निकलते हैं। रामचंद्रजी की वरात प्रायः सभी स्थानों में बड़ी धूमधाम से निकाली जाती है। आगरा की रामलीला की वरात उत्तरप्रदेश में प्रसिद्ध है।

आजकल रामलीला के प्रायः तीन रूप प्रचलित हैं। कहीं-कहीं रामलीला मेले के रूप में होती है। ऐसी लीलाओं में सवारी, जलूस, झांकी, आतिशबाजी और उछलकूद पर ही मुख्य रूप से ध्यान दिया जाता है। यहां रामलीला के संदेश, लीलाओं की सुकरता आदि पर वल नहीं दिया जाता। दिल्ली की बड़ी रामलीला इसी कोटि की रामलीला है।

रामलीला का दूसरा ढंग वह है जो रामनगर की रामलीला को आदर्श

मानकर खड़ा हुआ है। वहां लीला, अर्थ, पाठ, वेशभूषा आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है परन्तु सवारी निकालने, आतिशबाजी और चमकदमक का भी इन लीलाओं में ध्यान रखा जाता है। काशी, मथुरा, उदयपुर, जयपुर, जबलपुर, कोटा आदि की रामलीलायें इस प्रकार की हैं।

देश में कुछ रामलीलायें ऐसी भी हैं जो रामलीला को मेले के रूप में भी करती हैं और लीला के रूप में भी। ऐसे स्थलों की रामलीलाओं में हम मथुरा की रामलीला का उल्लेख कर सकते हैं। वहाँ सीताहरण से रावणवध तक की लीलायें दिन में महाविद्या के मैदान में एक बड़ा वाड़ा तैयार करके मेले के रूप में की जाती हैं, और रात्रि में फिर वही लीलायें चित्रकूट की बगीची में लीला के रूप में आयोजित होती हैं।

तीसरे ढंग की रामलीला को हम थियेटरी रामलीला कह सकते हैं। यह रामलीला पारसी रंगमंच के कारण प्रभाव में आई है। इसमें पारसी ढंग का मंच और पर्दे बांधकर रामलीला की जाती है। ऐसी रामलीलाओं में रामचरित मानस की चौपाई, राधेश्याम की रामायण, उर्दू की शेरोशायरी तथा फिल्मी नाच गाने का समावेश रहता है। यह रामलीला एक हल्केफुल्के ढंग का मनोरंजन तो करती है किन्तु कोई उच्च सांस्कृतिक धरातल प्रस्तुत नहीं कर पाती न इसके द्वारा रामचरित की विशेषताओं का ही प्रतिपादन हो पाता है।

व्यावसायिक रामलीला मंडलियाँ

आरम्भ में रामलीला अनेक रूपों में प्रचलित रहकर भी अव्यावसायिक कलाकारों का परम्परागत मंच था, किन्तु जबसे देश में पारसी रंगमंच का विकास हुआ तबसे उसमें रामचरित को भी आंशिक रूप से महत्त्व मिला तो राधेश्यामजी कथावाचक की रामायण ने रामलीला और पारसी रंगमंच में अधिक तालमेल बढ़ाया। इस रामायण से प्रभावित कुछ लोगों ने उक्त थियेटरी राम-लीला का आरंभ किया। पहले ये रामलीलायें प्रायः विजयादशमी पर होती थी। जो लोग पारसी ढंग के नाटक प्रस्तुत करते थे वे क्वार के मास में कुछ ऐसे स्थानों की रामलीला-समितियों से रामलीला करने के भी ठेके कर लेते थे, जिनके पास

स्वयं रामलीला करनेवाले कलाकारों का अभाव होता था।

फल यह हुआ कि कुछ ऐसे अभिनेता जो अपने नगरों की रामलीला समितियों के प्रबन्धकों से सन्तुष्ट न थे या जो स्थानीय रामलीलाओं से इस आर्थिक युग में भी अच्छे लाभ की आशा नहीं रखते थे उन्होंने अपने अन्य संगी साथियों के सहयोग से व्यावसायिक आधार पर रामलीला-मण्डलियां बनालीं। अकेले मथुरा नगर में ही चतुर्वेदियों द्वारा स्थापित इस प्रकार की तीन-चार मण्डलियां हैं जिन्होंने रामलीला के प्रदर्शन को ही अपना व्यवसाय बना लिया है। पहले ये मण्डलियां केवल क्वार में ही बाहर जाती थीं और काफी अच्छा आर्थिक लाभ प्राप्त करती थीं। काशी, अयोध्या आदि स्थानों में भी इसी प्रकार की अनेक व्यावसायिक मंडलियां हैं। दिल्ली के सुभाषमैदान, गांधीमैदान आदि में जो नवीन रामलीलायें स्थापित हुई हैं उन्हें नियमित रूप से मथुरा की रामलीला-मंडलियां ही करती आरही हैं।

रामलीला की झाँकी

इन रामलीला मण्डलियों के अतिरिक्त चित्रकूट, अयोध्या आदि के कुछ साधुओं ने रामलीला की झाँकी सजाने की एक और परम्परा बनाई है। ये लोग सुन्दर गोरे लड़कों को राम, लक्ष्मण और सीता के रूप में शृङ्गारित कर किसी भक्त के घर से उनकी झाँकी आरंभ करते हैं और नगर नगर घूमते रहते हैं। झाँकी के आरम्भ में ये लोग कुछ रामकथा का गायन तथा भजन कीर्त्तन करते हैं और अन्त में भगवान राम उपस्थित समुदाय में रटारटाया संदेश सुना देते हैं। इस प्रकार जिसके यहां झाँकी सजाई जाती है उस भक्त से तथा झाँकी में दर्शनार्थ आनेवाले उसके इष्टमित्रों से इन झाँकियों के संयोजकों को अच्छा चढ़ावा तथा भोग प्रसाद आदि प्राप्त हो जाता है।

वर्तमान स्थिति

आज के अर्थयुग में जहां हर वस्तु का मूल्यांकन आर्थिक आधार पर होने लगा है वहां समाज के हृदय में भी आस्था की कमी होती जारही है। इन सब का प्रभाव कलाक्षेत्र में भी देखा जारहा है और हमारा रामलीला मंच भी उससे

अप्रभावित नहीं है। पहले अभिनेता अपने यश और सम्मान के लिये ही रामलीला में पूरी रुचि और लगन से भाग लेता था। यही नहीं, तब ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो अपने पास से यथेष्ट धन भी व्यय करते थे और स्वयं रामलीलाओं में अभिनय भी किया करते थे परन्तु आज की बदली परिस्थितियों में यह बहुत सम्भव नहीं रहा है। फल यह हुआ कि रामलीलाओं के अभिनेताओं में और आयोजकों में जो सौमनस्य रहा करता था अब धीरे-धीरे उसमें भी कमी आगई है और इसका प्रभाव रामलीलाओं के स्तर पर भी प्रतिकूल हुआ है। इधर सिनेमा के प्रति बढ़ते हुए आकर्षण तथा हमारी शिक्षा दीक्षा और संस्कारों पर पड़े पाश्च्यात्य प्रभाव ने समाज के एक बहुत बड़े वर्ग में इन आयोजनों के महत्त्व को हृदयंगम करने की सामर्थ्य को भी बड़ी ठेस पहुंचाई है। साथ ही नगर-नगर में रामलीला के आयोजनों की संख्या भी गत वर्षों में बहुत बढ़ी है जिसके कारण रामलीलओं के अव्यावसायिक कुशल अभिनेता भी बढ़ गए हैं। ऐसे अनेक कारण हैं जिनसे रामलीलाओं की संख्या बढ़ने के साथ-साथ उनके स्तर में भारी ह्रास हुआ है। अधिकांश रामलीलायें आज रामचरित में निहित आदर्शों की स्थापना के उद्देश्य में असफल होकर केवल एक बच्चों का मेला बनकर रह गई हैं।

ऐसी दशा में यह आवश्यक होगया है कि आज के युग की आवश्यकताओं के अनुरूप रामलीलामंच का पुनः सांस्कृतिक आधार पर पुनर्गठन हो। परन्तु यह एक कठिन कार्य है और इस कार्य को पूरा करना किसी एक व्यक्ति का काम नहीं लगता। ऐसी दशा में इसके लिए व्यवस्थित रूप से प्रयत्न किया जाना आवश्यक है।

सौभाग्य की बात है कि देश में स्वतंत्रता के आगमन के उपरान्त हमारे रंगमंच के क्षेत्र में एक नवीन चेतना का संचार हुआ है परन्तु दुर्भाग्य है कि हमारे रंगकर्मी नये मंच के निर्माण, परीक्षण तथा अन्य मंचीय ऊहापोह में तो फंस रहे हैं परन्तु हमारे जीवित और जागृत मंच रामलीला और रासलीला के लिये अभी वे कुछ कर पाना तो दूर उनकी ओर पूरी तरह आकर्षित भी नहीं हुए हैं। वे अपने प्रेरणा के स्रोत पश्चिम में खोजते हैं, अपने लोकमंचों में नहीं।

भारतीय कलाकेन्द्र, दिल्ली ने अवश्य रामलीला नाम से एक आपेरा तैयार करके इस सम्बन्ध में पहल की और उसका यह आपेरा बड़ा लोकप्रिय भी हुआ है क्योंकि आज का तथाकथित पढ़ा लिखा माना जानेवाला समाज तो उससे इसलिए प्रभावित होजाता है कि इस आपेरा का आधार पाश्च्यात्य टेक्नीक है और उसकी रंगविरंगी साजसज्जा और नृत्य राम की लोकप्रसिद्ध कथा के माध्यम के कारण उसे पसन्द आते हैं। जो साधारण स्तर के रामकथा के दर्शक वहाँ जाते हैं वे उस मंच की भव्यता तथा दृश्यविधान के आकर्षण में वैसे ही खो जाते हैं, जैसे पहले लोग फारसी रंगमंच में लवलीन हो जाते थे।

परन्तु रामलीला का यह आपेरा हमारी दृष्टि में न तो तुलसी की उस आध्यात्मिक भावना का ही स्पष्टीकरण कर पाता है और न इसका यह नृत्यप्रधान रूप ही रामचरित के आदर्श के अनुरूप है।

होसकता है कि हमारे उक्त मत से सब सहमत न हों परन्तु यह तथ्य तो सभी स्वीकार करेंगे कि भारतीय कलाकेन्द्र ने रामलीला के नाम पर जो मंच खड़ा किया है उससे हमारा वर्त्तमान रामलीलामंच किसी प्रकार की कोई प्रेरणा या दिशानिर्देश नहीं ले पायेगा। ढ़ाई या तीन घन्टे के प्रदर्शन में पूरे रामचरित को उचित रूप में करने की वात सोच पाना भी हमें तो एक कल्पना सी ही प्रतीत होती है। भारतीय कलाकेन्द्र की रामलीला में कहीं दृश्यों का अनावश्यक विस्तार तथा कहीं कथा की विश्रृङ्खलता आरम्भ से अन्त तक खटकती ही रहती है। हां यदि रामचरित की कुछ घटनाओं को जोड़कर उसका एक अंश ही ढाई तीन घण्टे में प्रस्तुत किया जाता तो वह कदाचित उसके वर्त्तमान रूप से अधिक प्रभावशाली हो सकता था। अस्तु !

हमारा अभिप्राय यहां किसी मंचीय रूप की समालोचना करना नहीं है। हम तो यहां केवल यही कहना चाहते हैं कि रामलीला हमारे देश का एक महत्व-पूर्ण मंच है और इसे आजकी आवश्यकताओं के अनुरूप पुनर्गठित करना परमा-वश्यक है। इस ओर हमारी नाट्य संस्थाओं को और रंगकर्मियों को ध्यान देना चाहिए। रासलीला और रामलीला हमारे देश के दो ऐसे मंच हैं जिन्हें

केवल जनपदीय या क्षेत्रीय लोकरंगमंच कहकर ही उपेक्षित नहीं किया जासकता। ये दोनों मंच यदि सच पूछा जाय तो भारतीय जनता के प्राचीनतम राष्ट्रनायकों के चरित्रचित्रण करनेवाले राष्ट्रीय रंगमंच हैं। इन मंचों को आधार मानकर यदि आधुनिक राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण की ओर भी ध्यान दिया जाय तो हमारा भारतीय रंगमंच भी इससे अपनी बहुत सी समस्याओं का समाधान पा सकता है और बहुत शीघ्र विकसित किया जा सकता है।

रासलीला में कृष्ण-राविका

कठपुतली : काठ और कला

रासलीला

डॉ० श्याम परमार

पिछले कुछ वर्षों में रास सम्बन्धी अनेक रचनाओं की खोज हुई, जिनपर कई दृष्टियों से विचार किया गया। रास संज्ञक ये रचनाएँ बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हुईं। यद्यपि अध्ययन विशेष रूप से नहीं हुआ तथापि इन्हें साधारणतया काव्यरूपों के अन्तर्गत एक विधा के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

इसी परम्परा में 'रासक', 'रासउ', 'रासा', 'रासो' आदि शब्दों का कालान्तर में प्रचार हुआ। समय-समय पर निर्धारित पारिभाषिक अर्थों के संदर्भों में आचार्यों ने जब-जब अपने विचार व्यक्त किये तब-तब इनके मानदण्ड भी बदले।

'रसानां समूहो रासः' के अनुसार रास रसों का समूह है। महारास में कृष्ण के अनेक रूपों की कल्पना और दो गोपियों के मध्य एक-एक कृष्ण की अवस्थिति एक रसपूर्ण आयोजना है। वहां भी रास में नृत्य, अभिनय और संगीत

द्वारा रस की सृष्टि की जाती है। एक मत के अनुसार वह नृत्य रास है, जिसमें कृष्ण गोपियों के साथ मण्डलाकार नृत्य करते हैं। डॉ० कंकड़ का कथन है कि रस शब्द की उत्पत्ति 'रस' से नहीं, अपितु 'रास' से है जिसका तात्पर्य नृत्य के मध्य में जोर से चिल्ला उठने से है, जैसा कि आजकल ग्रामीण लोकनृत्य अथवा आदिवासी नृत्य में देखा जाता है। डा० दशरथ ओझा का मत है—"रास शब्द संस्कृत भाषा का नहीं है, प्रत्युत देशी भाषा का है, जो संस्कृत बन गया और देशी नाट्य-कला को, जो रास के नाम से प्रसिद्ध थी, 'रास' के नाम से ही संस्कृत ग्रन्थों में उद्धृत कर दिया गया। रास के देशीय होने का अनुमान इस बात से भी होता है कि रासो और रासक नाम से राजस्थानी में इसका प्रयोग भी मिलता है और वह रास, जिसका विशेष सम्बन्ध गोपियों से है, ग्वालों में प्रचलित कोई देशीय नाटक हो सकता है, जो संस्कृत नाटक से अपहृत नहीं माना जा सकता। रस की परिभाषा व्याख्या का विषय है, तो भी 'रस' रास का मूलतत्व है। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी वीरगाथाकालीन 'रासो' का सम्बन्ध 'रासक' से बताते हैं। शुक्लजी ने लिखा है— 'वीसलदेवरासो' में काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार-बार आया है। अतः हमारी समझ में इसी 'रसायण' शब्द से 'रासो' हो गया है।[1] कदाचित् रस शब्द से परिपूरित होने के कारण वीरोचित लीलाओं के ग्रन्थ रासो कहलाने लगे हों। हो सकता है उसमें अभिनय का समावेश भी हुआ हो। भरत के नाट्यशास्त्र में रास का उल्लेख 'क्रीड़ा नृत्य' के संदर्भ में किया गया है—

क्रीडनीयकमिच्छायां दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्।[2]

भरतमुनि के अनुसार 'रासक' एक उपरूपक है। उन्होंने रासक के तीन भेद—तालरासक, दण्डरासक और मण्डलरासक बताये हैं।[3] हेमचन्द्र के काव्या-

---

1. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३२।
2. नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय।
3. दशरूपकम् १।९ की धनिककृत टीका।

नुशासन के अनुसार रासक गेयरूपक है। धनिक ने रास का निर्देश सात उपरूपकों में किया है।[4] अग्निपुराण में जिन सत्रह उपरूपकों के नाम उपलब्ध हैं, उनमें 'नाट्यरासक' और 'रासक' के नाम अलग-अलग हैं। भावप्रकाश में प्राप्त बीस, नाट्यदर्पण में उल्लिखित चौदह और साहित्यदर्पण में वर्णित अठारह उपरूपकों में इस विद्या की जानकारी मिलती है। भावप्रकाश में तनिक विस्तार से लिखा गया है। उसके अनुसार रासक में एक अंक, नांदीपाठ, पांच पात्रों का विधान, मुख, प्रतिमुख और निर्वहण संधियों का प्रयोग, कौशिकी और भारतीय वृत्तियों का निर्वाह, मूर्ख नायक और योग्य नायिका, विभिन्न भाषाओं का प्रयोग, वीथ्यंक आदि आवश्यक हैं। साहित्यदर्पण ने भी इन्हीं लक्षणों का उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में नाट्य तनिक अलग है। उसमें एक अंक, बहुताल-लय स्थिति, उदात्त नायक, उपनायक, शृंगार और हास्यरस, वासक-सज्जा और लस्यांगों का नियोजन रहता है।

विश्वनाथ के समय तक नाट्य-रासक और रासक के भेद स्पष्ट हो गये थे। इनमें नृत्य के साथ संगीत और अभिनय भी समाहित हुए। लोकभाषा का सहज उपयोग होने लगा था। प्राय: लोकप्रसिद्ध नायकों पर आधृत ये उपरूपक विशेष उत्साह के साथ प्रदर्शित किये जाते थे। नृत्य यों भी इस कोटि के मनोरंजनों में आवश्यक थे। बाण ने हर्षचरित में मंडलाकार नृत्य के लिए 'रासक' शब्द का प्रयोग किया है।[5] आजकल इस शैली के लोकनृत्य राजस्थान—मारवाड़, ब्रज, सौराष्ट्र-मालवा और दक्षिणभारत में मिलते हैं। इनका सम्बन्ध निश्चय ही नाट्यशास्त्र में वर्णित[6] तालरासक दण्डरासक और मंडलरासक से रहा होगा। तालरासक तालबद्ध नृत्य है। नाट्यशास्त्र की दृष्टि से तालरासक में भाट जाति निपुण बतायी जाती है। राजस्थान के भाट आश्रित अथवा पेशेवर

---

4. अग्निपुराण, ३२८ अध्याय।
5. हर्षचरित चतुर्थ उच्छ्वास।
6. तालरासकनाम स्यात् तत्त्रिधा रासकं स्मृतम्।
   दण्डरासकमेकन्तु तथा मण्डलरासकम्॥

यश-वर्णन करनेवाली जातियों में गिने जाते रहे हैं। किसी समय वे नृत्य-गान में निपुण रहे होंगे।

उपदेश रसायन में 'तालरासु' 'लकुटा' या 'लड़्डारासु' का उल्लेख है। 'तालारासु विदिति विरयग्गहिं दिवसि लडड़ा रसु सहुं परिसिहिं'। इनका जिक्र कपूरमंजरी में भी उपलब्ध है। वागल ने वाघगुफा के एक चित्र को 'लड़्डा रास' की अनुकृति बताया है। यह स्पष्ट है कि राससंज्ञक नृत्य में तालियों का, डंडा खेलने की क्रियाओं का समावेश हो गया था। जैन–मन्दिरों में भी श्रावक लोग रात्रि में तालियाँ बजा बजा कर रास गाते थे। बाद में जीवहत्या के भय से उसे बन्द कर दिया। इस तरह के नृत्य १४वीं शताब्दी के जैन मन्दिरों में पुरुषों और स्त्रियों द्वारा किये जाते थे। बाद में ये अनुचित बताकर बन्द कर दिये गये।[7]

दण्डरासक दण्डों से किया जाने वाला नृत्य है। जिनदत्तसूरि ने इसे लकुट-रासक की संज्ञा दी है। 'सप्तक्षेत्र रास' में 'दण्डरासक' करने वाली जाति नर्तक बतायी है। सूरि ने दण्डरासक देखना वर्ज्य घोषित किया था। राजस्थान का 'डंडिया' नृत्य इस कोटि में आता है। मारवाड़ में इसे 'डिण्डिया' या 'डाँडियाँ' कहते हैं। डाण्डिया नृत्य के अन्तर्गत लगभग बीस-पच्चीस पुरुषों की एक टोली वर्तुलाकार नृत्य करती है। नाना प्रकार के वेषों से सज्जित नर्तक दोनों हाथों में लम्बी-लम्बी छड़ियाँ लेकर नाचते हैं अथवा छड़ियों को बजा कर क्रमबद्ध ध्वनि उत्पन्न की जाती है। 'हाथों में धारण किया हुआ दण्ड कभी तो विपरीत दिशा-स्थित व्यक्तियों के डण्डों से पृथक-पृथक बजता है तथा कभी एक साथ ही एक व्यक्ति दोनों हाथों के डण्डों को वामदिशा के बन्धु से तथा पुनः दक्षिण दिशा के व्यक्ति से ध्वनित करता है।' नाट्य की दृष्टि से इस नृत्य की विशेषता यह है कि प्रत्येक नर्तक, राजा, बनिया, साधु, जाट-जाटनी, कृष्ण-रानी, शिवशंकर,

---

7. देखिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका में अगरचन्द नाहटा का लेख, वर्ष ५८, अंक ४, पृ० ४२०।

सिन्धन या बंगालिन, सीता, राम आदि के वेष बना कर मैदान में आते हैं। ये शृंगार बहुरूपियों से होते हैं और प्रायः राजस्थान की परम्परागत वेशभूषा में किये जाते हैं। सौराष्ट्र में यही नृत्य किंचित अलग रूप में प्रचलित है। स्त्रियाँ इसे दण्डों की सहायता से वृत्ताकार नाचती हैं। मुगलों के शासनकाल में वल्लभाचारी स्वामी हरिदास, घमंडदेव और नारायण भट्ट प्रभृति अनेक संतों ने इसे नवीन रूप दिया। अष्टछाप का उस पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। ब्रज के माध्यम से उसका संगीत मुखर हुआ। कहते हैं, उस समय वल्लभ नामक नर्तक ने रास के उत्थान में बड़ा योग दिया। नाभादास के 'भक्तमाल' में वल्लभ के सम्बन्ध में निम्न पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

नृत्यगान गुन निपुन, रास में रस बरसावत।
निजलीला ललितादि, बालित दंपतिहिं रिझावत॥
अति उदार विस्तार, सुजस ब्रजमंडल राजत।
महामहोत्सव करत, बहुत सबही सुख साजत॥
श्रीनारायण महाप्रभु परम प्रीति रस बस किये।
ब्रज-वल्लभ परम दुर्लभ सुख नैनन दिये॥

रास का यही रूप 'गरवा' में लक्ष्य किया गया। यह भी कहा जाता है कि घूमरनृत्य से 'गरवा' की उत्पत्ति हुई। क्षत्रपों ने 'गरवा' को संवारा। "फागुन की चाँदनी रातों और नवरात्रियों में गरवा खिलता है।" 'सीथियन' और 'हूण' जाति के नृत्यों की शैली के अनुरूप 'गरवा' की रमक है। गीत के साथ हाथों की तालियों या डंडियों की ताल पर जब 'गरवा' नाचा जाता है तब का दृश्य अत्यन्त रमणीय लगता है। "स्पष्ट है कि नृत्य की प्रवृत्ति वैष्णवीय है।" शाक्तों ने इसमें कुछ अनुष्ठान और जोड़ दिये। शक्ति का प्रतीक 'गरबा घट' (जो 'घटदीप' या 'गर्भदीप' का द्योतक है) शाक्तों की ही देन है। उत्तर-भारत में प्रचलित 'गरवा' इसी से प्रभावित है। "मध्ययुगीन गुजराती-साहित्य में लम्बे 'गरवों' की रचना हुआ करती थी।" वल्लभरचित ऐसे अनेक 'गरवे' हैं, जिन्हें गाना आज पर्याप्त कठिन है। सन् १६०० ई० के आसपास दयाराम ने अनेक छोटे

'गरबों' की रचना की, जो आज भी प्रचलित हैं।

लकुटरास अथवा तालरास के निकट इस नृत्यरूप का दूसरा भेद 'गरबी' है, जिसे गुजरात में पुरुष नाचते हैं। 'रास' अथवा 'रासड़ा' प्राय: इसी तरह के नृत्यों के लिए गुजराती में प्रचलित पर्याय हैं।

मंडलरासक सामूहिक पुरुपनृत्य दंडरासक (अथवा गरबी) के बहुत निकट है। मालवा में इसे ही 'अण्टया रमण्या' कहते हैं। "अहीरों के मण्डलाकार नृत्य, ब्रज के 'ढ़ाड़ा-ढ़ाड़ी' नृत्य इसी रासक का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस तरह के नृत्य के कई प्राचीन चित्र भी मिलते हैं।"

'हल्लीशक' नामक नृत्य इसी मण्डलरासक का एक भेद है। 'भरत' ने दोनों की चर्चा की है। वात्सायन ने इसका उल्लेख किया है—हल्लीशक क्रीड़ेन के गायेन:। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका करते हुए स्पष्ट शब्दों में हल्लीश नृत्य को मंडलाकार नृत्य बताया है—'मण्डलेन तु यन्नाट्यं हल्लीसकमिति स्मृतम्।' इससे ज्ञात होता है कि ६वीं शताब्दी तक दोनों नृत्यों में निहित भेद लुप्त हो गया होगा। "हर्षचरित के चतुर्थ अध्याय में इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं।" यह एक प्रकार का मंडलाकार नृत्य था, जिसके लिए 'हरिवंशपुराण' के एक टीकाकार ने 'चक्रवाल' एवं बाणभट्ट ने 'आवर्त्त' की संज्ञाएँ दीं। "सबसे पहले बाण ने ही इसे 'उपरूपक विशेष' बताया। अभिनवगुप्त ने भी इसे सभी का समकक्ष नृत्य माना है।" डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने हल्लीशक का उद्गम यूनानी नृत्य 'इलीशियन' से हुआ बताया। उनके अनुसार कृष्ण के रासनृत्य और हल्लीशक दोनों भिन्न परम्पराएँ थीं, पर ईसवी सन् के आसपास दोनों में सम्बन्ध हो गया।[8] यह सम्भव है कि ईसवी सन् के पूर्व लोकप्रचलित नृत्यों पर बाहरी प्रभाव पड़ा हो।

चाहे रासक को उपरूपक कहें अथवा नृत्य, उसमें नाटकीय तत्त्वों का बहुत कुछ समावेश हुआ। यों तो गेय रूप में जो भी कुछ जैनमुनि कहा करते थे, उसे

8. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन; पृ० ३२-३३।

रास कहा गया। हल्लीशक[1] शब्द के प्रयोग से रास के सम्बन्ध में बहुत प्रकाश पड़ता है। उसमें निहित शारीरिक हावभाव प्रदर्शन अथवा नृत्य-गमक इसी शब्दों से सम्बद्ध है। चूंकि कृष्ण-गोपियों के नृत्य एवं लीलाओं से सम्बन्धित नाट्यगत रूप रास में निहित माने गये, इसलिए कंकड़ जैसे विद्वानों ने रास का सम्बन्ध प्रधानतः नृत्य से ही माना। इतना ही नहीं उन्होंने पहले से चले आ रहे आदिम-नृत्य से उसका सम्बन्ध भी जोड़ लिया, क्योंकि 'रास' का एक अर्थ जोर से चिल्लाना भी है। वननृत्यों सी अनघड़ता रास में होगी तो उसे सुरुचि सम्पन्न व्यक्ति विधा रूप में स्वीकार ही क्यों करते ?

दूसरी ओर कृष्णलीलाओं में रास का खिलाव जानकर मैकडोगल ने भारतीय नाटकों की उत्पत्ति का आधार कृष्ण-भक्ति के प्रसार से ही माना।

भोज के सरस्वतीकंठाभरण और शृङ्गारप्रकाश में 'रास' संज्ञा का उल्लेख मिलता है। काव्यानुशासन में उसे 'रागकाव्य' की संज्ञा दी है। उसमें 'रासक' को 'गेयरूपक' भी बताया।

जैनसाहित्य के अक्षय भण्डार में जिन रासों का पता चला, उससे इस काव्य-विधा के सम्बन्ध में बहुत प्रकाश पड़ा। यद्यपि ११वीं शताब्दी तक रासों को गीत और नृत्य से अलग नहीं माना गया था, परन्तु आगे चल कर जैन-साहित्य में यह विधा गीत तक सीमित हो गयी। जैन श्रावकों ने नृत्य और अभिनय के महत्त्व को कम कर दिया। अतः इसके दो प्रधान तत्त्व लुप्त हो गये। १२वीं शताब्दी में 'रास' उपरूपक कहे गये। उस समय इनमें नये विषयों को प्रश्रय मिला। कथातत्व का प्रवेश हुआ। चरितों को महत्त्व दिया गया। श्रेष्ठ श्रावकों और उदार पुरुषों पर चरितकथाप्रधान रास रचे गये। इन्हें विविध छंदों में लिखने के कारण 'रासाबंध' संज्ञा दी गयी। आगे चल कर 'रास' और

---

1. भास ने 'हल्लीशक' शब्द रास के अर्थ में प्रयुक्त किया है जिसमें गोप-गोपिकाओं का साथ में क्रीड़ा करने का उल्लेख है —(भास नाट्यचक्रम: सी-देवधर, पृ० ५६८।४०)।

'रासा' एक ही छंद माना गया। यह परम्परा क्रमशः लोककाव्य के निकट आती गयी।

गीतनृत्यपरक धारा

खासकर १२वीं और १४वीं शताब्दी के बीच में रासग्रन्थों की बहुत रचना हुई। इसके पूर्व 'रासो' नाम से अभिहित रचनाएँ संस्कृत एवं प्राकृत में भी उपलब्ध नहीं होतीं। ये रचनाएँ अपभ्रंश में पहलेपहल आयीं, बाद में हिन्दी एवं गुजराती में लिखी गयीं। ये रचनाएँ गीतनृत्य एवं छंद वैविध्यपरक हैं। गीतनृत्यपरक धारा प्रधानतः गुजरात एवं राजस्थान में खूब प्रतिफलित हुई। दूसरी धारा पूर्वी राजस्थान एवं कुछ हिन्दीप्रदेशों में विकसित होती देखी गयी। 'रास' की दृष्टि से हम उन्हीं रचनाओं पर विचार करेंगे, जिनका संबंध नाट्य-विद्या से है। इस दृष्टि से छंदवैविध्यपरक रासो-धारा की किसी भी रचना का प्रणयन नृत्यनाट्य में नहीं हुआ। गीतनृत्यपरक रासो-धारा के अन्तर्गत कुछ रचनाओं का क्रम इस प्रकार है— (१) उपदेशरसायन (११४३ ई०)–रचयिता जिनदत्त सूरि—यह उपदेश की दृष्टि से लिखी गयी रचना है। इसमें कोई कथा नहीं। (२) भरतेश्वर बाहुबलीरास (११६४ ई०)—इसके रचयिता शालिभद्र सूरि हैं। इसमें ऋषभदेव के दो पुत्रों; भरतेश्वर और बाहुबलि, के बीच राजसत्ता के लिए संघर्ष की कथा है। (३) बुद्धिरास (११८४ ई०)—इसके रचयिता भी शालिभद्र सूरि हैं। इसका विषय भी 'उपदेशरसायन' की भांति जैन धर्मोपदेश है। (४) जीवदायारास (१२०० ई०)— इसके रचयिता आसगु हैं। इसका विषय दया-धर्म का उपदेश है। (५) चन्दनबालारास (१८०० ई० के लगभग) इसके रचयिता भी आसगु हैं। इसमें चन्दनबाला की धार्मिक कथा कही गयी है। (६) जम्बूस्वामीरास (१२०७ ई०)—यह रचना धर्मसूरि की है। इसमें महात्मा जम्बूस्वामी का चरित तथा गुण वर्णित है। (७) रेवतगिरिरासु (१२३१ ई० के लगभग)—यह कृति विजयसेन सूरि की है। इसमें गिरनार के जैन-मन्दिरों की कथा है। (८) नेमिजिणन्दररासो अथवा आबूरास (१२३२ ई०)—यह पाल्हण की कृति है। इसमें नेमिनाथ की कथा कही गयी है। (९) गयसुकुमाररास

(१२४३ ई० के लगभग)—यह देल्हणि की कृति है। इसमें गयसुकुमार का चरित वर्णित है। (१०) सप्तक्षेत्रिरासु (१२७० ई०)— इसके रचयिता अज्ञात हैं। इसमें जैन सप्त क्षेत्रों–जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा, ज्ञान, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका की उपासना वर्णित है। (११) पेथड़रास (१३०३ ई० के लगभग)—इसके रचयिता मंडलिक हैं। इसमें संघपति पेथड़ का चरित वर्णित है। (१३) कच्छूलिरास (१३०६ ई०)—इसके रचयिता का नाम अज्ञात है। इसमें एक जैन तीर्थ कच्छूलि ग्राम का वर्णन है। (१४) समरारासु (१३१४ ई० के बाद)—इसके रचयिता अम्बदेवसूरि हैं। इसमें संघपति समरा का चरित वर्णित है। (१५) वीसलदेवरास (१२९७ ई० के लगभग)—इसके रचयिता नरपति नाल्ह हैं। इसमें राजा वीसलदेव की स्त्री से रूठ कर उड़ीसा जाने की कथा है।[10]

कथानक की दृष्टि से भारतेश्वर बाहुबलीरास अभी तक सर्वप्रथम उपलब्ध रचना है। इसे हिन्दी का प्रथम रास माना जा सकता है। इसकी भाषा प्राचीन राजस्थानी और पुरानी गुजराती अथवा पुरानी हिन्दी अपभ्रंश की परवर्ती है। यद्यपि नाहटा ने 'भारतेश्वर बाहुबली घोर' (वज्रसेनसूरि रचित) को इससे भी पहले की रचना बताया है। यह वीररसपूर्ण प्रबन्ध है और इसके कई स्थलों पर नाटकीय संवादों की व्यवस्था है।

क्रम की स्थिति में पहले क्रीड़ात्मक, फिर नृत्यगीतमय और अन्त में गीत-मात्र (श्रव्यकाव्य) से सम्बन्धित रास उपलब्ध हैं।

जहाँ तक रास में वीरत्व के समावेश का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि ऐसे रासक उद्धतगेय रूपक की श्रेणी में आते हैं। उद्धत तत्त्व के कारण इन रचनाओं में वीरत्व का समावेश हुआ। कभी-कभी राज्य अथवा देश में रण की

---

10. हिन्दी-साहित्य कोश; डा० माताप्रसाद गुप्त की टिप्पणी से उद्धृत। इन रासों के अतिरिक्त अनेक रास और भी हैं जिनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक नहीं लगता। इतना अवश्य है कि शेष रचनाओं की परम्परा इन्हीं रचनाओं के अन्तर्गत आती है।

परिस्थिति बन जाने पर ही इस विधा का उपयोग हुआ लगता है। इसलिए कतिपय वीररस प्रधान काव्य रास अथवा रासो कहे गये। यह धारा छंदवैविध्य-परक रही और इसमें बहुत पीछे तक रचनाएँ होती रहीं।

प्राचीन गुजराती साहित्य में रास-ग्रन्थों की एक साहित्यिक परम्परा का उल्लेख कन्हैयालाल मुन्शी ने अपने ग्रन्थ 'गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर' (१९३५) में किया है। ईसवी सन् १११८ के 'नवतत्वभाष्य' में यही परम्परा अपभ्रंश साहित्य का अंग बतायी गयी। मुंशी का कहना है कि गुजरात में विकसित रास-परंपरा का सम्बन्ध 'भारतेश्वर बाहुबली' से है।

रासलीला की उत्पत्ति और विकास

धार्मिक ग्रन्थों में 'रास' दार्शनिक विचारों का स्पर्श पाकर ब्रह्म के पूर्ण स्वरूप से सन्निद्ध हो रहस्यमय स्थिति तक पहुँच गया। 'लीला' वस्तुतः एक क्रिया है यद्यपि लीला शब्द भी दार्शनिक परिभाषा में गूंथा जा चुका है। भगवान् रास रूप में हैं। रास में ही उन्हें आनन्द प्राप्त होता है। लीला रससृजन का माध्यम है। वही भगवान् की प्रेमस्वरूपा अभिव्यक्ति है।

'रासलीला' जैसा कि आरम्भ में कहा गया है, प्रचलित अर्थ में कृष्ण-चरित्र से सम्बन्धित नृत्य अभिनयात्मक विविध लीलाओं का द्योतक शब्द है। नृत्य के साथ आंशिक रूप में संवादों एवं प्रधान रूप से संगीत का इसमें प्रसार है। अतएव रासलीला कतिपय नाटक के तत्वों से अनुप्राणित होकर अपने लोकग्राही रूप में खुले रंगमंच की नाट्यसम्पत्ति बन गयी है।

भारतीय साहित्य एवं कला में कृष्ण एक ऐसे चरित्र नायक रहे हैं जो न केवल अपनी लीलाओं के लिए विख्यात हैं बल्कि दर्शन, साहित्य और राजनीति में भी उनका प्रवेश निस्संदेह प्रभावी रहा। मध्यकालीन उत्तरभारत में कृष्ण-लीलाएँ अपने लौकिक रंगमंच का विषय बनीं। रासलीला उसी परम्परा की संपत्ति है। इस रासलीला का सम्बन्ध न केवल श्रीमद्भागवत से है, बल्कि द्विवेदीजी का अनुमान है कि भागवत महापुराण में कृष्णलीला की जो परम्परा अभिव्यक्त हुई है उससे भिन्न एक और भी परम्परा थी, जिसका प्रकाश जयदेव के

गीतगोविन्द में हुआ। भागवत-परम्परा की रासलीला शरदपूर्णिमा को हुई थी। गीतगोविन्द परम्परा का रास वसन्तकाल में हुआ। सूरदास आदि परवर्ती भक्त-कवियों में ये दोनों परम्पराएं एक दूसरे से गूंथकर एक हो गयी हैं।[11] ब्रज तो इन लीलाओं का केन्द्र रहा है। द्वापर में भगवान् कृष्ण का आविर्भाव होते ही समय के पश्चात जन-जन में उनकी लीला अभिनय के रूप में प्रश्रय पाने लगी। दानलीला, मानलीला, माखनचोरी, ग्वालबालों के साथ ठिठोली आदि के अभिनय एवं अष्टछाप के कवियों की रचनाओं पर, विशेषतः सूर के पदों का आधार लेकर विविध लीलाएं की जाती रही हैं। १५वीं-१६वीं शताब्दी में ब्रजभूमि में यह परम्परा नये उत्साह के साथ प्रकट हुई। नन्ददास, ब्रजवासीदास, ध्रुवदास आदि भक्तों ने रासों की रचना कर रास-परम्परा के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। आजकल रास की अनेक पुस्तकें उत्तरभारत में मिलती हैं जिनमें कथोपकथन की गीतबद्ध शैली के साथ संगीत का निर्देश भी कहीं-कहीं उपलब्ध है। ब्रजवासीदास कृत 'ब्रजविलास' एवं नारायणस्वामी रचित 'ब्रजविहार' तो रास-रसिकों की प्रिय पुस्तकें हैं।

१४वीं शताब्दी के पश्चात् वैष्णव भक्तों एवं आचार्यों ने रास को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए लीलाओं का जो आश्रय ग्रहण किया वह प्रधानतः धार्मिक भावों से सम्बन्धित था। जैन ग्रन्थों के रास तो प्रायः सभी धार्मिक हैं। वीररस प्रधान रासो तो वैसे ही परिमित हैं और 'धार्मिक' आन्दोलनों के कारण वे पीछे भी रह गये। वल्लभाचार्य जैसे आचार्य द्वारा उनमें कदापि शृंगारी भावों को अनियंत्रित प्रश्रय नहीं मिला होगा। महाप्रभु की इस रस योजना में अनेक तत्कालीन कलाकारों का सहयोग रहा है। कहते हैं, स्वामी हरिदास, हितहरिवंश राय (१५५९ वि०), घमंडीदेव और नारायण भट्ट[12] भी वल्लभाचार्य के साथ

---

11. मध्यकालीन धर्म-साधना, पृष्ठ १३५।
12. ग्राउस महोदय नारायणभट्ट को रासलीला का संस्थापक मानते हैं। देखिये—ए डिस्ट्रिक्ट मेमायर आफ मथुरा, पृ०८७, सन् १८००।
    ग्राउस ने रास को योरोप के 'मिरेकल प्लेज' के समान मानते हुए

रास के संस्थापकों में हैं। बताया जाता है कि घमंडीदेव ने ललिता सखी के गाँव वाले कुछ लड़कों को अभिनय की शिक्षा दी और अकबर के दरबार के नृत्यकार वल्लभ ने वृन्दावन आकर उन्हें नृत्य सिखाया। इस तरह एक रास-मंडली बनी जो अपने समय में बहुत प्रख्यात हुई।

जन-रुचि की अनुकूलता एवं अभिनयात्मक प्रसाधन के लोकग्राही विकास में रासलीला अधिकांशतः शृंगारमयी होती रही, जिसका परिणाम यह हुआ कि इतर प्रान्तों में ये लीलाएं वहाँ की परम्परागत नाट्य-सम्पत्ति को भी प्रभावित करने लगीं। आज रासलीला लोकनाट्य ही है एवं खुले रंगमंच तथा उसके प्रसाधनों को देखते हुए वह 'लोक' की ही वस्तु सिद्ध होती है। रासक का उल्लेख ऊपर किया गया है। मुनि जिनविजयजी ने 'संदेशरासक' की खोज की है जिसका रचनाकाल १३वीं शताब्दी प्रतीत होता है। श्री ओझा ने इसकी कथा संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कुछ सवादों का अनुवाद किया है। उसे यहाँ उद्‌धृत करना प्रासंगिक होगा।

विजयनगर की एक युवती अपने प्राणनाथ के वियोग में अश्रु बहाती, वियोगाग्नि में झुलसती पतिदर्शन को लालायित पथ पर खड़ी चारों ओर निहार रही है। इतने में एक पथिक आता है, जिसके पास पहुँचकर हिचकियों के साथ वह पति को संदेश भेजना चाहती है। उसकी विपन्नावस्था देखकर पथिक उसे एक गाना सुनाता है। पथिक और विरहिणी में इस प्रकार संवाद होता है—

विरहिणी—आप कहाँ से आते हैं, कहाँ जायंगे ?

पथिक—भद्रे ! मैं उस शाम्बपुर से आ रहा हूं जहां भ्रमण करते हुए स्थान-स्थान पर प्राकृत के मधुर गान सुनायी पड़ते हैं, वेदज्ञ वेद की व्याख्या करते हैं, कहीं-कहीं रासकों का अभिनय नटों द्वारा किया जाता है। अब मुझे प्रस्थान करना चाहिये। आप अपनी अश्रुधारा रोकिये अन्यथा मुझे अपशकुन के कारण मार्ग में आपत्ति की आशंका होगी।

———

दृश्यरूपक बताया है। ब्रोटन उसे बैले (समूह नृत्य) और नारविनहेवन धार्मिकरूपक मानते हैं।

विरहिणी—आपकी यात्रा मंगलमय हो।

पथिक—सूर्यास्त हो रहा है। आप अपना संदेश संक्षेप में सुनाइये। अब मुझे अपने पथ पर अग्रसर होना है। कृपा करके इतना बता दीजिये कि आप कब से इस विरहाग्नि में झुलस रही हैं ?

विरहिणी—जब मेरे प्राणनाथ विदेश चले, ग्रीष्म के दिन थे। तब से एक के बाद दूसरी ऋतु नयी वेदना लेकर आती है।

रास में कथानक संक्षिप्त और सूचना द्वारा दृश्य परिवर्तन की योजना मिलती है। १५वीं शताब्दी में सम्भवतः रास की तीन श्रेणियां हो गयीं।

(१) जननाटक रूप में, (२) 'चरित्र' के रूप में, और (३) 'रासो' के रूप में।

जहाँ कहीं भी रासलीला का प्रदर्शन होता है श्रद्धालु जनता मंत्रमुग्ध होकर देर तक बैठी रहती है। पात्रों के पद्यात्मक संवाद लोगों को प्रभावित करते हैं। रासलीला के नायक कृष्ण और प्रधान नायिका राधा होती है। राधा गोपियों के साथ मंच पर प्रवेश करती है। खलनायक कंस है जो नटनागर कृष्ण का एकदम विरोधी है अतः उसके संवाद पद्यबद्ध न होकर गद्यमय होते हैं।

रासलीला की उत्पत्ति के विषय में श्रीमद्भागवत की यह कथा उल्लेखनीय है, जिसमें राधा एवं अन्य गोपियों में अहंकार और अभिमान उत्पन्न होने के कारण प्रधान नायक कृष्ण अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। उन्हें स्मरण करने और उनकी लीलाएँ करने से वे पुनः प्रकट हुए। इससे कहा जाता है कि रासलीला की उत्पत्ति वियोग-शृंगार से हुई। फिर भी यह निर्विवाद है कि भागवत-धर्म के प्रसार ने रासलीला को बहुत आगे बढ़ाने में योग दिया।

एक किंवदन्ती के अनुसार रासलीला मणिपुरी नृत्य की उत्पत्ति का आधार मानी जाती है। एकबार पार्वती ने नृत्य और घंघरू की ध्वनि सुनी और उसके पश्चात् शिवजी से रासलीला के दर्शन कराने का अनुरोध किया। श्रीकृष्ण ने यह स्वीकार नहीं किया किन्तु पार्वती के अनुरोध का अनुमान कर किसी गुप्त स्थान पर वह आयोजन पुनः करने की स्वीकृति दे दी। शिवजी ने बड़े यत्न से एक

स्थान खोज निकाला। उन्होंने देवी-देवताओं, गन्धर्वों, अप्सराओं आदि को रास-लीला में सम्मिलित होने का निमंत्रण भेजा। नंदी मृदंग लेकर, ब्रह्मा शंख लेकर और इन्द्र वेणु लेकर उपस्थित हुए। नागराज की कृपा से सम्पूर्ण स्थान आलोक-मय हो गया। गंधर्वों ने अपना स्वर्गीय संगीत आरम्भ किया। रासलीला प्रारंभ हुई, यह रासलीला लगातार सात दिन और सात रात होती रही। तभी से मणिपुरी नृत्य परम्परा आरम्भ हुई।

कालियानाग के दमन के पश्चात् श्रीकृष्ण ने वृन्दावनवासियों के साथ नृत्य किया था। वह नृत्य वस्तुतः लोकनृत्य ही होगा जिसे रास की संज्ञा दी गयी। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भागवतपुराण में उपलब्ध रासलीला की जो विस्तृत चर्चा की उसमें राधिका के साथ कृष्ण के नृत्य के अतिरिक्त पुरवासियों के साथ भी नृत्य का उल्लेख है। यह नृत्य गोलाकार हुआ करता था। कृष्ण मध्य में और उनके आसपास गोपियों के जोड़े नृत्य करते थे। कई प्राचीन चित्रों में राधिका के साथ कृष्ण मध्य में बताये गये हैं। तालियां देकर नृत्य करते हुए चित्र भी उपलब्ध हैं।

गुजरात के संतकवि नरसिंह मेहता (१५वीं शताब्दी) के विषय में प्रसिद्धि है कि उन्होंने कृष्ण की रासलीला के दर्शन किये थे। उस समय वे हाथ में मशाल लिये हुए थे। रास-दर्शन में वे इतने तल्लीन हो गये कि मशाल उनके हाथ को ही जलाने लगी।

बताया गया कि रासनृत्य की समानता गुजरात के गरबानृत्य से बहुत मिलती है। वैसे गुजरात में 'रासड़ी' भी एक ग्रामीणनृत्य का प्रकार है। सूरत के निकटवर्ती ग्रामों में मोरपंखों को बांधकर देवी के समक्ष जो नृत्य किया जाता है उसे 'घोरधारास' कहा जाता है। रास के अधिकांश गीत गरबा में भी गाये जाते हैं। कुछ अंशों में रास एक लोकनृत्य भी है। अभिनय का स्पर्श पाकर रास लोकनाट्य की कोटि में भी आ गया।

रासलीला का प्रचलित रूप :

रासलीला का मंच अत्यन्त साधारण कोटि का होता है। यों तो मन्दिर

में अथवा किसी ऊँचे स्थान को इस आयोजन के लिए चुन लिया जाता है। इन स्थानों के अभाव में ऊंचे तख्तों और बांसों के सहारे कपड़े बांध कर मंच बना लेना कठिन नहीं होता। पात्र परदे के पीछे से आते रहते हैं। दृश्यान्तर की सूचना पात्रों के चले जाने पर कोई निर्देशक देता है। रंगभूमि में एक गायक और वादक बैठे होते हैं और सामने प्रेक्षकों के लिए खुले आकाश का प्रेक्षागृह रहता है......। वास्तविक रासलीला आरम्भ होने से पूर्व आयी हुई जनता के मनोरंजनार्थ रंग-भूमि में भजन-गान, ढोलक, मजीरा, हारमोनियम, सितार आदि के साथ होता रहता है। लीलारम्भ से कुछ पहले सूत्रधार की भांति एक ब्राह्मण या पुरोहित व्यवस्थापक के रूप में आता है जो राधा-कृष्ण की दिखलायी जाने वाली लीला का निर्देश करता है और उसके पात्रों और लीला (कथा) की प्रशंसा कर प्रेक्षकों को उनकी ओर आकृष्ट करता है। यह प्ररोचना और प्रस्तावना जैसा कार्य है। पश्चात् परदा उठता है और राधाकृष्ण की युगलछवि की आरती की जाती है। आरती के समय रंगभूमि के गायकादि तथा प्रेक्षक उठ खड़े होते हैं। परदा फिर गिरता है और उसके अनन्तर निश्चित लीला का कार्यक्रम प्रारम्भ हो जाता है। पात्रों में राधाकृष्ण और गोपिकाएँ रहती हैं। बीच-बीच में हास्य का प्रसंग भी रहता है। विदूषक के रूप में 'मनसुखा' रहता है, जो विभिन्न गोपिकाओं के साथ प्रेम एवं हंसी की बातें करके कृष्ण के प्रति उनके अनुराग को व्यंजित कराता है, साथ ही दर्शकों का भी मनोरंजन करता है। जब कभी पर्दे के पीछे नेपथ्य में अभिनेताओं को वेशविन्यास या रूपसज्जा करने में विलम्ब होता है तो उस अवकाश के क्षणों के लिए कोई हास्य या व्यंग्यपूर्ण दो पात्रों के प्रहसन की योजना कर ली जाती है, किन्तु यह कार्य लीला से सम्बन्धित नहीं होता। रास कार्य सम्पन्न करने वाले रासधारी कहलाते हैं। वे प्राय: बालक और युवा पुरुष होते हैं। लीला में हास्य का पुट और शृङ्गार का प्राधान्य रहता है। उसमें कृष्ण का गोपियों, सखियों के साथ अनुरागपूर्ण वृत्ताकार नृत्य होता है। कभी कृष्ण गोपियों के कार्यों एवं चेष्टाओं का अनुकरण करते हैं और कभी गोपियाँ कृष्ण की रूप चेष्टादि का अनुकरण करती हैं और कभी राधा सखियों के कृष्ण की रूप-चेष्टाओं का अनुकरण करती हैं। यही लीला है। कभी कृष्ण गोपियों के

हाथ में हाथ बाँध कर नाचते हैं और कभी वे मण्डलाकार गोपियों से घिरकर उनके बीच में नाचते हैं। इन लीलाओं की कथावस्तु प्रायः राधाकृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाएं होती हैं, जिनमें सूरदास आदि कृष्णभक्त कवियों के भजन गाये जाते हैं। कार्य की अधिकता नहीं, वरन् पद-प्रधान-संवाद, सौन्दर्य नृत्य, गीत, वेणुध्वनि, ताल, लय, रस की अबाध धारा बहती रहती है। रंग संकेतों के लिए पर्दे के पीछे निर्देशक रहता है जो अभिनेताओं के भूल जाने पर संवादों के वाक्य या भजन एवं पद की पंक्ति स्मरण करा देता है। लीला में अभिनय कम संलाप अधिक रहता है। कृष्ण धीरललित नायक होते हैं जो समस्त कलाओं के अवतार माने जाते हैं। राधा उनकी अनुरंजनकर्त्री शक्ति के रूप में दिखायी जाती है। वही समस्त गुणों एवं कलाओं की खान नायिका बनती है। गोपियां सखियाँ सभी प्रगाढ़ यौवना और भावप्रगल्भा होती हैं। उनमें शोभा, विलास, माधुर्य, कान्ति,दीप्ति, विलास, विच्छित्ति, प्रागल्भ, औदार्य, लीला, हाव, हेला, भाव आदि सभी अलंकार होते हैं।

लीला के अंत में युगल-छवि की पुनः आरती होती है। इस बार प्रेक्षक जनता भी आरती लेती है और आरती के थाल में पैसे-रुपये के रूप में भेंट चढ़ाती है। इस बार आरती के बाद लीला के विषय में मंगल कामना की जाती है। यह एक प्रकार का भरतवाक्य है। पश्चात् लीला का कार्य-क्रम समाप्त हो जाता है और पटाक्षेप हो जाता है।[13] अस्तु, ब्रज की रासलीला के वर्तमान स्वरूप में संगीत, नृत्य और अभिनय की त्रिवेणी बनी हुई है। इस रूप के अतिरिक्त राजस्थान के 'रासधारी', ब्रज के चरकला नृत्य, लालमानिया, चाचर, भूला आदि में पुराने रास के कुछ अंश सुरक्षित लगते हैं। बंगाल में रास का रूप तनिक अभिनयात्मक है। मणिपुर क्षेत्र में प्रचलित रास संगीत-प्रधान है।

ऐसा लगता है, ब्रज की पद्धति ४०० वर्ष पुरानी है। फिर भी बारहवीं

---

13. हिन्दी साहित्य-कोश, विजयबहादुरसिंह की रासलीला विषयक टिप्पणी से उद्धृत।

शताब्दी के बाद में लिये गये रासो साहित्य को देखते हुए र.स शास्त्रीय और लोकपरक दोनों शैलियों में विभक्त किये जा सकते हैं। लिखित रासो के समय भी उनके लोकपरक रूप रहे होंगे जो आज भी किन्हीं अंशों में मंडलाकार नृत्यों और अन्य लोकगीतात्मक नृत्य-प्रवृत्तियों में लक्षित होते हैं। इन सब में ब्रज की रासलीला सुघड़ जान पड़ती है। उसके कलात्मक रूप को विकसित किये जा सकने की पूरी सम्भावनाएँ हैं। पिछले दिनों राजधानी में चैतन्य के जीवन पर परम्परागत रास शैली के अन्तर्गत एक तीस-दिवसीय रास का आयोजन किया गया था। यह रास वृन्दावन के गौड़िया मठ द्वारा प्रदत्त सामग्री के आधार पर एक मंडली के अगुवा ने लिखा था।

रासलीला की परम्परा हिन्दी साहित्य की ही वस्तु नहीं, अपितु उत्तरभारत तथा उसके निकटवर्ती एवं सुदूर प्रान्तों के साहित्य की भी सम्पत्ति है। लोक नाटकों की परम्परा में रासलीला की बिखरी कड़ियाँ द्रष्टव्य हैं। रास ने जहाँ एक ओर नृत्य की भूमिका प्रस्तुत की है वहाँ दूसरी ओर नाट्य-सामग्री की दृष्टि से लीलाओं में अभिनय संबंधी उपकरण भी दिये हैं।

रास ग्रन्थों की खोज ने हिन्दी नाट्य के आरंभ का समय तेरहवीं शताब्दी प्रमाणित किया है। रासो की परम्परा ने सैकड़ों वर्षों तक हिन्दी के आदिकाल को सँवारा है। अपभ्रंश में उपलब्ध 'रास' साहित्य का यथोचित अनुसंधान और अधिक सम्भावनाओं को प्रकाश में ला सकता है। 'रास' से सम्बन्धित 'रहस' शब्द की चर्चा विद्वानों ने की है जो 'रहस्य' का विकृत रूप प्रतीत होता है। कहा गया है कि उपलब्ध रास-नाट्य को 'रहस' कहा जाता था। श्रीकृष्ण-दास के शब्दों में वाजिदअली शाह अपने यहाँ 'रहस' ही खेलता था। और उसने अभिनय के लिए कैसरबाग में रहसखाना बनवाया था।

रास की परम्परा कृष्णलीला के विविध प्रसंगों से पूर्णतः आवृत है। अहीरों के नृत्य व गोप-गोपिकाओं की लीलाएँ, कृष्ण संबंधी विभिन्न प्रहसन वस्तुतः रासलीला के अन्तर्गत आते हैं। कथोपकथन का अपना अस्तित्व इन नाट्यों में प्रायः मौखिक ही रहा है। अब्दुलरहमान ने रासकों की उपादेयता का

उल्लेख करते हुए लिखा है कि बहुरूपिये सुसम्बद्ध रासों का संवादों के रूप में प्रदर्शन किया करते हैं: 'कहु-बहु-रूपिणी बद्धहु रासउ भासियई।' इसके अतिरिक्त अन्य रासों में मंगलाचरण से लगाकर आशीर्वचन तक के समस्त नाट्य-तत्वों का समावेश मिलता है। डा० दशरथ ओझा ने हिन्दी नाटकों के आरम्भ की चर्चा करते हुए रासो का महत्त्व स्वीकार किया है। इस शैली के नाट्यों में निम्न विशेषताओं की चर्चा ओझाजी ने की है—

नाटक छंदोबद्ध एवं गेय होते हैं।[14]
गद्य भाव प्राय: उपेक्षित होता है।
नाटक के पात्र प्रारम्भ से अन्त तक मंच पर ही रहते हैं। प्रवेश और निष्क्रमण का संकेत नहीं मिलता है।
नृत्य और गीत का प्राधान्य होता है।
मंगलाचरण और प्रशस्ति-पाठ स्वांग-नाट्यों की तरह होता है।
अन्त में नाटक रचना का प्रयोजन घोषित किया जाता है।
भाषा तद्भव शब्दों से बोझिल और देशज उक्तियों से युक्त होती है।

रासकों के विकासक्रम की साधारण स्थिति प्रथम तीन भागों विभाजित की जा सकती है—

(१) जैन रासकों की परम्परा, जो ब्रज में प्रचलित रासलीला के प्रारम्भ से चली आ रही थी। १६ वीं शताब्दी तक इस जैनपरम्परा का प्रभाव बना रहा।
(२) वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ ही कतिपय आचार्यों ने श्रीमद्भागवत के विविध प्रसंगों से कथानक लेकर इस नाट्यशैली का आश्रय लिया। यह परम्परा नन्ददास तक अपने अनगढ़ स्वरूप में चलती रही।
(३) सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर नन्ददास द्वारा परिष्कृत रासलीला,

---

14. साहित्याकर, अंक १६, वर्ष २, पृष्ठ ६५।

श्री वियोगी हरि रचित छद्मयोगिनी लीला' (संवत् १९७८ वि०) तक सतत रूप से बनी रही।

(४) इसके आगे रासलीला विभिन्न लीलाओं के प्रयोग का आधार बनी। उसका गीतिनाट्य वाला स्वरूप धीरे-धीरे गद्य की ओर झुकने लगा। परिणामस्वरूप विकृतियों का समावेश हुआ। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का प्रभाव भी इस परिवर्तन का कारण हुआ।

रासलीला का आज के ग्रामीण-जीवन में जो महत्त्व है, उसके मूल में श्रद्धा और भक्ति तो है ही, पर कई शताब्दियों से पोषित लगाव भी द्रष्टव्य है। तनिक परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ यह शैली और भी अधिक प्रभावशाली बनायी जा सकती है। लोकनाट्यों में कितनिया, जात्रा और भवाई के ढंग के नाटच रास के निकट जान पड़ते हैं। खोज करने पर रासलीला के प्रति और भी अधिक संभावनाएँ उभर सकती हैं।

माच

डॉ० शिवकुमार 'मधुर'

माच, संस्कृत शब्द मंच का अपभ्रंश है। मंच के अनेक तद्भव रूप मालवप्रदेश में प्रचलित हैं जैसे मचान, माचली, माचा आदि। मकान बनाते समय लकड़ी के तख्तों और बल्लियों के सहारे जो बंधान बांधा जाता है, उसे मचान कहते हैं। खेतों की रखवाली के हेतु लकड़ियों और बल्लियों को लेकर जो ऊँचा स्थान बनाया जाता है, उसे भी मचान कहते हैं। बड़ी और छोटी खाट और खटिया के लिए क्रमशः माचा और माचली शब्द मालवा में प्रचलित हैं। मंच के इन समस्त मालवी तद्भवरूपों में अन्तर्निहित भाव यही है कि एक ऐसा स्थान जो सामान्य धरातल से ऊंचा हो और जिसे लकड़ियों, तख्तों और अन्य सामान्य उपकरणों को जुटाकर बनाया जाय। ऐसे ऊँचे स्थान को सजाने और उस पर नाट्याभिनय प्रस्तुत करने पर सहज ही उसे रंगमंच की संज्ञा दी जाती है। रंगमंच शब्द में नाट्यशास्त्रीय रंगशाला के अर्थ और भाव सन्निहित रहते हैं। किन्तु माच में रंगशाला की शास्त्रीय बनावट, सजावट और प्रयासजन्य प्रवृत्ति का

उतना समावेश नहीं होता। माच में आडम्बरहीनता है। रंगमंचीय आडम्बरों से रहित मंच पर प्रस्तुत किये जाने वाले 'खेल' (नाट्य) कालान्तर में 'माच' कहलाने लगे। मंच और खेल-दोनों के ही अर्थ में 'माच' शब्द रूढ़ बन गया।

माच का प्रचलन-क्षेत्र

मालवा में प्रचलित लोकनाट्य 'माच' की भांति राजस्थान में लोकनाट्य 'ख्याल' का प्रचलन है। राजस्थान के विभिन्न भागों में प्रचलित इन ख्यालों को कहीं-कहीं 'माच' के नाम से भी पुकारा जाता है। चित्तौड़ के निकटवर्ती भागों में ख्यालमाच बहुत लोकप्रिय है। राजस्थान और मालवा में प्रचलित 'ख्याल' और 'माच' में जहाँ बहुत-सी समानताएं हैं, वहाँ विभिन्नताएँ भी हैं। शैली और कथानकों में जहाँ साम्य दिखाई देता है; वहां भाषा, वेशभूषा, संवाद, रंगमंच, रंगसज्जा और प्रस्तुतीकरण में स्थानीय रंगों की विशेषताओं के कारण विभिन्नताएँ भी स्पष्ट हो जाती हैं। ख्याल और माच में मिलनेवाले कतिपय साम्य के कारण ही माच की प्रारम्भिक कृतियाँ 'माच का ख्याल' या 'ख्याल माच का' के नाम से प्रकाशित हुई हैं। शायद ख्याल पुस्तकों की बिक्री सम्बन्धी लोकप्रियता के कारण भी हो सकता है कि प्रकाशकों ने माच की कृतियों के लिए 'माच का ख्याल' और 'ख्याल माच का' जैसे शब्दों का प्रयोग किया होगा। क्योंकि माच की हस्तलिखित प्रतियों में ख्याल शब्द का प्रयोग कहीं नहीं मिलता है। सभी माचकारों ने 'खेल' शब्द को ही ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए गुरु बालमुकुन्दजी कृत 'राजा भरथरी' के खेल की प्रकाशित पुस्तक का नाम है— 'ख्याल माच का राजा भरथरी' जबकि हस्तलिखित पुस्तक में नाम है —'खेल माच का राजा भरथरी।' कालान्तर में ख्याल शब्द विलुप्त हो गया और माच शब्द का प्रयोग ही प्रकाशित एवम् हस्तलिखित प्रतियों में किया जाने लगा। ये कृतियां और इनका प्रदर्शन राजस्थान में कहीं-कहीं माच नाम से पुकारी जानेवाली ख्याल कृतियों और उनके प्रदर्शनों से भिन्न हैं।

'माच' नाम से एक लोकनाट्य शैली का प्रचलन ग्वालियर तथा उसके निकटवर्ती भागों में लगभग एक शताब्दी तक रहा है, जिसके कुछ 'अखाड़े' अभी

भी ग्वालियर के कतिपय मोहल्लों में विद्यमान हैं। उस्ताद भक्तराम, उस्ताद गूजरमल, उस्ताद भैरवरामजी, उस्ताद घांसीराम प्रभृति ग्वालियर क्षेत्रीय माच-कारों की परम्परा का पता अनुसंधान के दौरान मुझे मिला। किन्तु इन उस्तादों की कृतियों का अध्ययन करने तथा उनके प्रदर्शनों की जानकारी प्राप्त करने पर पता चला कि यह शैली मालव लोकनाट्य 'माच' से भिन्न है। उस्ताद नत्थाराम द्वारा लिखित सांगीतों की प्रकाशित कृतियों के अनुकरण पर ही इन माच कृतियों की रचना की गई है। मंच निर्माण पर 'ख्याल' और 'तुर्रकिलगी' के मंचों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। गुरु बालमुकुन्दजी की मण्डली द्वारा ग्वालियर के महाराजा स्वर्गीय माधवराव सिन्धिया के आमन्त्रण पर जो माच-प्रदर्शन ग्वालियर जाकर किया था; सम्भवतः उन माच-प्रदर्शनों की लोकप्रियता के कारण भी उस क्षेत्र में 'माच' शब्द को नाट्य प्रदर्शनों के लिए ग्रहण किया गया होगा।

मालवा की सीमा

मालव लोकनाट्य 'माच' का प्रचलन मालवा के गांव-गांव और नगर-नगर में है। अतः मालवा की सीमा के सम्बन्ध में भी विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के अनुसार मालवा उस उन्नत पहाड़ी पठार का द्योतक है; जो विन्ध्याचल की पर्वत-श्रेणियों से घिरा हुआ उत्तर में चम्बल नदी तक व्याप्त है तथा जो दक्षिण की ओर अपने में नर्मदा घाटी को सम्मिलित करता है।[1] डा० यदुनाथ सरकार ने 'इण्डिया आव औरंगजेब' नामक ग्रन्थ में मालवा के सम्बन्ध में लिखा है : "स्थूल रूप से दक्षिण में नर्मदा नदी, पूरब में बेतवा एवं उत्तर-पश्चिम में चम्बल नदी इस प्रान्त की सीमा निर्धारित करती थी।"[2]

---

1. एन्साइक्लोपीडिया आफ ब्रिटेनिका, पृ० २०.

2. मालवी और उसका साहित्य, पृ० १०.

इस सम्बन्ध में एक दोहा भी मालवे में प्रचलित है:—

इत चम्बल, उत वैतवा, मालव-सीम-सुजान।
दक्षिणदिसि है नर्मदा, यह पूरी पहचान॥

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह ने भी मालवा की सीमा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है : "पश्चिम में कांठल एवं वागड के प्रदेश मालवा को राजपूताना तथा गुजरात से पृथक करते थे और उत्तरपश्चिम में इसकी सीमा हाड़ौती प्रदेश तक पहुंचती थी। मालव के पूर्व एवं पूर्वदक्षिण में बुन्देलखंड और गोण्डवाना के प्रान्त फैले हुए थे।"[3]

उपर्युक्त मतों में मालवा के भौगोलिक पठारी भाग को प्रमुखता प्रदान की गई है। इस विस्तृत भूभाग में कई जनपदीय भाषाएँ, बोलियाँ और संस्कृतियाँ विद्यमान हैं। निश्चित ही मालवी भाषा इस समग्र भूभाग में प्रचलित नहीं है। मालवी के अतिरिक्त निमाड़ी, भीली, बुन्देली, हाड़ौती प्रभृति जनपदीय भाषाएँ प्रचलित हैं। इनमें मालवी भाषा का स्थान प्रमुख है। डा० श्याम परमार के अनुसार वर्तमान मालवी वैसे मध्यभारत के उज्जैन, इन्दौर, देवास, मन्दसौर और राजगढ़ जिलों में मुख्यतः प्रचलित है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग चालीस लाख कूंती जाती है।[4] डा० चिन्तामणि उपाध्याय ने भी मालवी भाषाशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करते हुए मालवी के व्यापक क्षेत्र-विस्तार को प्रस्तुत किया है।[5]

लोकनाट्य 'माच' की मुख्य भाषा मालवी है और स्वभावतः उसका प्रसार मालवी जानने वाले क्षेत्र-विशेष तक हुआ है। माच के प्रचलन क्षेत्र का विवरण निम्नलिखित तालिका में प्रस्तुत है:—

---

3. मालवा में युगान्तर, पृ० ३२५.
4. मालवी और उसका साहित्य, पृ० ११.
5. मालवी : एक भाषाशास्त्रीय अध्ययन, पृ० २४ से २७ तक.

क्रम	जिला	क्षेत्रफल (वर्गमील में)	जनसंख्या (सन् १९६१)
१.	उज्जैन	२,३४४	६,६१,७२०
२.	देवास	२,६८३	४,४६,६०१
३.	इन्दौर	१,४७९	७,५३,५९४
४.	मन्दसौर	३,६५०	७,५२,०८५
५.	शाजापुर	२,३८५	५,२६,१३५
६.	राजगढ़	२,३६६	५,१६,८७१

उपरोक्त ६ जिलों के अतिरिक्त भी कई जिलों के कुछ भागों में लोकनाट्य माच का प्रचलन रहा है। यथा—धार जिले की वदनावर तहसील, रतलाम जिले की जावरा तहसील और सीहोर जिले की आष्टा तहसील। इन क्षेत्रों में मालवी वोलनेवालों के अतिरिक्त अन्य भाषाभाषी जनता भी 'माच' से परिचित है और रुचि लेती है। माच का प्रभाव ग्रामीण और शहरी जनजीवन पर समान रूप से दिखाई देता है।

माच का उद्भव और विकास

मालव लोकनाट्य 'माच' के उद्भव-विकास में लोकानुरंजन की विभिन्न धाराओं का योगदान महत्त्वपूर्ण है। यह शैली किसी एक चलती आ रही प्रवृत्ति-परम्परा का परिणाम नहीं है। मालव प्रदेश में प्रचलित लोकमनोरंजन की विभिन्न प्रवृत्तियों के संदर्भ में यह तथ्य स्वयमेव उभरकर सम्मुख आ जाता है। सबसे पहले हमारा ध्यान जाता है—'ढाराढ़ारी के खेलों' की ओर। मालवा और राजस्थान में ढाड़ी जाति के कलाकार कृष्णचरित का अभिनय प्रस्तुत किया करते थे। नृत्य, गान, स्वांग और अभिनय कला में दक्ष ढाढ़ी जाति के कलाकारों का जमाव मालवा में और विशेषकर उज्जैन में मुख्य रूप से केन्द्रित रहा है। उज्जैन जैसे धार्मिक स्थान पर उनका प्रभाव सर्वाधिक रहा। उज्जैन के अनेक कृष्ण मंदिरों में 'ढाराढारी के खेल' वड़ी धूमधाम से हुआ करते थे। क़रीव १०० वर्ष पूर्व उज्जैन के वहादुरगंज मोहल्ले में स्थित 'मस्तराम के अखाड़े' में

ढाराढारी के खेलों का प्रदर्शन इतने भव्य और विशाल पैमाने पर होता था कि मालवा के गाँवों और नगरों से जनता खिची चली आती थी । कृष्णचरित के साथ कालान्तर में अन्य धार्मिक कथानकों ने प्रवेश किया और 'ढाराढारी के खेलों' का मंच व्यापकता की ओर उन्मुख होता गया ।

मालवा में कृष्णचरित से सम्बन्धित एक शैली 'गर्वा-पर्व' के रूप में प्रचलित है । सौराष्ट्र और गुजरात में प्रचलित गरबा-पर्व की भांति मालवा में जगदम्बा दुर्गा की आराधना हेतु आश्विन मास की शुक्लपक्षी प्रतिपदा से पूर्णमासी तक यह पर्व उत्साहपूर्वक मनाया जाता है । महिलावर्ग के अतिरिक्त पुरुषवर्ग द्वारा गरबा-पर्व मनाने की अनूठी परम्परा मालवा में सदैव रही है । पुरुषवर्ग के 'गर्वा गीतों' में भक्ति एवम् शृङ्गार का सुन्दर समावेश मिलता है । कई माचकारों ने माच रचना के पूर्व 'गरबीगीतों' के माध्यम से अपनी काव्य प्रतिभा का परिचय प्रस्तुत किया है । माचकार गुरु गोपालजी, चंचलपुरीजी और रामचन्द्र गुरु जैसे माचकारों में 'गरबीगीतों' की रचना करने का अद्‌भुत कौशल देखते ही बनता है । इन माचकारों द्वारा रचित गर्वियां आज भी हस्तलिखित पुस्तकों में विद्यमान हैं । वर्तमान माचकारों में श्री सिद्धेश्वर सैन और श्री श्यामदास चक्रधारी लिखित गर्वीगीतों का अपना विशेष महत्त्व है । इन गर्वीगीतों के गायन के साथ नृत्य-अभिनय के आयोजन होते हैं । आयोजन के पूर्व गणपति, सरस्वती, भैरव-भवानी, दुर्गा आदि देवी-देवताओं की स्तुतियां की जाती हैं । शास्त्रीय रागरागि-नियों में वद्ध गर्बागीतों में गुरु के नाम की छाप लगती है । संगीत, अभिनय और गुरु के नाम की छाप लगाने की प्रवृत्ति माचकारों ने इसी लोकशैली से ग्रहण की है ।

'तुर्राकलगी' के नाम से मालवा में काव्य-गायन की स्पर्धामूलक शैली का प्र-चलन पिछली दो-तीन शताब्दियों से रहा है । राजस्थान, महाराष्ट्र और उत्तरप्रदेश के विभिन्न भागों में प्रचलित लोकनाट्यों की भांति मालवा के लोकनाट्य 'माच' पर भी इस शैली की छाप अंकित है । आध्यात्मिक विषयक काव्य-गायन की इस स्पर्धामूलक शैली का प्रचलन कब हुआ, इसके प्रामाणिक-ऐतिहासिक तथ्यों का पता नहीं चल पाया है । डा० श्याम परमार और श्री देवीलाल सामर ने भी इस बात को स्वीकार करते हुए अपने शोधकार्यों के विवरण में तत्सम्बन्धी

किंवदन्ती का ही उल्लेख किया है। तुर्रा और कलंगी के अखाड़ों के अनुयायी अपने आदिगुरु अथवा उस्ताद क्रमशः तुखनगीर गुसाईं और शाहअली फकीर को मानते हैं। गुसाईंजी शिवभक्त थे और शाहअली शक्ति के प्रशंसक। तुखनगीर का दल भगवा झण्डाधारी है और शाहअली का हरा झण्डावाला। प्रथम दल के अधिकांश अनुयायी हिन्दू होते हैं और दूसरे दल के अनुयायी मुसलमान। परन्तु उसके वावजूद भी हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव की भावना का समावेश इस शैली में नहीं मिलता है। विशुद्ध धार्मिक और आध्यात्मिक तर्क-गायन प्रतिस्पर्धात्मक आयोजनों द्वारा जन मनोरंजन ही एकमेव लक्ष्य रहता है। मालवे में उज्जैन, इन्दौर, महू, शाजापुर तथा मन्दसौर जिलों में आज भी तुर्राकलंगी के दल विद्यमान हैं। सामान्य मंच पर काव्य-गायन की इस शैली में माचकार गुरु रामकिशनजी, उस्ताद कालूरामजी और गुरु राधाकिशनजी द्वारा लिखित 'कलंगी' अपने समय में बहुत प्रसिद्ध रही है। गुरु-उस्ताद की वन्दना और गीतिबद्ध संवाद रचना की शैली माचकारों ने सम्भवतः इसी शैली से ग्रहण की है।

नकल और स्वांग-कला में दक्ष लोकप्रतिभाओं की बहुलता मालवा में पुराने समय से रही है। फाल्गुन में होलिकोत्सव पर 'स्वांग भरने' की कला में पटु मालविकाओं और मालवपुत्रों का अद्भुत कौशल आज भी गांव-गांव में देखा जा सकता है। विभिन्न मुद्राएँ और स्वरूप बनाकर पेटपालनेवालों का वर्ग भी देखने को मिलता है। श्री जान मालकम ने मालवा के ग्रामों में फैले हुए ऐसे अनेक कलाकारों के अभिनय, कलाचातुर्य और उनकी लोकानुरंजन क्षमता की भूरि भूरि प्रशंसा की है। बलूवा नामक ब्राह्मण अभिनेता की प्रतिभा का उन्होंने सविस्तार वर्णन किया है।[6] सम्भवतः माच-कारों ने ऐसे ही कलाकारों का सहयोग प्राप्त किया होगा। स्वांग और नकल की प्रवृत्ति तो निश्चित रूप से माच ने इन कलाकारों से ग्रहण की है। माच के खेलों के आरम्भ में आज भी 'स्वांग भरकर' किसी बालक को 'दुंदाले गणपति'

---

6. मेमायर्स आफ सेन्ट्रल इन्डिया, भाग २, अध्याय १४, पृ० १९६.

(बड़ी तोंदवाले गणेशजी) के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

इसी संदर्भ में 'भाण' नाट्य प्रकार से माच की उत्पत्ति सिद्ध करने का प्रयास भी किया गया है। गुप्तकाल की चार भाण कृतियों 'चतुर्भाणी' को माच की जन्मदात्री सिद्ध करने का प्रयास पद्मभूषण डा० सूर्यनारायण व्यास ने किया है।[7] किंतु इन भाण कृतियों का अध्ययन करने पर व्यासजी का तर्क अनुमानगम्य लगता है।

उपरोक्त विवेचना का मंतव्य यही है कि माच किसी एक चलती हुई परम्परा का रूप नहीं है। इसकी पृष्ठभूमि में मालवा में प्रचलित धार्मिक और शृंगारिक प्रवृत्तियों का योगदान रहा है। ढाराढारी के खेल, गर्वा-पर्व, स्वांग-नलक के प्रदर्शन और तुर्राकलगी के आयोजन प्रारम्भ में छोटे पैमाने पर होते थे। इन विभिन्न लोकशैलियों से माचकारों ने विभिन्न तत्त्व ग्रहण किये। ढाराढारी के खेलों से अभिनय, गर्वापर्व से संगीत, तुर्राकलगी से काव्य-रचना और नकल-स्वांग प्रदर्शनों से हासपरिहास, चुटीले व्यंग्य एवम् जनमनोरंजन के उपादान माचकारों ने जुटाये।

मंचनिर्माण एवं प्रस्तुतीकरण

माच के खेलों का आयोजन सामान्यतः वर्षाकाल को छोड़कर शेष समय में किया जाता है। इनका आयोजन फाल्गुन, चैत्र और वैशाख महिनों में ही विशेषकर किया जाता है। माचप्रदर्शन के लगभग १५ दिन पूर्व मंच का खम्भ गाड़ा जाता है। मंच की खम्भ–स्थापना परम्परागत ढ़ग से की जाती है। शुभ मुहूर्त में माच–मण्डली का मुखिया खम्भ की पूजा करता है ढोल बजता है। माच के सदस्य गीतों की कड़ियां दुहराते हैं। लाल चोल (एक प्रकार का लाल वस्त्र), हरा धनिया, गुड और आम्रपल्लव आदि पूजनसामग्री के साथ खम्भ स्थापनविधि पूरी होती है। गुड़ और धनिये का प्रसाद वितरित होता है। इसी के साथ मंचनिर्माण का शुभ कार्य शुरू हो जाता है। लकड़ी के तख्तों और बल्लियों के सहारे ६, ११ या १५ फुट ऊंचा मंच बनाया जाता है। मंच के

———

7. मध्यप्रदेश संदेश (२२ अक्तू. १९६०), पृ० २६.

ऊपर श्वेत वस्त्र की चांदनी (चंदोवा) छायी जाती है। कहीं कहीं कागज की झण्डियाँ (लिग्गियां) भी लगायी जाती हैं । १०-१२ फुट चौड़े मंच के सामने 'वारह भाई का पाट' होता है, जहाँ मण्डली के नवयुवक कार्यकर्त्ता वैठते हैं । मंच के एक ओर साजिन्दे– ढोलकवादक, सारंगीवादक और हारमोनियमवादक कुर्सियों पर वैठते हैं । खेल के नायक के लिए सिर्फ एक कुर्सी वीच में रखी जाती है । मच के पीछे 'टेक झेलनेवालों का पाट' होता है, जहां गायक कलाकारों का समूह वैठता है, जो पात्रों द्वारा प्रस्तुत गीतिकथन 'वोल' को दोहराता है । इस दोहराने को 'टेक झेलना' कहते हैं ।

माच के खेलों का प्रदर्शन रात्रि के प्रथम प्रहर से प्रारम्भ होकर प्रातःकाल तक चलता है । मंच पर ढोलक वजती है, जो इस वात का संकेत होती है कि खेल शीघ्र ही शुरू होने वाला है । वैसे माच का प्रेमीसमुदाय आकर पहले से ही जम जाता है । जमीन पर और आसपास के ऊंचे ओटलों (मिट्टी के मकानों के ऊंचे आंगन) पर जनता सैंकड़ों की संख्या में जम जाती है । माच के पात्र अपनी सादी वेशभूषा में आकर सामूहिक स्वरों में देवी देवताओं की वन्दना करते हैं । प्रत्येक कलाकार गुरु या मुखिया को 'मुजरा' करता है । चोपदार, भाल–दार ऊंची आवाज में मुजरा करने वाले पात्र का नाम पुकारता है । मुजरे के वाद कलाकार वेशभूषा धारण करने के लिये निकट ही वने कक्ष में चले जाते हैं ।

इसके वाद मंच पर भिश्ती का प्रवेश होता है । वह अभिनय और गीति–कथन द्वारा पानी छिड़कने के अपने उद्देश्य को प्रस्तुत करता है । भोपाली भिश्ती, पंजावी भिश्ती, गुजराती भिश्ती, नौलाई भिश्ती प्रभृति नामों से माच-कारों ने इस प्रसंग को अपने खेलों के पूर्व प्रस्तुत किया है । भिश्ती के वाद आती है — फर्रासिन । वह 'जाजम विछाने' का अभिनय करती है । 'नानकसांई के पण्डे' आकर देवी की वन्दना के 'वोल' प्रस्तुत करते हैं । माच के इन पूर्वरंगों की पृष्ठभूमि में मालवा में नाथपंथी कनफटिये जोगियों और फकीरों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है । सिद्ध फकीरों की 'हाजरात विद्या' के ही प्रभाव के परिणाम-स्वरूप माच में पूर्वरंग की यह परम्परा ग्रहण की गई है ।

इसके उपरान्त किसी वालक को भगवा वस्त्र या लाल चोल (वस्त्र) से

लपेटकर कुर्सी पर बैठा दिया जाता है। कपड़े की सूंढ निकाली जाती है। स्वांग भरकर बैठे हुए गणेशजी की वन्दना में माच के कलाकार गीत कड़ियां दुहराते हैं। गणेशजी के बाद सरस्वती, भैरव-भवानी प्रभृति देवी देवताओं की स्तुतियाँ की जाती हैं। भैरव की वंदना करना अनिवार्य होता है, क्योंकि भैरव ही माच के रसिया हैं। उनकी वन्दना के अभाव में माच का खेल जम नहीं पाता है।

इन पूर्वरंगों के पश्चात माच का मुख्य खेल प्रारंभ होता है।

माच के रचयिता

माच के खेलों के रचयिताओं को गुरु अथवा उस्ताद के नाम से पुकारा जाता है। माच का प्रमुख केन्द्रस्थल उज्जैन ही रहा है। उज्जैन के विभिन्न मोहल्लों में माच मण्डलियों की स्थापना करके लोकप्रतिभाओं के सहयोग से विभिन्न माचकारों ने अपने खेलों की रचना की है। उज्जैन के अतिरिक्त वड़नगर, जावरा, शाजापुर, मंगरोला आदि स्थानों पर भी माच के अखाड़ों की स्थापना और माच-रचना की परम्पराएं मिलती हैं।

माच के आदि-प्रवर्तक गुरु गोपालजी हैं, जिन्होंने राजस्थानी ख्याल का मालवी रूपान्तर और मालवा में प्रचलित विभिन्न लोकशैलियों से तत्त्व ग्रहण करके माच की परम्परा चलायी। भागसीपुरेवाली माच की परम्परा सर्वाधिक प्राचीन है। आपका जन्म सं० १८२० में हुआ और मृत्यु सं० १८९९ में हुई। आपने गोपीचन्द, रूपसिंह, प्रल्हादचरित्र और हीररांझा खेल लिखे, जो अब लोककण्ठों में ही सुरक्षित हैं। कुछ अंश हस्तलिखित रूप में प्राप्य हैं, जिन्हें इस परम्परा के उत्तराधिकारियों ने लिपिवद्ध किया है। इसी परम्परा की तीसरी पीढ़ी में रामचन्द्र गुरु ने 'गढ बूंदी के राव केशरसिंह' नामक माच की रचना की। इस खेल में छाप गुरु गोपालजी के नाम की मिलती है। यह हस्तलिखित प्रति इन पंक्तियों के लेखक को इस परम्परा की पांचवी पीढ़ी के उत्तराधिकारी गुरु विहारी लाल दुवे से प्राप्त हुई।

गुरु वालमुकुन्दजी ने मालवी लोकनाट्य 'माच' की प्रसिद्धि के कस्तूरी-

गंध को दूर दूर तक फैलाया । 'माच' का परिपक्व स्वरूप इनकी कृतियों में मिलता है। इसीलिए डा० श्याम परमार व डा० चिन्तामणि उपाध्याय ने इन्हें माच के आदि प्रवर्तक होने की संज्ञा प्रदान की है । किन्तु अनुसंधान उपरान्त गुरु गोपालजी की परम्परा का पता चलने पर इन्हें माच के उन्नायक की उपाधि से विभूपित किया जा सकता है। जयसिंहपुरा वाली इनकी माच-परम्परा सारें मालवे में प्रसिद्ध है। आपका जन्म सं० १८६५ में हुआ था । संवत् १९०१ में आपने खेल लिखना प्रारम्भ किया। कहते हैं, आपने ३२ खेलों के प्रणयन का निश्चय किया था, परन्तु १६ खेलों की रचना ही कर पाये थे कि 'गेंदापरी' खेल की भूमिका में अभिनय करते हुए सं० १९३२ में आपकी अप्रत्याशित मृत्यु मंच पर हो गई। उनके खेलों के नाम हैं– (१) राजा हरिश्चन्द्र (२) गेंदापरी (३) रामलीला (४) कुंवर खेमसिंह (५) नागजी दूदजी (६) ढोला मारुनी (७) सेठ सेठानी (८) देवर भोजाई (९) राजा भरथरी (१०) सुदबुद सालंगा (११) हीररांझा (१२) चारण बंजारा (१३) शिवलीला (१४) रावतसिंह (१५) कृष्णलीला और (१६) वैताल पच्चीसी। प्रथम १० खेल शालीग्राम बुकसेलर उज्जैन द्वारा प्रकाशित किये गये । इन खेलों की हस्तलिखित प्रतियां चौथी पीढ़ी के पास सुरक्षित हैं। प्रतिवर्ष वैशाख माह में ५ खेलों का प्रदर्शन किया जाता है ।

बेगमपुरे में गुरु रामकिशनजी ने गुरु बालमुकुन्दजी को परम्परा की प्रतिस्पर्द्धा में माच-परम्परा शुरू की। आपका जन्म सं० १८९० में हुआ और मृत्यु सं० १९४६ में हुई। आपने पांच खेलों की रचना की थी, यथा– मधुमालती, पुष्पसेन, कुंवर रिसालू, ठाकुर ठकुरानी और बादशाहजादी। इनका 'मधुमालती' खेल बहुत प्रसिद्ध है।

नयापुरा में गुरु भैरवलालजी की माच-परम्परा है। आपका जन्म सं० १८९९ में हुआ था। आपने १० खेलों की रचना की, जिनके नाम हैं– गोपीचन्द, विक्रमादित्य, भक्त पूरनमल, सिंहासनबत्तीसी, सीताहरण, हीररांझा, छैलबँटा मीइना, चन्दनाकुंवर, लालसेठ और कुँवरकेशरी। आपकी मृत्यु सं० १९६० में हुई।

विलोटीपुरे में गुरु राधाकिशनजी की माच परम्परा अपने खेल 'हीररांझा'

के लिए सारे मालवी में जानी जाती है। आपका जन्म सं० १९०७ में हुआ था। आपने ६ खेलों की रचना की— हीररांझा, गोपीचन्द, दरियावसिंह, फूलकुंवर लीलावती, लालकुंवर और आभलदे झूमलदे। आपकी मृत्यु सं० १९६५ में हुई। इस परम्परा की तीसरी पीढ़ी के नेतृत्वकर्ता नाथूसिंह उस्ताद ने श्रवणकुमार, शनिमहाराज और सत्यनारायण वरदान नामक तीन खेलों की रचना की।

दौलतगंज की माच परम्परा का सूत्रपात उस्ताद कालूरामजी ने किया। आपका जन्म सं० १९१४ भादवा सुदी चतुर्थी बुधवार को हुआ था। आपने सं० १९३३ में अपने प्रथम खेल की रचना की। उनके २० खेलों के नाम हैं— (१) प्रताप मुकुट (२) रूपसेन (३) मधुमालती (४) इन्द्रसभा (५) राजा छोगारतन (३) हरिश्चन्द्र तारामती (७) सूरजकरण चन्द्रकला (८) जानआलम (९) राजा रिसालू (१०) त्रिया चरित्र (११) चित्रमुकुट (१२) हीरामोती (१३) प्रहलाद चरित्र (१४) छबीली भटियारिन (१५) रामलीला (१६) नागमती (१७) ढोल–सुलतानी (१८) निहालदे सुलतान (१९) रानी सिनगारदे (२०) हीररांझा। इनमें से प्रथम १२ खेल प्रकाशित हुए हैं। सभी खेलों की हस्तलिखित प्रतियां उनके पुत्र प्रसिद्ध संगीतज्ञ मास्टर शालीग्रामजी के पास सुरिक्षत हैं। इस परम्परा में सर्वप्रथम लहर गौरजी गुंसाइन नामक महिला ने सर्वप्रथम मंच पर नारीपात्र का अभिनय प्रस्तुत किया।

अब्दालपुरे में फकीरचंद गुरु ने माचमण्डली की स्थापना की। कहते हैं, आपने १८ खेलों की रचना की थी, परन्तु आपके ४ खेल ही उपलब्ध होते हैं—गोपीचन्द, चंचलसिंह, कामकंदला और सम्मतसिंह।

उज्जैन से ४० मील दूर वड़नगर में गुरु शिवजीराम ने माचपरम्परा का सूत्रपात किया था। आपका जन्म संवत् १८९१ में हुआ था। अपने सं० १९१६ में 'गोपीचन्द' नामक प्रथम खेल की रचना की और बाद में अन्य ६ खेलों की। उनके ७ खेलों के नाम हैं—गोपीचन्द, सिंगलद्वीप, मोजदीन मेहतावपरी, शहजादी, चित्रमुकुट चंद्रकुंवर और पन्नाविरमदेव। सं० १९६१ में इनकी मृत्यु हो जाने के उपरान्त यह परम्परा कुछ दिनों बाद समाप्त हो गई।

वर्तमान समय में श्री श्यामदास चक्रधारी नामक प्रतिभासम्पन्न माचकार ने नई माचमण्डली स्थापित की है। आपका जन्म संवत् १९५७ में हुआ। आपने ९ खेलों की रचना की है— उषा अनिरुद्ध, सती अनुसूया, नलदमयन्ती, श्रवण-कुमार, शिवविवाह सत्यनारायण, रुक्मणिमंगल (दो भागों में), रामायण (चार भागों में) और मैनासुन्दरी (चार भागों में) । श्री चक्रधारी के ये धार्मिक खेल मालवा में बहुत प्रसिद्ध हैं ।

उज्जैन से क़रीब ५ मील दूर ग्राम मंगरोला में श्री चुन्नीलाल गुरु की पुरानी माचपरम्परा है। आपका जन्म सं० १८७४ में हुआ था। आप गुरु बाल-मुकुन्दजी के समकालीन थे। कहते हैं, आपने ७ खेलों की रचना की थी, परन्तु अब केवल ३ खेल ही उपलब्ध होते हैं— वीर विक्रमादित्य, सत्य हरिश्चंद्र और नलदमयन्ती । आपकी मृत्यु सं० १९२४ में हुई । इस परम्परा का निर्वाह उत्तराधिकारियों ने किया। वर्तमान समय में ग्राम मंगरोला में श्री मोहनसिंह नामक कलाकार ने तीन खेलों की रचना की है —सत्यवान सावित्री, मोरध्वज और बदलता गांव। यह दल आकाशवाणी इन्दौर-भोपाल से माच का प्रसारण भी करता है ।

गुरु बालमुकुन्दजी की भांति माच को लोकप्रिय बनाने में श्री सिद्धेश्वर सेन वर्तमान समय में सर्वाधिक योगदान दे रहे हैं। इस लोकप्रिय माचकार का जन्म सन् १९२१ में हुआ। आपने १३ खेलों की रचना की है— राजा भरथरी, प्रण-वीर तेजाजी, राजा रिसालू, सत्यवादी हरिश्चंद्र, नलदमयन्ती, भक्त प्रहलाद, दयाराम गूजर, बंदीछोड़ कोदरसिंह, धरती को दान, ऊगतो सूरज, पनिहारिन और कालिदास। माचरचना का क्रम जारी है। प्रथम दो खेल प्रकाशित और शेष अप्रकाशित हैं। श्री सेन से बहुत आशाएं हैं।

ग्वालियर क्षेत्र में भी माच नाम से एक परम्परा मिलती है। उस्ताद भक्त-राम, उस्ताद गूजरमल, उस्ताद भैरवरामजी, घांसीराम उस्ताद प्रभृति उस्तादों की विभिन्न अखाड़ा-परम्पराओं का पता अनुसंधान के दौरान लगा। इन अखाड़ों की हस्तलिखित प्रतियों का अध्ययन करने पर पता चला कि इस परम्परा का साम्य मालवा लोकनाट्य माच से नहीं के बराबर है । यह परम्परा नौटंकी-सांग के

तुर्रा़कलंगी : अट्टालिका से उतरना

चिड़ावी ख्याल : कलाकार का कमाल

अधिक निकट है । इसीलिये ग्वालियर क्षेत्र की माचपरम्परा का विवेचन नहीं किया गया।

माच साहित्य

मालव लोकनाट्य 'माच' अपनी नाटचशैली और अपने साहित्य की अनूठी विशेषताओं के कारण लोकजीवन का आकर्पण-आधार बना हुआ है। माच साहित्य प्रकाशित, हस्तलिखित और मौखिक परम्परा के रूप में प्राप्य है। माच के कुल १५ खेल प्रकाशित हुए हैं, जिनमें गुरु बालमुकुन्दजी के १० खेल, उस्ताद कालूरामजी के ३ खेल और श्री सिद्धेश्वर सेन के २ खेल सम्मिलित हैं। माच के ६७ खेल हस्तलिखित रूप में प्राप्त हैं। १६ खेल मौखिक रूप से लोककण्ठों में सुरक्षित हैं या जिनके कुछ अंश लिपिवद्ध हैं। इस तरह कुल ११४ खेलों की रचना माच के दलों के विभिन्न गुरुओं— उस्तादों द्वारा किए जाने का पता अनुसंधान के दौरान विदित हुआ।

माच के इन खेलों का अध्ययन करने पर लोकप्रतिभाओं की सृजनशक्ति और कल्पनाशक्ति का अनुमान सहज ही प्राप्त हो जाता है। युग के सजग पहरुओं का दायित्व निभाते हुए लोकानुरंजन के उद्देश्य की पूर्ति में माचकारों का कौशल देखते ही बनता है। माच की उपलब्ध कृतियों का विश्लेपणात्मक अध्ययन करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

(१) कथानक

'लोक' की विविध रुचि, प्रवृत्ति और परिस्थिति के अनुरूप माच-साहित्य में कथानकों का वैविध्य मिलता है। माच की कृतियों को सुविधा की दृष्टि से हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(अ) धार्मिक और पौराणिक कथानक

लोकजीवन की धार्मिक आस्था और विश्वास की परितृप्ति हेतु माचकारों ने धार्मिक और पौराणिक कथानकों को अपनी कृतियों का आधार बनाया। रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत और पुराणों-उपनिषदों से कथानकों को

ग्रहण किया गया। रामलीला, शिवलीला, कृष्णलीला, भक्त प्रह्लाद, सत्यवादी हरिश्चंद्र, श्रवणकुमार, सत्यनारायण वरदान, शनि महाराज, भक्त पूरनमल, सत्यवान सावित्री, मोरध्वज, नरसी मेहता, सती अनुसूया, मेना-सुन्दरी श्रीपाल, गोपीचन्द, भरथरी पिंगला प्रभृति खेलों में लोकजीवन की धार्मिक आस्था-विश्वास के दर्शन होते हैं। वैसे कथानकों को शैवमत, वैष्णवमत, जैनधर्म और नाथसम्प्रदाय प्रभृति भेदों-उपभेदों में भी विभक्त किया जा सकता है। किन्तु मत विशेष या साम्प्रदायिक आग्रह का स्वर कहीं भी सुनाई नहीं देता है। **यही कारण है कि मालवा में रहनेवाला रमजान मियां और युसूफ चाचा 'भक्त प्रह्लाद' और मोरध्वज' के खेलों में उतनी ही रुचि रखता है, जितनी कि मालवा का निवासी राधाकिशन या शंकरलाल।**

(आ) प्रेमाख्यान

मानव की सुकोमल भावनाओं और रागात्मक सम्बन्धों को माच के खेलों का कथा-आधार बताया गया है। धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित, लोकजीवन में प्रचलित और लोककल्पना से युक्त प्रेम कथानकों के आधार पर कई खेलों की रचना की गई। उषा अनिरुद्ध, नलदमयन्ती, रुकमणिमंगल आदि खेलों में ये प्रवृत्तियां परिलक्षित होती हैं। मध्ययुगीन प्रेमाख्यानों का प्रभाव भी माच के खेलों पर दिखाई देता है। मधुमालती, सिंगलद्वीप, कामकंदला और पुष्पसेन प्रभृति खेलों में यह प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। लोकजीवन में प्रचलित कथानकों ने माच के खेलों की प्रसिद्धि में बहुत बड़ा योगदान दिया है। ढोलामारुनी, सुदबुद सांलगा, निहालदे सुलतान, नागजी दूदजी आदि खेल इस बात के उदाहरण हैं।

(इ) शौर्य कथाएँ

प्रणय के साथ शौर्य का सम्बन्ध अटूट है। माच के खेलों में समाज के वीर चरित्रों के शौर्य, साहस, वीरता, संघर्ष, त्याग और उत्सर्ग की भावना के दर्शन होते हैं। वीर तेजाजी, बंदीछोड़ कोदरसिंह, वीर विक्रमादित्य प्रभृति खेलों में इसके प्रमाण विद्यमान हैं।

(ई) सामाजिक विषय और सामयिक घटनाएँ

समाज के सजग प्रहरी के रूप में माचकारों ने सामाजिक समस्याओं और सामयिक घटनाओं को अपने खेलों का आधार बनाया है। सामाजिक और आर्थिक वैषम्य से उत्पन्न डाकू समस्या पर आधारित 'दयाराम गूजर', भूमिहीन कृषकों की समस्याओं पर आधारित 'धरती को दान,' और गांवों में उत्पन्न नवनिर्माण की चेतना पर आधारित 'पनिहारिन' व 'ऊगतो सूरज' नामक माच के खेल इस तथ्य के उदाहरण हैं कि माचकारों की आँखों से युग-सत्य कभी ओझल नहीं हो पाता है।

२. पात्र और चरित्र-चित्रण

माच के पात्र लोकजीवन की कल्पना के प्रतिरूप होते हैं। पात्रों के साथ जनता का नैकट्य देखते ही बनता है। पात्रों की रचना और उनका चरित्रचित्रण इतना स्वाभाविक होता है कि उनके प्रति जनमानस का आकर्षण सदैव बना रहता है। पात्रों को कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। माच में मानव पात्रों के साथ पशु-पक्षी पात्र भी उपस्थित होते हैं, यथा-हरिण, हिरणियां, सिंह, सिंहनियां, मैना, तोता, कबूतर आदि। मानव पात्रों को दो भागों—पुरुष पात्र और स्त्रीपात्र के रूप में विभिक्त किया जा सकता है। पुरुष पात्रों की तुलना में स्त्री पात्रों की संख्या अधिक होती है। पुरुष और स्त्री पात्रों में भी प्रमुख पात्र और सहायक पात्र होते हैं। प्रमुख पुरुषपात्र सामान्यतः राजा, कुँवर (नायक) होता है। प्रमुख स्त्रीपात्र रानी, राजकुमारी (नायिका) कहलाती है। माच का प्रमुख पुरुषपात्र अथवा नायक सुन्दर, कुशल, त्यागी, साहसी, उच्च-वंशीय, स्मृतिवान, तेजस्वी प्रभृति गुणों से सम्पन्न होता है। वह फल का भागीदार होता है। माच के खेलों का सुखान्त दर्शकों को फल प्राप्ति के आनन्द का प्रसाद वितरित करता है। सहायक पुरुष-पात्र शेरमारखां, प्रधान, मंत्रीजी या मुखिया कहलाता है। वह मुख्य पात्र का अभिन्न सखा और सहधर्मी होता है। आद्योपान्त मंच पर नायक के साथ उपस्थित रहता है। कभी-कभी जनमनोरंजन हेतु उत्फुल्ल हास्य की वृष्टि भी कर देता है। किन्तु उसकी स्थिति 'विदूषक' के

समान नहीं होती । कुछ देर के लिए नायक यदि मंच पर से हट जाता है, उस स्थिति में वह नायक की तलवार या मुंदड़ी (मोतियों की छोटी माला) लेकर प्रमुख पात्र की भूमिका का निर्वाह भी कर लेता है ।

माच के स्त्री पात्रों में वेशभूषा की दृष्टि से कोई भेद नहीं होता है । नायिका का अभिनय करने वाला पात्र (पुरुष ही स्त्रीपात्रों का अभिनय करते हैं) जब थक जाता है, तब दूसरा स्त्रीपात्र उसकी भूमिका का निर्वाह कर लेता है । कहीं-कहीं प्रमुख स्त्रीपात्र के हाथ में रूमाल रखने की भी प्रथा है ।

माच की नायिकाएं फलप्राप्ति की अधिकारिरण होती हैं । माचकारों ने अपनी नायिकाओं का चरित्रचित्रण अत्यन्त ही स्वाभाविक ढंग से किया है। माच के स्त्रीपात्र शृंगार और वात्सल्य भावना के प्रतीक हैं। माच की नायिकाएं पतिधर्मानुगामिनी, आत्मविश्वासी, दृढ़ संकल्पी और परिश्रमशीला हैं। किन्तु दूसरी ओर माच की कुछ नायिकाओं के चरित्र में नारी हृदय की कमजोरियां भी हैं। सोतियाडाह, पति पर अतिप्रभुत्व की कामना, गहनों के प्रति अतिमोह, कामवासना का अतिरेक प्रभृति नारी प्रवृत्तियों का अंकन माच के स्त्रीपात्रों में मिलता है ।

३. संवाद

माच के संवादों को 'बोल' कहते हैं । ये बोल गेय होते हैं । पद्यबद्ध संवादों के माध्यम से पात्र का परिचय और उसके चरित्र को प्रस्तुत करने में माचकारों को बड़ी सफलता मिली है। माच के संगीत की लोकप्रियता के आधार विभिन्न राग रागिनियां, लोकधुनों और रंगतों में बद्ध गीतात्मक संवाद ही हैं। आचार्यों द्वारा संवाद के जो विभेद किये गये हैं, उनके अनुसार माच के संवादों को हम सर्वश्राव्य भेद के अन्तर्गत रख सकते हैं। माच का पात्र स्वगत-कथन नहीं करता। पात्रों के परस्पर संवादों के माध्यम से कथा-प्रवाह आगे बढ़ता है ।

वर्तमान समय में गद्यात्मक संवादों का समावेश भी माच में हो गया है। 'वारता' के रूप में पात्र गद्यकथन प्रस्तुत करते हैं। इसके बावजूद भी माच में

पद्यबद्ध संवादशैली की ही प्रधानता है।

४. रस

माच के गीतिबद्ध संवाद (बोल) रस की अपूर्व सृष्टि करते हैं। माच को यदि 'मधुछत्ता' कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। माचकार लोकजीवन के विस्तृत उद्यान में खिले मानस-सुमनों के भाव-अनुभूति-पराग को ग्रहणकर अपनी मौलिक प्रतिभा से काव्य-सृजन करता है। लोकमानस की विविध रुचियों और प्रवृत्तियों के अनुरूप माच की कृतियों में रसों का वैविध्य है। माच के 'बोलों' में रससृष्टि की क्षमता इतनी तीव्र और वैविध्यपूर्ण होती है कि लोक-जीवन उसके प्रति सदैव लालायित रहता है।

माचसाहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि उसमें ६ रसों की प्रधानता है, जो अपनी क्रम-बद्धताके अनुसार इस प्रकार हैं- शृंगार, वीर, शांत, करुण वात्सल्य और हास्य। माच का प्रधान रस शृंगार है। शृंगार के दोनों पक्षों–संयोग और विप्रलम्भ, का हृदयग्राही वर्णन माच की कृतियों में उपलब्ध है। षटऋतु वर्णन और बारहमासा शैली में विप्रलम्भ शृंगार के मार्मिक प्रसंग माचकारों की कुशल लेखनी ने प्रस्तुत किये हैं। वीररस के वर्णन में युद्धवीरों की तुलना में दानवीरों और दयावीरों का वर्णन माच में अधिक है। धार्मिक कथानकों की पृष्ठभूमि पर आधारित खेलों में शान्तरस का निर्वाह हुआ है। करुण और वात्सल्य रसों का संयोग अनेक स्थानों पर मिलता है, जो माच के दर्शकों के मन पर अपनी छाप अंकित करता है। यद्यपि खेलों का अंत सुखान्त ही होता है, परन्तु करुण-प्रसंगों की अवतारणा स्थान-स्थान पर माचकारों ने सफलतापूर्वक की है। माच के स्वाँग-प्रसंग और खेलों के कतिपय 'बोल' उत्फुल्ल-हास्य की सृष्टि करते हैं। ईश्वर की विराट शक्ति के उद्घाटन सम्बन्धी प्रसंगों में अद्भुत रस की झलक भी देखने को मिलती है। लोकमंगल की भावना और जीवन के विकृत एवं अरुचिकर भावों के प्रति उदासीनता की प्रवृत्ति लोक रचनाओं में हमेशा पायी जाती है। यही कारण है कि माच में वीभत्स भावों और कुत्सित प्रसंगों का समावेश नहीं मिलता। माच में रौद्र रस का नितान्त अभाव है।

५. अलंकार

माच में सहज आलंकारिता है। वनश्री की शोभा में जो सहज सौन्दर्य होता है, वही माच की कृतियों में स्थान-स्थान पर पाया जाता है। माच के गीतों में शब्दों और अर्थों की उपयुक्त-योजना, प्रयोग और प्रवृत्ति ने सदैव रसिकों का मन मोहा है। शब्दों की चमत्कारिक सृष्टि करना माचकारों का लक्ष्य कभी नहीं रहा। इसीलिए माच में शब्दालंकारों का प्रयोग कम मिलता है। अ लंकारों का अर्थसौन्दर्य मन को मोहित करता है। अलंकारों के प्रयोग और क्रमबद्धता की दृष्टि से क्रम इस प्रकार हैं— उपमा, रूपक, अनुप्रास, यमक और श्लेष। उपमाओं के क्षेत्र में माचकारों की मौलिक दृष्टि और उपमानों के चयन का कौशल उल्लेखनीय है।

६. छन्द

लोकाभिव्यक्ति की स्वच्छन्द प्रवृत्ति माच के छन्दविधान की प्रमुख प्रवृत्ति है। माचकारों ने पिंगलशास्त्र के जड़ नियमों को नहीं स्वीकारा। प्रसंग, भाव और अनुभूति के संदर्भ में माच के 'बोल' रचे गये। माच की संगीत शैली के अनुरूप माच की गीत कड़ियां विभिन्न रंगतों और धुनों में बद्ध हैं, यथा— रंगत इकहरी, रंगत दोहरी, रंगत लंगडी, रंगत हल्लूर, रंगत रांझ की आदि। इन रंगतों की मात्राएं निश्चित होती हैं, जैसे रंगत इकहरी के टेकपद की मात्राएं ३२ होती हैं। इन रंगतों के टेकपदों के बाद दोहा आता है और फिर टेकपद। इसीलिए माच का प्रमुख छन्द दोहा है। दोहा के आवश्यक लक्षण अंत में गुरु लघु (। ऽ) का निर्वाह सर्वत्र हुआ है। कहीं-कहीं माच में दोहा का १३+११ मात्रा सम्बन्धी शास्त्रीय लक्षण अपनाने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। परन्तु अधिकांश स्थानों पर इस प्रवृत्ति का निर्वाह नहीं मिलता। कारण स्पष्ट है कि माच के दोहों में मात्राओं की गणना शब्दों की गेय स्थिति पर ही की जानी चाहिये। कई शब्द माच की गेय शैली के कारण वैसे ही जोड़ लिए जाते हैं। माचकारों ने दोहा के स्थूल स्वरूप को ही अपनाया है और माच की विशिष्ट संगीत शैली की दृष्टि से उसमें परिवर्तन कर लिया है।

७. भाषा

माच मालवप्रदेश के लोकजीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम है। माच की कृतियों का अध्ययन करने पर भाषा की दृष्टि से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचते हैं—

(अ) माच की प्रमुख भाषा मालवी है।

(आ) मालवी के बाद खड़ीबोली (हिन्दी) का स्थान दूसरा है।

(इ) मालवा की सीमावर्ती भाषाओं और बोलियों यथा–मारवाड़ी, मेवाड़ी, गुजराती, बुन्देली, ब्रज, निमाड़ी प्रभृति भाषाओं और बोलियों के शब्दों का समावेश माच की रचनाओं में मिलता है।

(ई) उर्दू का प्रभाव भी उल्लेखनीय है। इसके साथ अरबी और फारसी शब्दों का प्रयोग भी यत्र–तत्र किया गया है।

मालवी भाषा की मधुरता (मिठास) और मालवी कहावतों–मुहावरों के प्रयोग के साथ अन्य भाषाओं–बोलियों के मिश्रण से माच की भाषा के लालित्य, माधुर्य और आकर्षण में अभिवृद्धि ही हुई है।

लोकसंस्कृति और युगधर्म का निर्वाह

माचसाहित्य, लोकजीवन का अपना साहित्य है। इसलिए उसमें लोक-संस्कृति की धड़कनें विद्यमान हैं। लोकमानस की सांस्कृतिक-अभिरुचियां उसमें प्रतिबिम्बित हैं। मालवा प्रदेश के रीतिरिवाज, आचारविचार, टोनेटोटके, जादूमन्तर, प्रथाएं, परम्पराएं तथा आस्था–विश्वास सभी कुछ माच कृतियों में अभिव्यक्त हैं। इसीलिए इनमें हृदय को छूने की अनूठी क्षमता निहित है। यदि मालवे का सही इतिहास देखना हो तो माच की कृतियां प्रामाणिक आधार सिद्ध होंगी।

अपने समय की सजीव तस्वीरें अंकित करके माचकारों ने अपनी कृतियों को लोकजीवन का दर्पण बना दिया है। युगधर्म के निर्वाह में लोककवियों की दृष्टि सदैव निष्पक्ष रहती है। माच की कृतियां पूर्वाग्रहों और वादविशेष

से ग्रसित नहीं हैं । जागरुक और सजग प्रहरी के रूप में माचकारों ने अपने युग की कमजोरियों, अभावों और गलत प्रवृत्तियों का मात्र चित्रण ही नहीं किया है वरन् अनेक विधियों से उनके लिए दोषी कारणों, व्यक्तियों और आधारों पर प्रकाश भी डाला है । सामन्ती प्रथा के विरुद्ध जनजीवन के स्वर माच की कृतियों में मुखरित हुए । कट्टर सामाजिक बन्धनों के युग में माच के खेलों ने समाज के जड़ नियमों और परम्पराओं पर करारे प्रहार किये । समाज के ठेकेदार कहे जानेवाले अभिजात्यवर्ग का खुलकर मजाक बनाया और उनकी विद्रूपताओं को लोकमंच पर सफलता के साथ प्रस्तुत किया । लोकजीवन को सही दिशा का निर्देश देने में माच की कृतियां मार्गदर्शक सिद्ध हुई हैं ।

नवयुग और माच

माच की नाट्यशैली और उसका साहित्य दोनों ही युग के साथ कदम बढ़ाते रहे हैं । प्रत्येक युग और प्रत्येक समय माच की उपयोगिता जनजीवन के लिए बनी रही है । नवयुग की नवीन परिस्थितियों के अनुरूप मालवे की यह लोकशैली अपने दायित्व के अनुवहन हेतु सक्रिय है । वर्तमान समय में माच के कृतित्व और नाट्यप्रदर्शन क्षेत्रों में समय एवं परिस्थितियों के संदर्भ में कई परिवर्तन हुए हैं । कृतित्व के क्षेत्र में पहला परिवर्तन कथानक की दृष्टि से हुआ है । धार्मिक और प्रेमकथाओं के साथ सामाजिक समस्याओं एवं नवनिर्माण की पृष्ठ-भूमि पर खेलों की रचना की जाने लगी है । कथानकों के प्रस्तुतीकरण में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की प्रवृत्ति बढ रही है । पद्यबद्ध संवादों के साथ गद्य संवादों के प्रयोग में वृद्धि हो रही है । माच की आधुनिक कृतियों की भाषा विशुद्ध मालवी है ।

माच के नाट्यप्रदर्शन में पिछले दशक (सन् १९५८ से १९६८) में कई परिवर्तन हुए है । माच के दृश्यकाव्य के स्थान पर श्रव्यकाव्य के गुणों का समावेश बढ़ता जा रहा है । आकाशवाणी इन्दौर-भोपाल से प्रसारित होने वाले माच इस बात के उदाहरण हैं । केवल ग्रीष्मकाल में ही नहीं अपितु वर्षभर माच का आनंद जनजीवन उठाता है । भारत सरकार के सूचना-प्रसारण-

मंत्रालय के गीतिनाट्य विभाग तथा प्रादेशिक शासन के सूचना–प्रकाशन विभाग द्वारा गांवों-गांवों में माच के खेलों का आयोजन किया जाता है। ये प्रदर्शन सामान्यतः तीन चार घंटे की अवधि के होते हैं। लोकमंच को मिलनेवाला यह प्रोत्साहन नये क्षितिज के उद्घाटन में सहायक सिद्ध होगा। माच के नाट्य-प्रदर्शन मालवा के गांवों और शहरों में नहीं बल्कि देश के दूसरे भागों में भी जनजीवन के आकर्षण केन्द्र बनते जा रहे हैं। राजधानी दिल्ली में (१२ मई से १७ मई १९६२) भारतीय नाट्यसंघ के तत्त्वावधान में फिरोजशाह कोटला ग्राउन्ड पर आयोजित लोकनाट्योत्सव (Folk play Festival) में श्री सिद्धेश्वर सेन की मण्डली द्वारा 'राजा भरथरी' और 'वीर तेजाजी' नामक खेलों का प्रदर्शन सफलतापूर्वक किया गया। इन प्रदर्शनों में माच के स्त्री पात्रों का अभिनय महिलाओं द्वारा प्रस्तुत लोकमंच के लिए अपने ढंग का अनूठा सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त और भी कई परिवर्तन माच में हो रहे हैं, जिसके फलस्वरूप माच जनजीवन में लोकप्रिय बनता जा रहा है।

**

ख़याल

डॉ० अज्ञात

नौटंकी या सांगीत की भांति खयाल भी बहुनामवाची है और यह स्याल, लावनी तथा मरैठी नामों से प्रसिद्ध है । स्याल 'खेल' का अपभ्रंश है और उसमें नाट्यतत्त्व वर्त्तमान हैं। स्याल एक संगीतप्रधान लोकनाट्य है। राजस्थानी स्याल, विशेषकर चिड़ावाशैली के स्याल, जिसके प्रवर्त्तक घनाघन्न उस्ताद, गोविन्द-राम गुरु, शिवबस्सराम गुरु एवं उनके शिष्य नानूलाल राणा तथा उजीरा तेली रहे हैं, इसी प्रकार के लोकनाट्य हैं, जिनमें प्रस्तावना, कथानक, चरित्रचित्रण, संवाद, अभिनय आदि के तत्व विद्यमान हैं। शहादरा और फर्रुखाबाद के स्यालों में भी संवाद और नाट्यतत्त्व मिलते हैं किन्तु इनकी भाषा राजस्थानी स्यालों की मारवाड़ी भाषा के विपरीत खड़ीबोली है ।

स्याल का विकसित रूप 'खयाल' है जिसमें रागतत्त्व अर्थात् भाव एवं कल्पना और बुद्धितत्त्व अर्थात् दार्शनिक चिंतन के सम्मिलित हो जाने से वह नाट्यजगत से निकलकर काव्यजगत की वस्तु बन गया। यह काव्य रागबद्ध है

और संगीत तथा चंग के सहारे संप्रेषणीय बनता है, अभिनय के द्वारा नहीं।

इस खयाल को 'लावनी' इसलिये कहते हैं, क्योंकि इसका मूलाधार है—वह लावनीछंद, जिसे राधाछंद भी कहते हैं और जिसमें २२ मात्राएँ होती हैं। कालान्तर में इस लावनी के अन्तर्गत हिन्दी, उर्दू और संस्कृत के अनेक छन्दों का भी उपयोग होने लगा। लावनी (लावणी) मूलतः मराठी तमाशे (जन्म ११वीं शती या पूर्व) का एक प्रमुख अंग रही है जो शृंगाररस से पूर्ण रहा करती थी। इसमें राधा-कृष्ण के प्रणयप्रसंगों के अतिरिक्त पुराणों या पंचतंत्र, हितोपदेश आदि की कथाएँ अथवा लौकिक प्रणयगाथाएँ भी गाई जाती थीं। हिन्दी की लावनी में मराठी लावनीछन्दों का भी उपयोग हुआ है, अतः मराठीप्रदेश से सके आगमन के कारण खयाल या लावनी को 'मरैठी' नाम से भी पुकारा जाने लगा। कहते हैं कि खयालों में तुर्रासंप्रदाय के प्रवर्त्तक संत तुकनगिरि तथा कलगीसंप्रदाय के प्रवर्त्तक संत शाहअली ने लावनीगान की कला महाराष्ट्र से सीखी थी; अतः लावनी का 'मरैठी' नाम स्वतः इस तथ्य की स्वीकृति का उद्घोष करता है।

तुर्रा और कलगी लावनी के दो विरोधी संप्रदाय माने जाते हैं। इनमें प्रथम शिव के और दूसरे शक्ति के उपासक होते हैं। तुर्रावाले शिव को और कलगीवाले शिव अर्थात् ब्रह्म की शक्ति(माया) को बड़ा मानते हैं और इसी आधार पर दोनों संप्रदायों के शायर (कवि) अपने पक्ष-समर्थन में खयाल कहते और रंगतें या काफिया-रदीफ़ लड़ाते हैं। तुर्रा-कलगी के संबंध में एक कथा प्रचलित है कि एकबार संत तुकनगिरि और शाहअली भ्रमण करते हुए किसी मराठा दरबार में पहुंचे और वहां लावनी गाकर सुनाई। लावनी सुनकर सभी दरबारी बहुत प्रसन्न हुए। भेंटस्वरूप संत तुकनगिरि को बहुमूल्य 'तुर्रा' और संत शाहअली को मूल्यवान 'कलगी' प्रदान की गई, जिन्हें दोनों संतों ने अपने-अपने चंग पर चढ़ा लिया। तभी से तुकलगिरि और उनके शिष्य तुर्रेवाले और शाहअली तथा उनके शिष्य कलगीवाले के नाम से प्रसिद्ध हुए।

मराठी में तुर्रा-कलगी लावनी के संप्रदाय न होकर तमाशे के एक अन्य अंग-भेदिककवन-के अन्तर्गत दो 'फड़' या दल होते रहे हैं। भेदिककवन का अर्थ

है शिव और शक्ति की श्रेष्ठता का विवाद । इसके अन्तर्गत एक फड़ द्वारा वेदांत से संबंधित प्रश्न उठाए जाते थे और दूसरे फड़ द्वारा उसका उत्तर दिया जाता था । शिव को माननेवाले शाहिर तुर्रेवाले और शक्ति के उपासक कलगीवाले कहे जाते थे । बहुत संभव है कि मराठी लावणी के साथ भेदिककवन के दोनों फड़ों के सैद्धांतिक विवाद को भी हिन्दी में मराठी से ही लिया गया हो । उपर्युक्त कथा से भी हमारे इस अनुमान की पुष्टि होती है ।

खयाल रागवद्ध होने के कारण विविध राग-रागिनियों में लिखे गये हैं, जिन्हें 'रंगत' कहते हैं । इस प्रकार की रंगतों की संख्या साढ़े तीन सौ से ऊपर है । रागवद्ध होते हुए भी उनमें काव्यगुण-छन्दवद्धता भी है । ये छंद 'मात्रा' या 'वज़न' पर आधारित होते हैं और कहीं-कहीं ब्रजभाषा के कवित्त–सवैयों की भाँति दीर्घ मात्रा को ह्रस्व करके भी पढ़ना पड़ता है । हिन्दी के छंदों में लावनी (२२ मात्रा), ताटंक (३० मात्रा), आल्हा (३१ मात्रा) आदि अनेक छंदों का उपयोग होता है । अनेक छंद ऐसे हैं, जिनमें संगीततत्त्व या रंगत की प्रधानता है और मात्रा के किसी विशिष्ट नियम का पालन नहीं किया गया प्रतीत होता । 'रंगत महाराज की' या 'रंगत मेरी जान की' में तीन पद होते हैं, जिनमें से प्रथम पद में २२, दूसरे में १५ या १६ तथा तीसरे पद में २७ मात्राएँ होती हैं । 'वजन' पर आधारित उर्दू के वहर, बहरे तवील, तवील मुखफ्फा, शेर आदि छंदों का प्रयोग भी किया गया है । कुछ संस्कृत के छंद भी खयालों के बीच में आए हैं ।

इन खयालों की भाषा खड़ीबोली हिन्दी या उर्दू है । कुछ खयाल शुद्धतः हिन्दी के और कुछ विशुद्ध उर्दू के हैं, किन्तु कुछ खयालों में प्रायः मिलीजुली भाषा का प्रयोग भी होता था । दयालचंद का पतग का रूपक (रंगत डिढखमी), मोहम्मद का प्रहलाद-हिरण्यकश्यप संबंधी खयाल इसी प्रकार की मिश्रित भाषा में लिखे गये हैं ।

(१) मन-पतंग गया उखड़ पकड़ कर हिर्स-हवा का जोर,
टूट गई सुरत-सूत की डोर जी ।

(दयालचंद)

(२) दस्तो-पा बंधवा के खंभ में, हरनाकुश तब होकर शाद,
दिखा के नंगी खड़ग पुकारा, 'बुला राम अपना पहलाद'।
(मोहम्मद)

भाषा-समक का प्रयोग कर लावनी में आधी फारसी, आधी हिन्दी का भी प्रयोग किया गया है:-

निगार जौवा व वाग दीदम, स्वरूप सुंदर अनूप जोवन,
नदिम परी गश्ता हूर नादिम, लजत रती-पति निरख सुभग तन।
(उस्ताद नत्थासिंह)

शायरों ने द्विभाषी खयालों के अतिरिक्त विविधभाषी खयाल भी लिखे हैं। विविधभाषी खयालों में चार भाषाओं से लेकर नौ भाषाओं तक का उपयोग किया गया है। इनमें अधिकांश सात भाषाओं यथा-हिन्दी, फारसी, अरबी, बंगला, मराठी, पंजाबी और अंग्रेजी में लिखे गये हैं, जिन्हें, 'हफ़्त जबान' खयाल कहते हैं। खयाल लिखनेवाले शायरों में उच्चशिक्षितों की संख्या अधिक नहीं थी और न सभी सवर्ण जातियों के थे, फिर भी उनमें से अनेक हिन्दी, उर्दू, फारसी भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हुआ करते थे। इन खयालबाजों ने उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में ही खयालों में उस समय खड़ीबोली की प्रतिष्ठा की, जब हिन्दीकाव्य में व्रज और अवधी का ही बोलबाला था और खड़ीबोली को काव्य के माध्यम के रूप में अपनाया नहीं गया था। काव्य में खड़ीबोली को स्थान दिलाने का श्रेय इन खयालबाजों को ही दिया जाना चाहिये।

खयालों में काव्यालंकार, जिन्हें उनकी भाषा में 'सनअत' कहा जाता है और रीतिग्रन्थों के नायिकाभेद, नखशिख, ऋतुवर्णन या बारहमासा आदि के वर्णन भी प्रायः मिल जाते हैं, जिससे विदित होता है कि इन पर रीतिकाल का व्यापक प्रभाव पड़ा है, किन्तु खयाल के अलंकारों में हिन्दी के रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, लोम-विलोम, गतानुगत आदि के अतिरिक्त अन्य अलंकार (सनअतें) कुछ पृथक ढंग के हैं, यथा-नगर, पशु, आभूषण, वस्त्र आदि के ज़िले, ककहरा, उलटा ककहरा, तिसहर्फ़ी, उलटी तिसहर्फ़ी, दुअंग, चौअंग, छः अंग और अठंग,

अमात्र, मात्रादार, अघर, वेकुनत, नुक्तेचीन आदि । ख़यालों में रूपकों के सहारे प्रायः दर्शन और वेदान्त की वातें कही गई हैं । इस दृष्टि से मन–पतंग, मन–मधुकर, ब्रह्म–वाग, सन्त-सपेरे, प्रेम-घटा, काया-कदम्व, तन-चौसर आदि के रूपक उल्लेखनीय हैं । कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं:—

(१) शील–सन्त मिल ब्रह्म–वाग में हित की साज समाज रहे,
घमंड के घन घिरे प्रवल, विद्या के वाजन वाज रहे ।

(पं० प्रभुदयाल)

(२) उठी प्रेम की घटा पिंड में, भीज गई चूनर सर से,
गंगा–जमना वढ़ीं, रिमझिम माया का जल वरसे ।

(दयालचंद)

(३) वन्द चाल तन–चौसर की कर, कर दूं मात खिलाड़ी को,
पाँच आत्मा का पंजा ला, वढ़ दूं नर्द अगारी को,
छः दर्शन का छक्का फेंकूं, मारूं काम–जुआरी को ।
वन्द चाल० ।

(रज्जव ख़ां)

नायिका के शीशफूल को देखकर कवि ने उत्प्रेक्षा के द्वारा जो ऊहा प्रस्तुत की है, वह वहुत सुन्दर वन पड़ी है । यथा—

है शीश पर शीशफूल किधौं पताका ये रति अमंद का है,
किधौं नखत–संग श्याम घन में प्रकाश पूनो के चंद का है ।

(आनंदी शायर)

अठंग ख़याल हिन्दी के अनुप्रास से मिलताजुलता है । निम्नांकित छंद में 'न' का अनुप्रास दर्शनीय है, जिसके प्रत्येक पद में आठ वार 'न' का प्रयोग होने से उसे अठंग कहा गया है:—

निकट निकेतन के आनि छाये निकाय नागरि निशंक नीके,
निखरे निखिलांग नेह साने निखिल नदी से निखर नीके ।।
(अख्तर)

इसके विपरीत दुअंग में आनुप्रासिक चमत्कार नहीं है। दुअंग में पद या चरण के आदि और अंत, दोनोंओर एक ही वर्ण का प्रयोग होता है। यथाः—

थका न अब तक विषय–भोग से तृष्णावश वहु किये अनर्थ,
थिर मन कर, जप ओम मंद ! अब, दिवस–रत्न क्यों खोते व्यर्थ।

लोम–विलोम में एक चरण के अक्षरों को पलट कर दूसरा तथा गतानुगत में एक ही चरण के अर्द्धांश को पलट कर दूसरा अर्द्धांश बना लिया जाता है। नीचे के दृष्टान्तों से यह स्पष्ट हो जायगाः—

(१) नचै वस गान, वजै वन बैन,
न बैन वजै वन गा सव चैन।
(दुबे रामप्रसाद)

(२) रस–रास रचो नव में वन चोर सरासर।

इनमें प्रथम लोम–विलोम का और दूसरा गतानुगत का उदाहरण है। इससे स्पष्ट है कि खयालकारों की दृष्टि शब्दालंकारों और काव्यचमत्कारों पर अधिक रहती थी, जिससे वे अपने विपक्षी को निरस्त्र कर श्रोताओं पर अपने पांडित्य की धाक जमाने में समर्थ होते थे। ककहरा और तिसहर्फ़ी, उलटा ककहरा तथा उलटी तिसहर्फ़ी में भी इसी प्रकार के चमत्कारप्रदर्शन का भाव निहित है। ककहरा में क, ख, ग आदि को लेकर क्रमशः नया चरण या पद और तिसहर्फ़ी में अलिफ़, वे, पे आदि के क्रम से प्रत्येक मिसरा प्रारंभ होता है और उलटे ककहरे आदि में अंतिम वर्ण से प्रारंभ कर अक्षरों का विपरीत क्रम चलता है।

अमात्र और मात्रादार सनग्रतों में क्रमशः छन्द का प्रत्येक वर्ण मात्रारहित और मात्रायुक्त होता है। अधर में ऐसे वर्णों का प्रयोग होता है, जिनके पढ़ने

या गाने में ओंठ नहीं लगते। यथा:—

न जाने आली, हरी ने कैसी कलह-कठिनता हिये ठनी है।

(रूपकिशोर)

वेनुक्त और नुक़्तेचीन की यह विशेषता है कि प्रथम में किसी भी अक्षर के नीचे नुक़्ता नहीं लगता, जबकि दूसरे के प्रत्येक अक्षर के नीचे नुक़्ता लगता है। इन सनअतों का प्रयोग उर्दू–फारसी के ख़यालों में होता है।

जिला ज़वानी (तलाज़मा) में नगर, पशु, आभूषण, वस्त्र, मिठाई आदि के ज़िले एक साथ या पृथक–पृथक प्रयुक्त होते हैं। नगर, पशु आदि के नामों में शब्दश्लेष होने के कारण अर्थचमत्कार उत्पन्न होता है और एक साथ दो अर्थों के भावन से श्रोता गद्‌गद् हो उठता है। आभूषण और वस्त्र के ज़िलों का सहप्रयोग इस पद में किया गया है:—

ग़ैरों से मिले सनम झूमके मैं सर से टकराता संग,
गुज़र होय किस तरह गुलवदन रक़ीव के तुम रहते संग।

(चुन्नीगुरु)

'झूमके' एकओर 'झुमका' नामक आभूषण का और दूसरीओर 'झूम कर' पूर्वकालिक क्रिया का वाचक है। इसी प्रकार 'गुलवदन' गुलवदन नामक वस्त्र तथा पुष्पमुखी सनम का द्योतक है, किन्तु कहीं-कहीं शब्द-श्लेष के दोनों अर्थ ठीक नहीं वैठते और श्लेपार्थ अथवा शाब्दिक अर्थ ही सही उतरता है:—

दिल लिया अदा दिखला करके, अव दम वतलाते हो साहव,
किये किसने कानपुर आपके, जो ये सितम दिखाते हो साहव।

(नत्थासिंह)

'दिललिया' से दिल लिया' और 'दिल्लिया' अर्थात् दिल्लीवाली, इन दो अर्थों का वोध हो जाता है, किन्तु यही वात 'कानपुर' के संवंध में नहीं कही जा सकती। 'किये किसने कानपुर आपके' का श्लेपार्थ है — आपके कान किसने

तमाशा : वजइया तथा सुरतिया
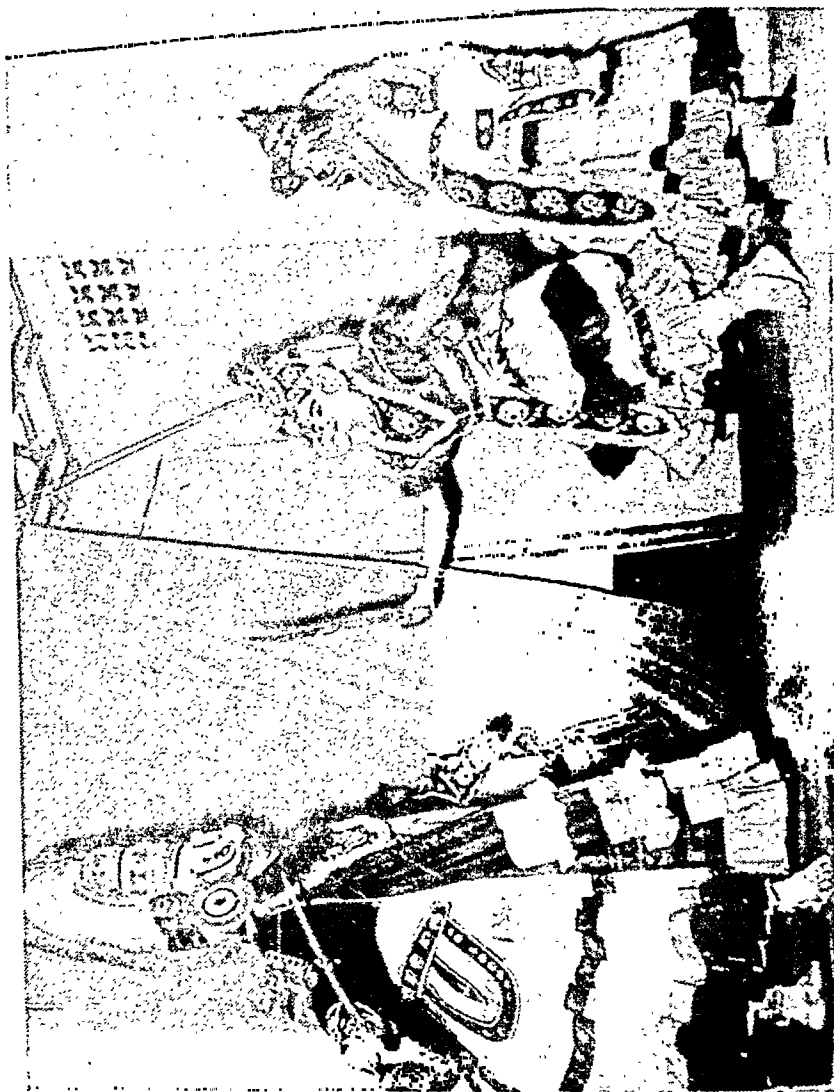
त्रिसंस्कृति का वाहक : यक्षगान

पूरे अर्थात् भरे ? किन्तु नगर कानपुर का पक्ष इस पद पर ठीक से नहीं घटित होता ।

ख़यालों में नायिका भेद के अन्तर्गत अज्ञातयौवना, मुग्धा, खंडिता गर्विता, प्रोषितपतिका आदि का रस लेकर वर्णन किया गया है । अज्ञातयौवना का एक सुन्दर उदाहरण देखिए:—

अरी सहेली, धरे हैं सूजे, पिरात मम उर के ठाम दो हैं ।
कहा सखी ने विहंस के आली, ये काम-कंदुक ललाम दो हैं ।
(नारायण)

नायिका के नखशिख वर्णन की ओर भी ख़यालबाज़ों की दृष्टि गई है । मणिलाल मिश्र ने 'ललित लवंगलता-सी ललन', मान करे क्यों नितै-नितै' रंगत खड़ी के द्वारा वियोगी श्याम को प्रकृति के विविध उपादानों को देखकर मानिनी के नख-शिख की याद दिलाई है:—

दर्पण दिव्य विलोकत कोमल कल कपोल सुधि आय रहे,
मोतिन की अवली निहार दंतन-दुति-मोद वढ़ाय रहे ।
विम्बाफल अति उत्तम देखत अधरन-भ्रम सरसाय रहे ।
कोकिल की ध्वनि सुनि प्यारी-वाणी का धोखा खाय रहे ।

शायरों ने सीता और गिरिजा के फूलों के शृंगार के बहाने भी नखशिख का सुन्दर वर्णन किया है:—

(१) सर सूर्यमुखी का शीशफूल, वेला का बैना भाल में है,
वृन्दाल पुष्प की लड़ी पड़ी चोटी के हर एक वाल में है ।
जलतरंग जूही के झब्बे डाले जुल्फों के जाल में है,
गुंथ रही अदा से मौलसिरी माता की मांग विशाल में है ।
(सुंदर)

(२) शीश के ऊपर सजाया शीशफूल गुलाब का,
चांदनी की चंद्रिका मस्तक पे सजदी लामिसाल ।

कान में भुमके चमेली के औ' वाले चम्पई,
कुन्द की नासा में नथ पहनाय दिखलाया कमाल।
(मणिलाल मिश्र)

अब से लगभग पचास वर्ष पूर्व तक कानपुर खड़ीबोली के ख़यालों का एक प्रमुख गढ़ रहा है। कानपुर के ख़यालों के आदिप्रवर्त्तक रिसालगिरि और उनके शिष्य मदारीलाल, बदरुद्दीन, आशाराम एवं दयालचंद (तुर्रेवाले) तथा स्याम-सिंह उस्ताद (कलगीवाले) रहे हैं, जिनके अपने पृथक-पृथक अखाड़े और शिष्य (शागिर्द) थे। इनका कार्यकाल उन्नीसवीं शती का पूर्वार्ध रहा है।

रिसालगिरि के बदरुद्दीन, आशाराम आदि कई शिष्य थे, किन्तु मदारीलाल के उच्चकोटि के शायर एवं सुकंठ गायक होने के कारण उन्होंने न केवल कानपुर में, वरन् समस्त उत्तरीभारत में ख्याति अर्जित की। उन्होंने कानपुर में अपने अखाड़े की स्थापना की. जिसकी शाखाएँ अन्य कई स्थानों पर खुलीं। उन्होंने मियां बादल, बिठूर के डुण्डागायक भारतसिंह और उनके शिष्य भैरोंसिंह आदि अनेक प्रसिद्ध गायकों को 'दंगल' (ख़याल प्रतियोगिता) में हराया। फलत: बादल कलगीसंप्रदाय को छोड़कर दयालचंद तुर्रेवाले के शिष्य हो गये और बाद में उन्होंने स्वयं अपना अखाड़ा स्थापित किया। भैरोंसिंह बदरुद्दीन तुर्रेवाले के शिष्य प्रेमसुख के शिष्य हो गये। मदारीलाल ने निम्नांकित चौक में त्रिपुरारि के रूप का आनुप्रासिक भाषा में सांगोपांग वर्णन किया है:—

शीश गंग अर्द्धंग गौरि नित अंग छवि हरत मदन,
इन्दुबाल छवि भाल, माल उर डाल काल के काल दृगन।
सर्प-हार, मल केश छार निस्तारकार तुम काम-दहन,
यश गावत श्रुति चार सार विस्तार हार गये सहस-वदन।
कुंडल लोल कपोल सुभग, अनमोल बोल त्रयताप-हरन,
त्रिपुरारी, अघहारी, न्यारी कला तुम्हारी आनंद-घन॥

मदारीलाल ने तुर्रे के समर्थन में यहां तक कहा है कि तुर्रे में 'तुर्यापद

भगवान' का और 'गुल-कलगी में काम का वास' रहता है। भैरोंसिंह ने अलिया नामक कलगीवाले के छींटे कसने पर भगवा (तुर्रे का निशान) की देवी उत्पत्ति का वर्णन कर कलगीवालों को लाजवाव कर दिया था:—

सुनेगा जो भगवे का भेद तो वहुत दिनों तक रोवेगा,
कहा मान कलगी वाले, क्यों नाहक हुर्मत खोवेगा।

रज्जवखां तुर्रे की प्रतिष्ठा कुरान में दिखाते हुए कहते हैं:—

तुर्रे का अल्फ़ाज़ अलहदा लिक्खा हुआ कुरान में है।

मियां मौलाई ने तो तत्त्वरूप में यह सलाह दी है कि:—

छोड़ दे तू कलगी का गाना।

इसके विपरीत कलगीवाले शायर कलगी को 'गाना शाहाना' और तुर्रा को 'फक्कड़ी का वाना' मानते हैं। एक कलगीवाले ने गर्व के साथ यह उक्ति कही है:-

वजे कलगी वालों का चंग,
हुए मजनूं सुन दुश्मन दंग।

मणिलाल मिश्र ने एक खयाल में 'जगन्मंगलकर्ता भगवान' से 'शक्ति' का जोर लगानें, 'कलगी का रुतवा' वढ़ाने तथा उक्त 'ख्याल' के द्वारा 'तुर्रेवालों को दंगल के वीच' हराने की प्रार्थना की है।

तुर्रेवालों में मदारीलाल के प्रमुख शिष्य थे :— भग्गा गुरु, मथुरी मिस्सर तथा मुंशीखादिम, जिनमें मथुरी मिस्सर ने अपना अलग अखाड़ा स्थापित कर पं० रामदयाल, पं० प्रभुदयाल, अजिज़ ज्ञानी और गंगासिंह को अपना शिष्य वनाया। इसमें प्रथम दो शायर विशेष यशस्वी हुए। पं० रामदयाल के पुत्र पं० मावव तथा पं० प्रभुदयाल के पुत्र मा० प्यारेलाल भी अच्छे शायर थे। प्रभुदयाल ने अपना पृथक अखाड़ा स्थापित किया और उन्होंने मनीराम, मियां मौलाई, वालावख्श, शंकरस्वामी, स्वामी व्लाकटानंद, चुन्नीगुरु, लाला कपूरचंद जैन आदि कई शायरों को अपना शागिर्द वनाया। इनमें चुन्नीगुरु (चुन्नीलाल शुक्ल)

ने समस्त उत्तरीभारत में अच्छी कीर्ति अर्जित की और अपना अलग अखाड़ा बनाया और कालिकाप्रसाद 'सुंदर', पं० लछमनप्रसाद शर्मा, पीतांवरलाल नंवरदार, खुशीराम, वावूलाल आदि उनके शागिर्द हुए। आगे चलकर पं० माधव, सुंदर आदि ने भी अपने शिष्य वनाये।

चुन्नी गुरु (१८७०–१९४३ ई०) ने आगरा–परंपरा के जगन्नाथ ब्रह्मचारी को कलकत्ते में गाने में परास्त किया और तव से कलकत्ते में उनकी धाक जम गई। ख़यालवाज़ी में उन्होंने मंगलगिरि शायर को भी हराया। चुन्नीगुरु ने कलकत्ते के अतिरिक्त दिल्ली, हरिद्वार, भिवाणी आदि कई स्थानों में दंगल जीते। कानपुर में चुन्नीगुरु का वड़ा सम्मान था और वे लाठीमुहाल में हनुमान मंदिर के पुजारी थे। उनके जीवनकाल में प्रत्येक मंगलवार को मंदिर पर ख़यालवाजों का जमाव हुआ करता था।

रिसालगिरि के दूसरे शिष्य वदरुद्दीन के प्रमुख शिष्य प्रेमसुख थे। मदारीलाल से पराजित होकर भैरोंसिंह ने इन्हीं प्रेमसुख का शिष्यत्व स्वीकार कर तुर्रा गाना प्रारंभ किया। चुन्नीगुरु की ही भांति भैरोंसिंह ने अनेक दंगल जीते और पंजाव में वड़ी लोकप्रियता प्राप्त की। वे उस्ताद कर्नल वदरुद्दीन की कृपा से अंवाला छावनी में हवलदार हो गये थे। 'फटका' लिखने में उन्हें विशेष हस्तलाघव प्राप्त था। उनके ख़यालों की संख्या सहस्रों में वताई जाती है। कृष्णरास, नरसी की हुंडी, राजा हरिश्चन्द्र, धनुषयज्ञ आदि उनके प्रसिद्ध ख़याल हैं।

रिसालगिरि के एक अन्य शिष्य दयालचंद्र (रामदयाल) ने अपना पृथक अखाड़ा वनाया। प्रसिद्ध शायर वादल और अब्दुल गफ़ूर खां 'गफ़ूर' उनके शिष्य थे। इनमें वादल (१८१०–१८७५ ई०) ने अपने सुण्कठ गायन और शायरी से देशभर में अपनी उस्तादी का सिक्का जमा दिया। उस्ताद मदारीलाल से वरावरी के स्तर पर उनकी सदैव नोकझोंक हुआ करतीथी। एक वार वादल ने मदारीलाल पर छींटाकसी की:—

थे कभी 'मदारी', अव तो वने कलंदर,
डुगडुगी वजाते फिरो शहर के अन्दर।

उस्ताद मदारी ने तत्काल उत्तर दिया:—

मैं बना 'मदारी' फिरूं शहर के अन्दर,
तादिरना दिरना नाच अरे बन बंदर ।

उर्दू शायरी के साथ बादल हिन्दी में भी अच्छा लिखते थे । कृष्णलीला संबंधी खयाल भी उन्होंने कई लिखे हैं । बादल के शिष्यों में प्रमुख हैं—रज्जबखां, मोहम्मद, अहमदअली, मजीदखां आदि ।

आगरा परपरा के लालता भी ख़यालों के अच्छे शायर हैं और अनेक दंगलों में भाग लेते रहे हैं । इनका गला बड़ा सुरीला है ।

कलगी संप्रदाय में श्यामसिंह उस्ताद का वही स्थान था जो तुर्रेवालों में मदारीलाल को प्राप्त रहा है । श्यामसिंह का अखाड़ा श्यामाछुन्ना के नाम से सारे उत्तरीभारत में प्रसिद्ध था । वे शायर के साथ अच्छे गानेवाले भी थे, किन्तु उनका कोई खयाल उपलब्ध नहीं है ।

श्यामसिंह के शागिर्दों में प्रमुख थे — लाला शिवप्रसाद, मौलवी 'अफसर' और दिल्लू ज्ञानी । इनमें से प्रत्येक ने अपने अखाड़े स्थापित किये और शिष्य बनाये । पं० गौरीशंकर और तेगासिंह लाला शिवप्रसाद के शिष्य थे । इनमें गौरीशंकर ने अपना पृथक अखाड़ा स्थापित किया और विशेष लोकप्रियता अर्जित की । गौरीशंकर स्वयं बड़े शायरों में न थे, लेकिन उन्होंने कुछ अच्छे खयाल लिखे हैं । उनका निम्नांकित खयाल बहुत लोकप्रिय रहा है:—

जिसके कारण बन-बन में फिरा, वह हरि वृन्दावन में मिला,
मथुरा में मिला, गोकुल में मिला, कुंजन में मिला, सखियन में मिला ।
मेरे आहो नालो की मेरे दिलवर को खबर हो या कि न हो,
यह क्या मालूम, उधर उसको भी खबर हो या कि न हो ।

गौरीशंकर के अनेक शिष्यों में आनंदी शायर, मणिलाल मिश्र, बाबूराम खलीफा, काजीदीन आदि प्रसिद्ध शायर रहे हैं । आनंदी शायर किसी भी कलगी-

वाले की फरमाइश आने पर उसे खयाल लिखकर भेज दिया करते थे, किन्तु दस रुपये सैकड़े की लिखाई से लिया करते थे। शीशफूल संबंधी उनका खयाल सुंदर उत्प्रेक्षाओं से भरा पड़ा है। सूर के ढंग के कुछ कूटपदीय खयाल भी उन्होंने लिखे हैं:—

चार पुष्प, फल चार, पखेरू चार, चतुष्पद भंग भये,

रूप उजागर, गुणसागर जब प्रगटे श्याम, रिपु तंग भये।

मणिलाल मिश्र हिन्दी, संस्कृत और फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। उनकी रचनाओं में रस, रीति, अलंकार आदि का भी अच्छा समावेश हुआ है। 'ललित लवंगलता-सी ललना मान करे क्यों नितै–तितै' में राधा के नख–शिख का अच्छा वर्णन हुआ है। फारसी के शेर का एक नमूना देखिए—

मीखाहम दर खातिरम विनुमायेद मुकाम,

तारीकी अज़दिल रवद तावर आयद काम।

अर्थात् मैं चाहता हूं कि मेरे हृदय में आप वास करें, जिससे अंधकार दूर हो और मुझे काम में सफलता प्राप्त हो।

गौरीशंकर के कुछ शिष्यों ने अपने पृथक अखाड़े बनाकर अनेक शिष्य भी बनाए। रुस्तम मास्टर और अयोध्याप्रसाद आनंदी शायर के तथा पन्नालाल खत्री बाबूराम खलीफा के शिष्य थे। पन्नालाल खत्री ने श्रीकृष्ण पहलवान की श्रीकृष्ण सांगीत मंडली में रह कर कुछ सांगीत भी लिखे हैं। पन्नालाल ने भी अपने शागिर्द बनाये, जिनमें प्रमुख हैं– छेदी, डा० सैयद अहमदअली 'अहमद', बालजीत और सूरजवली। डा० 'अहमद' स्वयं अच्छे शायर और गायक थे। उनकी शायरी में कल्पना की उड़ान अवलोकनीय है:—

(१) तेरी मांग में सुर्ख लकीर है ये या आशिक की तकदीर है यह,
या वरी सिर पर कातिल ने यक खून-भरी शमशीर है यह।

(२) लगायें दस्तों में जब वो मेंहदी, तो उस घड़ी हम हलाल होंगे,
हमारी गर्दन से खूं बहेगा, तो हाथ कातिल के लाल होंगे।

ख़याल प्रायः साधु-संतों या फकीरों का गाना रहा है, जिसे समाज के निम्नवर्ग के शायरों एवं कवियों ने अपनाया। मदारीलाल जाति के मोची, मथुरी मिस्सर और शंकर स्वामी गंगा-पुत्र, मुकुन्दलाल स्वर्णकार और श्याम सिंह उस्ताद माली थे। सवर्ण कही जाने वाली जातियों में से भी कुछ लोग आये। इनमें ब्राह्मणों एवं वैश्यों की संख्या अधिक रही है। कुछ संपन्न वैश्य स्वयं ख़याल तो लिखते ही रहे हैं, ख़यालबाजी का पृष्ठपोषण भी करते रहे हैं। इनमें लाला चुन्नीलाल गर्ग, लाला छंगामलजी, राय साहब गोपीनाथ, लाला सालिगराम बजाज, लाला शंकरलाल कानोडिया आदि प्रमुख हैं। इनमें से कुछ महानुभावों ने तो कानपुर में लावनी के बडे-बड़े दंगल भी कराए हैं, जिनमें नगर से बाहर के सुकंठ गायकों को भी आमंत्रित किया जाता था। इन सवर्ण जातियों के शायरों में हिन्दी, फारसी और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता रहे हैं जबकि अन्य जाति के शायरों में अनपढ़, अथवा आज की भाषा में अशिक्षित होते हुए भी उच्चकोटि की प्रतिभा रही हैं, जो संगीत के सहारे उनकी रचनाओं में निखर उठी है। हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमान शायरों ने भी ख़यालों को समृद्ध बनाया। उन्होंने उर्दू-फ़ारसी और हिन्दी रचनाओं में एक सी क्षमता एवं कला-दाक्षिण्य कापरिचय किया है।

इन शायरों ने एकओर वेदान्त या सूफ़ियाना विचारों का प्रतिपादन किया है, तो दूसरीओर कबीर की भांति मुल्ला, शेख, पंडित या धर्मोपदेशक को फटकारने वाले 'रिन्द' भी उनमें पायेजाते हैं। ये रिन्द प्रेम-सुरा पीकर 'अनल हक़' की आवाज भी सुनते रहते हैं।

सदाये हक़ आती है, चली साकी तेरे मयख़ाने से,
बांग अनल हक़ बलंद हो क्यों न लम्बे पैमाने से।

ख़यालों में इश्क हकीकी के साथ इश्क मजाजी का भी वर्णन हुआ है,

जिसके फलस्वरूप नखशिख, नायिकाभेद, प्रेम और विरह आदि से संबंधित उक्तियाँ देखने को मिलती हैं, तो दूसरी ओर राधा-कृष्ण, लैला—मजनू, हीर-रांझा, शीरीं-फरहाद आदि प्रेमी-युगलों की कथाएँ भी जनमानस पर छा गईं।

लोककाव्य के रचयिता इन शायरों ने समाजसुधार, मद्यनिषेध, गोभक्ति, देशप्रेम आदि विषयों पर भी अनेक खयाल कहे हैं। 'शहीदों की याद' शीर्षक खयाल में क्रांतिकारियों की गाथा गाई गई है—

सुख-चैनों-अमन, ऐशो-इशरत इस मातृभूमि-हित भूल गये,
अशफाक़, भगतसिंह, बिस्मिल-से फाँसी का भूला भूल गये।
(कालिकाप्रसाद 'सुंदर')।

वंग-भंग और स्वदेशी आंदोलन की एक झलक इस खयाल में देखी जा सकती है—

लाल, वाल और पाल कहें यह सुनके ख्याल मत भौं तानो,
छोड़ो सब अंग्रेजी चीजें, चलन स्वदेशी पहचानो।
(भैंकू माली)

महात्मा गांधी के सत्य-अहिंसा के मंत्र द्वारा प्राप्त भारत की स्वतंत्रता का आख्यान भी शायरों ने लिखा है—

विना लिये हथियार हाथ, कर भारतवर्ष स्वतंत्र किया,
सत्य अहिंसा का तुमने फूंक देश में मंत्र दिया।
(लाला शालिगराम बजाज)

कानपुर के इन शायरों में से एकने तो कानपुर की तारीफ में उसे 'महपारा' (चाँद का टुकड़ा), 'परियों का अखाड़ा' और 'बाग़े जन्नत' तक कह डाला है। इस 'बाग़े जन्नत की हवाएँ' मुर्दा को भी जिला देतीं हैं—

बाग़े जन्नत से नहीं कम है फ़िजाये कानपुर,
मुर्दा जी जाए जो वह खाये हवाये कानपुर।

नौटकी की भांति लोककाव्य ख़याल की यह समृद्ध परंपरा भी प्रायः लुप्त-सी हो चली है। न वह ख़यालबाज हैं, न उनके शागिर्द और न उनके वे लामिसाल दंगल। ख़यालबाजी के पुराने पृष्ठपोषक भी प्रायः उठते जा रहे हैं। यदि समय रहते इस विशाल साहित्य का संग्रह, संरक्षण और प्रकाशन न हुआ तो कुछ ही वर्षों बाद उसे चिराग़ लेकर ढूँढना भी संभव होगा।

✽✽

तमाशा

डॉ० श्याम परमार

महाराष्ट्र में सन् १८६० के पश्चात् नाटक का आरम्भ हुआ और सन् १९१३ में सिनेमा आया। किन्तु लोकपरक नाट्यविधाओं के अस्तित्व पर इन दोनों का वहुत समय तक कतई प्रभाव नहीं हुआ। उल्टे मराठी नाटक ने लोक-विधाओं से शक्ति अर्जित की। मंचीय नाटकों के आगमन के बाद भी सर्व-साधारण में गम्मत–तमाशों का प्रभाव बना रहा। संत ज्ञानेश्वर के समय मराठी नाटकों के विकास की परम्परा के आदिसूत्र गोंधल, ललित और स्वांग जैसे लोक-प्रचलित साधनों में निहित रहे। 'ज्ञानेश्वरी' (सन् १२९०) में नटनटी, कलसूत्री, सूत्रधार आदि सम्बन्धी उल्लेख; (साईखडियानें काई प्रार्थवें सूत्रधरातें (अ० ९.३०) को साईखडियाची गली। सूत्र तंतु (अ० १५-३६५); इस बात के द्योतक हैं कि महाराष्ट्र में लोकरंजन के कुछ साधन सदा से विद्यमान रहे हैं, जिन्हें उत्कृष्ट नाटकों के प्रेरणास्रोत मानकर मराठी के लेखकों ने संस्कृत नाट्यप्रविधियों के ज्ञान से, नाट्यरचनाएँ लिखने के लिए उपयोगी समझा।

विश्वनाथ पांडुरंग दांडेकर ने स्पष्ट शब्दों में मराठी नाटकों के मूल में ललित, तमाशा, गोंवल प्रभृति का महत्त्व स्वीकार किया है। यद्यपि उक्त आधार दक्षिण-वर्ती आन्ध्र और कर्नाटक के नाटकों के अधिक अनुरूप है, तथापि महाराष्ट्र के अन्तर्गत उनमें कुछ ऐसे तात्त्विक परिवर्तन हो जाते हैं जिनसे स्वतंत्र सत्ता ही लक्षित होती है। सन्देह नहीं कि मराठी के उदारचेता आलोचक कर्नाटक एवं निकटवर्ती प्रान्त के इस प्रभाव को स्वीकार करते हैं, किन्तु कालान्तर में जो जातीय ढंग सहज रूप में विकसित हुआ वह भी द्रष्टव्य है।

महाराष्ट्र की एक प्रमुख लोकनाट्य शैली 'तमाशा' आज स्वतंत्र रूप से जीवित है। यों तो 'वाघ्या मुरली' जैसी संगीत प्रधान नाट्यविधा में धार्मिक आस्था के कारण, महाराष्ट्रीय स्त्रियाँ पुरुषों के साथ भाग लेती हैं, किन्तु तमाशा का कुछ इस ढंग से यकायक प्रवर्तन हुआ कि शृंगारिक गान-अभिनय के लिए, शुद्ध व्यावसायिक मनोरंजन की दृष्टि से स्त्रियाँ इस नाट्यविधा के माध्यम से मंच पर आयीं।

'तमाशा' फारसी शब्द है। उत्तर में यह शब्द मुसलमानों के साथ आया। मराठी में यह शब्द एक विशिष्ट प्रकार के मनोरंजन के अर्थ में प्रचलित है। महाराष्ट्र के लोकनायक रामजोशी (सन् १७६२-१८१२) का नाम इसी नाट्य के साथ सम्बद्ध है। रामजोशी के काव्य ने ही इसे ऊँचा उठाकर महा-राष्ट्र में प्रतिष्ठा प्रदान की। मराठी में शाहिरी वाङ्मय का संबंध अधिकांश में इसी लोकनाट्य से है। "प्राचीन काल में कारोमण्डल किनारे पर अरब व्यापा-रियों का बहुत आवागमन था। उन्होंने भारतीयों के खेल अवश्य देखे होंगे और बहुत संभव है उन्होंने पहली बार इन खेलों को तमाशा कहना शुरू किया हो। यद्यपि भारतीयों को यह शब्द मालूम था तो भी वे स्वयं इस शब्द का उपयोग नहीं करते थे। मेलों और त्योहारों के अवसर पर जो लोकनाट्य खेला जाता था उसे पुराने कागज़-पत्रों में 'गम्मत' कहा गया है। इस 'गम्मत' का बड़ा आदर था और गाँव-गाँव में पाटील या कुलकर्णी (पटवारी) के पास इस गम्मत के लिये काफ़ी रकम अलग रखी जाती थी। गांव के चमार, कुम्हार, धोबी आदि बारह व्यक्तियों का जत्था विविध अवसरों पर गम्मत का खेल करता

था। कालान्तर में गम्मत के बदले खेल-तमाशा शब्द रूढ़ हुआ और कम-से कम— १२वीं शताब्दी से— ज्ञानेश्वर के काल से वह प्रचलित है। ग्यारहवीं शताब्दी की महिकावती की तवारिख में शायरों का स्पष्ट उल्लेख है, और 'तमाशा' के गीतकारों को बाद में जो 'शाहिर' नाम प्राप्त हुआ वह 'शायर' शब्द का ही अपभ्रंश है।"[1] कबीर ने स्वांग और तमाशा का उल्लेख एक स्थान पर किया है—

> कथा होय तहं स्रोता सोवे वक्ता मूंड पचाया रे।
> होय जहाँ कहीं स्वाँग तमाशा, तनिक न नींद सताया रे ।।

मराठी के विद्वान् गणेश रंगनाथ दंडवते के मत से तमाशा कन्नड़ के लोक-नाट्य का एक रूप है। क्योंकि कन्नड़ का एक तमाशा महाराष्ट्र के तमाशा से बहुत मिलता है। कन्नड़ संस्कृति की प्राचीनता को ध्यान में रखते हुए यह संभावना ग्राह्य हो सकती है।[2] 'तमाशा' के पहले महाराष्ट्र में लोकनाट्य का स्वरूप क्या था, यह भी प्रश्न सामने है। गणेश रंगनाथ दंडवते के अनुसार यह परम्परा 'गोंधल' नामक धर्मप्रणीत नाट्य से विकसित हुई प्रतीत होती है।[3] शाहिर कवियों ने इसे उत्कर्ष प्रदान किया है। यदि इसे कन्नड़-नाट्य का विकृत रूप भी स्वीकार किया जाय तो इसमें संदेह नहीं कि महाराष्ट्र ने इस पर अपना ऐसा गहरा रंग चढ़ाया है कि उसे एक स्वतंत्र लोकनाट्य ही कहा जा सकता है।

अतः यह स्पष्ट है कि तमाशा की परम्परा १६ वीं शताब्दी के पूर्व से प्रचलित है (चाहे उसका नाम तमाशा न रहा हो।) मुसलमानों के आगमन के पूर्व महाराष्ट्र में अपनी ग्रामीण नाट्य परम्पराएँ रही हैं। उन्हीं परम्पराओं पर आगे चलकर बाह्य प्रभाव लक्षित हुए, किन्तु ये सभी प्रभाव महाराष्ट्र की

---

1. राष्ट्रवाणी : जुलाई, १९५६; द० दि० परचुरे का लेख; पृ० ३९-४०।
2. महाराष्ट्र नाट्य-कला व नाट्य वाङ्मय; पृ० १५।
3. वही।

जातीय परम्पराओं में इस तरह घुल-मिल गये कि उन्हें अलग नहीं कहा जा सकता ।

पेशवाओं के काल (१८ वीं शताब्दी) में तमाशा अपने पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच चुका था । सवाई माधवराव और बाजीराव (द्वितीय) के समय इसे खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ । मराठों के राज्य ज्यों-ज्यों दृढ़ होते गये, ऐश्वर्य और विलासिता के कारण, मनोरंजन के विभिन्न साधनों को प्रश्रय मिलता गया । मराठों की सेनाओं के साथ गायिकाओं के दल जाया करते थे । एक ओर तलवार की तेजी थी तो दूसरी ओर ऐहिक शृंगार की सामग्री । लावनी और खयाल छन्दों में तमाशा खिलता गया । उत्तरभारत में मराठों का ज्यों ज्यों संपर्क दृढ़ हुआ, 'तमाशा' अपने रूढ़ अर्थ में अधिक प्रसिद्ध होता गया । रामजोशी, अनंद फंदी, होनाजी, बालाजी, सगनभऊ, प्रभाकर आदि लावनीकार शाहिर कवियों की शृंगारी रचनाओं से तमाशा फलाफूला और अमीर–ग़रीव सभी का प्रिय मनोरंजन हो गया । ये सभी कवि १८ वीं शताब्दी के मध्य हुए । प्रायः प्रत्येक शाहिर कवि के पीछे स्वतंत्र 'फड़' (दल) हुआ करता था । सभी फड़ अपने–अपने शाहिर की रचनाएँ गाते थे । लावनी छंद की प्रसिद्धि के कारण ही फड़ों की परम्परा का विकास हुआ । ये फड़ अभिभावकों के निमंत्रण पर तमाशों का आयोजन करते और सर्वसाधारण के साथ सामंतों और रईसों का भी मनोरंजन करते थे । १९वीं शताब्दी के पूर्व मराठों का खूब उत्कर्ष हुआ । सामाजिक जीवन के शृंगारपरक एवं हृदयस्पर्शी प्रसंग लावनियों के विषय बने । मुहीम पर जाने वाले सैनिकों की प्रियाओं के झुरने, विरहावस्था में अपने पिता के घर तड़पने और पुनर्मिलन की प्रतीक्षा में अपने हृदय को सान्त्वना प्रदान करने वाले वर्णन तमाशा में प्रयुक्त लावनियों में उभरे । सामान्यजीवन की सरस व्यंजनाएँ तमाशा के साहित्य में लोकसाहित्य–सी अछूती और नैकट्य की उष्मा से भासित हुईं ।

बताया जाता है; लावनी की उत्पत्ति केवल तमाशा के लिये हुई । श्री सरवटे ने लिखा है— "मराठी का शाहिर शब्द (मूलतः अरबी का शायर, जिसका अर्थ कवि है) को मराठी पहनावा पहनाकर उपलब्ध किया गया है ।

उसी प्रकार शाहिर की लावनी मराठी कल्पनाओं, संस्कृत की उपमाओं एवं मधुरवृत्तों के संयोग से सृजित हुई है ।[4] लोककवियों की यह परम्परा ऐहिक शृंगार में डूबी हुई थी। लावनी के साथ पवाड़ा छंद का प्रचार हुआ । दोनों छंदों की विषयवस्तु ठीक एक दूसरे के विपरीत थी, तथापि तमाशा में लावनी ही अधिक स्थान पाती रही।

लावनी

कुछ काव्यशैलियाँ होती हैं जिन्हें लोकवाणी का आश्रय उपलब्ध होते ही भौगोलिक सीमाओं से ऊपर उठाने में आसानी हो जाती है। उनकी क्षमताएँ उन्हें कथ्यवैविध्य से अनुप्राणित करती हैं, और वे संयोग से कुछ इस तरह लोकप्रियता ग्रहण कर लेती हैं कि उनके लिए भाषाओं और संस्कृतियों के वृत्त गल जाते हैं । उन्हें सीमाओं के परकोटों में बाँध रखना कठिन होता है। उनकी पारिवारिकताएँ जनपदों को लाँघकर सुदूर प्रान्तों तक फैलती हैं और धीरे-धीरे इतर संस्कृतियों में खप जाती हैं ।

इस संदर्भ में लावनी (जिसे मराठी में 'लावणी' लिखा जाता है) उत्तर और दक्षिण की संस्कृतियों का एक संगमसेतु है। उत्तर में भारतेन्दु ने उसे तब अपनाया जब महाराष्ट्र से यात्रा करती हुई यह शैली उत्तर के लोकगायकों की वाणी पर चमक चुकी थी। लोकपरक नाटकों, अखाड़ों और कलगी-तुर्रा की बैठकों में लावनी समूचे मध्यप्रदेश, गुजरात, व्रज और उत्तरप्रदेश में सर्वाधिक प्रिय एवं खटकेदार गीतविधा सिद्ध हुई ।

हिन्दी में जिन परिस्थितियों में रीतिकाल का उदय हुआ, कुछ उसी तरह की स्थितियाँ मराठी में शाहिर वाङ्मय के अन्तर्गत लावनी के प्रतिष्ठित होते समय थीं। लोकप्रचलित तमाशादलों में उसे खिलने का मौका मिला । लोकगीतों-सी सप्राणता लिए सैकड़ों लावनियाँ परम्परा में विलय होती गईं। अनेक रचनाएँ

———

4. मराठी साहित्य समालोचना; पृ० २० ।

कवियों की वाणी से निःसृत होकर लोगों के कंठ पर चमकने लगीं। अधिक लोकप्रियता के कारण मराठी में कई सुन्दर लावनियों के कालान्तर में पाठभेद हो गये, पर लोकप्रियता में लेशमात्र भी अन्तर न हुआ। 'जो हृदय को छू सके (जी हृदयाला चटका लावते ती) वही लावनी है।' यह कथ्य मराठी के पुराने आलोचक अच्युत बलवन्त कोल्हटकर का है। व्युत्पत्ति कोशकार ने लावनी को एक प्रकार का ग्राम्यगीत कहा है। उसमें ग्राम्यता, शृंगार और गेयता तीनों गुणों का आरोप है। जिन शाहिरों (कवियों) ने लावनियों की रचना की उन्होंने प्रायः ऐसे विषय चुने जो अधिकतर सबको छू सकने की सामर्थ्य रखते थे अथवा जो तत्कालीन जीवन से विशेष सम्बद्ध थे। जिन स्थानों का उस समय समूचे महाराष्ट्र में दबदबा था, उनमें तुलजापुर, पंढरपुर या पूना के क्षेत्र कोल्हापुर, सोलापुर आदि प्रमुख हैं। यहाँ के अमीर–उमराव, गणिकाएँ, सुन्दर स्त्रियाँ और उनके जीवन के विविध प्रसंगों के वर्णन लावनियों में बहुतायत से उपलब्ध हैं। ग्राम्यजीवन के चित्रों की अपेक्षा ज्यादातर पेचदार पगड़ियाँ झुकाए हुए सरदार, ज़रीदार दुपट्टे ओढ़े, आभूषणों से सज्जित, मस्त आँखों वाले 'पंछी मुसाफिर' अथवा 'कभी न मिलनेवाली प्राणों की प्राण' या युद्ध पर जाते हुए सजीले 'सिपैया' इन रचनाओं के पात्र हैं। खेतों में कार्यरत ग्रामबालाओं के स्थान पर प्रतीक्षा करती हुई मुग्धा नायिकाएँ, सामाजिक गोष्ठियों में आग्रह करनेवाली सुन्दरियाँ, एक नज़र देखकर घायल करने की क्षमतावाली हिरनियाँ, नितप्रति शृंगार कर पान से ओष्ठ लाल करनेवाली नागरिकाएँ लावनी की नायिकाएँ हैं। कोल्हापुर, बम्बई, पूना, औरंगाबाद और अहमदाबाद के उल्लेख इन रचनाओं में बार–बार आये हैं। तात्पर्य यह कि लावनी के रचयिताओं ने जिन विषयों को चुना वे जनपदीय कम और शहरों के लौकिक जीवन के समीप अधिक हैं। उनका संवेदन नगरों की विलासिता और उनसे सं–बद्ध मोहक भ्रांतियों में अधिक रमा। सामन्तकालीन ऐश्वर्य और विलास का वर्णन शाहिर कवियों ने खुलकर किया। इनके रचयिता ग्रामीणक्षेत्र से आये थे और लोकभाषा का आश्रय लिए थे, इसलिए एक प्रकार की ताज़गी और मांसलता इनकी कृतियों में रही। यही वजह है कि नगरों की पृष्ठभूमि में लौकिक शृंगार की ये सार्थक प्रतिष्ठा कर सके। इनकी भाषा में ग्राम्यअंश अत्यन्त कम है,

किन्तु वर्णन की आन्तरिक शक्ति मूलतः ग्रामीण ही है । लौकिक आधार होने के कारण समन्वय में यह गठन उपलब्ध होना स्वाभाविक था । महाराष्ट्र के तात्कालीन लावनीकारों में रामजोशी, अनन्त फंदी एवं प्रभाकर तीनों ही ब्राह्मण थे । होनाजीवाला और परशुराम किसी अन्य वर्ग के थे । सगनभाऊ मुसलमान था । जातीयभेद इन कवियों को कतई प्रभावित नहीं कर सके । एक प्रकार की चेतना इन सभी व्यक्तियों में थी जो न तो रूढ़ियों से बंधी और न ग्रामीण ही रही । उसका नया संस्कार हुआ । यद्यपि इनकी भाषा में प्राचीन मराठी काव्य के अनेक शब्द प्राप्त हैं, तो भी विषय की नवीनता के कारण उसमें विशिष्ट ओज और खुलापन ही मौजूद है । रामजोशी ने तो संस्कृत में भी लावनियाँ लिखीं, क्योंकि वह शिक्षित था । भाषागत ताजगी, अनुप्रास कौशल, लोकपरक मुहावरों का उपयोग, नादगुण आदि के कारण इन 'शाहिरों' की कृतियों का मराठी साहित्य में विशेष स्थान है । लावनी ने निश्चय ही मराठी को शक्ति दी । एक ओर उसके माध्यम से मराठी को संस्कृत का माधुर्य और रस मिला तो दूसरी ओर लोकगीतों-सी निश्छल अभिव्यक्ति का नूतन स्पर्श ।

शृंगारिकता के अतिरिक्त पौराणिक कथा-सन्दर्भ, देवी-देवताओं की स्तुतियाँ, वेदांत और अध्यात्म विषयक प्रसंग, कृष्ण तथा गोपिकाओं की विविध भावभूमियाँ लावनी में सहज ढंग से संमाहृत हुई । होलकर-दंगे का वर्णन, पुत्र-हीनाओं की करुणगाथा तथा नगरों के सुखदचित्र उनमें भरे पड़े हैं । लावनी में मात्र ग्राम्यगीत कोटि की शृंगारिकता नहीं उभरती रही, बल्कि उसमें परिहास, वीभत्सचित्र, कारुणिक संयोग, शान्तभाव तथा वीरोचित प्रसंगों की अवतारणा भी होती रही है ।

महाराष्ट्र की लावनी का निकट से अध्ययन करने पर उसमें कुछ बातें विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

(१) लावनी की रचनाप्रक्रिया का मूल हेतु लोकरंजन है; क्योंकि वह जनसमूह के बीच गायी जाती है । वही उसका मुख्य उत्सबिन्दु है ।

(२) लावनी की रचना प्रायः आठ मात्रा के पद्यावर्तनी अथवा छः मात्रा

के भृंगावर्तनी वृत्तों में की जाती है। लावनी की एक अलग ताल है— घुमाली। घुमाली को इसलिए प्रायः लावनीताल भी कहते हैं।

(३) लावनीबाजों में स्पर्धा का अपना विशेष महत्त्व है। अनेक रचनाओं में स्पर्धा का रूप लक्ष्य किया जा सकता है। कभी–कभी स्पर्धा-स्थल पर ही तुरंत रचकर लावनी कहनी होती है।

(४) गाते समय संगत के लिए ढोलकी, ढप, तुनतुने और मंजीरे प्रयोग में लाये जाते हैं। स्पष्ट है, लावनी पढ़ने के लिए नहीं लिखी गयीं। उसके गान में ही उसकी पूर्णता निहित है।

(५) प्रत्येक रचना के अंत में लावनीबाज अपनी छाप देता है। छाप से ही रचयिता का पता चलता है। जब स्पर्धा होती है तो जरूरी नहीं कि स्पर्धा में शरीक़ होनेवाले लावनीबाज अपनी ही चीजें गाएँ। उत्तर-प्रत्युत्तरके लिए अन्य लावनीकारों की रचनाओं को भी प्रयोग में लाया जाना वर्ज्य नहीं है।

इस स्पर्धा के कई अंग हैं। मुख्य हैं—

(अ) 'क़लगी-तुर्रा'; जिसमें निर्गुण-निराकार ब्रह्म और उसकी माया के व्यावहारिक पक्ष को लेकर दो फड़ों (दलों) में स्पर्धा होती है। निर्गुण-निराकार का महत्त्व सिद्ध करनेवाला पक्ष तुर्रादल और मायावादी पक्ष क़लगीदल कहलाता है। उदाहरणार्थ रामजोशी तुर्रेवाला तो प्रभाकर क़लगीवाला। इसके सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से आगे विचार किया गया है।

(आ) 'गवली राउल' दूसरा अंग है। सातप्पा, होनाजी वगैरह गवली थे तथा गोविन्द, सिद्धनाथ, सगनभाऊ आदि नाथपंथी। इनके बीच होने वाली स्पर्धा गवली-राउल कहलाती है। राउल सम्भवतः रावल नाथों की ही शाखा लगती है।

(इ) 'नागेशी–हरदेशी' कर्नाटक के शैवमतावलम्बी (नागेशी) तथा वैष्णवपंथी (हरदेशी) के बीच होनेवाली स्पर्धा का एक रूप है[१]।

इन्हीं स्पर्धाओं से भेदिक लावनियों की उत्पत्ति हुई । प्रश्नोत्तर के ढंग पर बुद्धि, ज्ञान, स्मृति और कल्पना का भेद लेनेवाली रचनाएँ 'भेदिक' कहलाती हैं। प्रश्नोत्तर द्वारा एक दूसरे को परास्त करना तथा एक ही विषय पर अत्यन्त कुशलतापूर्वक अपने मत-मतान्तर व्यक्त करना प्रायः बहुत ही कठिन होता है । लावनीबाजों की इस गेय बहस को सुनना बड़ा ही रोचक लगता है । किस कुशलता से लौकिक, पौराणिक और आध्यात्मिक विषयों का वे लोकरंजक ढंग से गुंफन करते हैं, यह देखने सुनने लायक है । विशिष्ट ढंग से अपनी बात को कहने की क्षमता लावनी में बहुत अधिक है । इसलिए लावनी महाराष्ट्र की सीमाओं में बँधकर नहीं रही । यह हरतरह से एक खटकेदार रचना के रूप में सुदूर प्रान्तों तक लोकप्रिय होती गयी ।

महाराष्ट्र में खेत की बोहनी या पौधे लगाने की क्रिया को 'लावणी' कहते हैं । बोहनी या निराई के समय जो गीत गाये जाते हैं, उन्हें भी लावनी कहा गया है । लावनी की व्युत्पत्ति का कृषिकार्य से सम्बद्ध 'लावणी' से कोई मेल नहीं । उस तरह की व्युत्पत्ति सपाट होगी । हमारी अभिप्रेत लावनी कृषिगीत की श्रेणी में तनिक भी नहीं आती । कटनी के समय गाये जाने वाले मराठीक्षेत्र के गीतों से भी कुछ विद्वानों ने लावनी का सम्बन्ध जोड़ा है; क्योंकि संस्कृत की 'लू' धातु का अर्थ है काटना । (तमाशा : उगम, उत्कर्ष आणि अधःपात-पु० गो० काणेकर; विविधवृत्त; दिवाली, १९४८) । किन्तु इस उल्लेख से भी हमारा अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता ।

'लावण' शब्द से 'लावण्य' और 'लावणी' दोनों रूप अधिक सटीक व्युत्पत्ति लगाते हैं । श्री गो० कृ० मोडक का भी यही खयाल है । इस दृष्टि से 'लावनी' शब्द सौन्दर्य के अर्थ में स्वीकृत किया जा सकता है । किन्तु शब्द के अनुसार 'लावनी' छंद अथवा शैली से इस दृष्टिकोण का कोई सम्बन्ध नहीं है ।

व्युत्पत्ति कोशकार ने लावनी की व्युत्पत्ति, 'लापनिका' से मानी है । जिस प्रकार अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका आदि संस्कृत में कूट-प्रश्नात्मक काव्य हैं उस प्रकार लापनिका भी एक प्रकार का रहा होगा । भेदिक लावनी अथवा कूट-प्रश्नात्मक लावनी कभी-कभी ही सुनने में आती है । इन परम्पराओं से उसका

निश्चय ही गहरा सम्बन्ध होना चाहिए। मराठी के विचारक श्री सहस्त्रबुद्धे के अनुसार, लावनी शैली के संदर्भ में उल्लेख लगभग सात सौ वर्ष पूर्व से ही कुछ ग्रन्थों में मिलते रहे हैं। प्राचीन ग्रन्थों में 'लापनिका' शब्द आध्यात्मिक अर्थ में आया है। मराठी के आरम्भिक ग्रन्थकारों में केशवराज सूरी का एक ग्रन्थ 'लापणिक' शीर्षक से उपलब्ध भी है। अतएव लावनीशैली आधुनिक नहीं है, बल्कि उसका एक सिलसिलेवार इतिहास है।' लापनिका का उल्लेख 'दशकुमारचरित' और 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' में भी आया है। दोनों ही ग्रन्थों में उसका अर्थ संभाषण अथवा बातचीत तक सीमित है। प्राचीन मराठी में 'लापनिक' शब्द बड़बड़ाने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'लप्' धातु से 'लाप्यति' जैसा प्रायोगिक रूप बनता है। इस मान्यता के अनुसार लावनीशैली का आशय स्पष्ट नहीं होता। यह आधार कमजोर है। प्रचलित अर्थ में कहीं भी इसका उल्लेख संस्कृत में नहीं मिलता। हिन्दी और मराठी दोनों में इस काव्यशैली के प्रचलित स्वरूप का संस्कृत काव्य-प्रकारों से लेशमात्र भी मेल नहीं है। केवल व्युत्पत्तिसाम्य के कारण हम जोड़तोड़ कर लावनी का रिश्ता अपभ्रंश से जोड़ने लगे तो विषय के साथ न्याय नहीं होगा।

श्री म० वा० धोंड के अनुसार 'ली'— 'लग्' धातु से मराठी में लागणें शब्द बना जिसका तात्पर्य है लगाना। उसी से 'लावणें' बना। ('तैया निरोपणाचेनि नावें। अव्यायपद सौष्ठावें। लावणी पहातां जाणावे। मागिल वरि। मरहाठी लावणी; भा० व० धोंड, मौजप्रकाशन, १९५६)। इसके अन्य अर्थ हैं— सजाना, जमाना तथा व्यवस्थित करना। राजवाड़े ने मराठी छंद 'ओवी' (अर्धचतुष्पदी-अद्धौठवै-अद्धुहवें-यूहवें-हूअवै-होवई-ओवई-ओवी) पर चर्चा करते हुए बताया है कि ओवणें (गूँथना)—ओवणी-ओवी से ही 'दर्शन प्रकाश' में महानुभाव पंथ के कवियों ने 'ओवनिका' का प्रयोग किया। इस ढंग से कुछ अंशों में लावनी का आधार 'लापनिका' स्वीकार किया जा सकता है।

ज्ञानेश्वर ने 'लावणी' शब्द का प्रयोग विषय के व्यवस्थित निरूपण के अर्थ में किया है। शिवाजी के समकालीन शाहिर अज्ञानदास ने अपने एक पोवाड़े (पवाड़े) में लावनी का प्रयोग 'हीराजड़ित' के अर्थ में किया। महाराष्ट्र की

यही लावनी कर्नाटक में भी गयी। वहाँ इसे वीरगीत और शृंगारगीत दोनों के लिए उपयुक्त समझा गया। वस्तुतः लावनी का प्रयोग प्राचीनकाल में सुन्दर रचना के निमित्त होता रहा होगा।

महाराष्ट्र में लावनी फलीफूली। मौजी कवियों के प्रयासस्वरूप जो स्पर्धा आरम्भ में चली वह क्रमशः विविध विषयों को समेटते हुए गायन-शैली के खास ढंग में आकर विलय हो गयी। तमाशाकारों (लोकनाट्यकारों) ने उसे गाँव-गाँव में पहुंचा दिया। लोकरंजन के निकट वह जितनी अधिक आती गयी उतनी ही उसमें शृंगारिकता प्रविष्ट होती गयी।

महाराष्ट्र में लावनी की रचना यों देखें तो पानीपत के युद्ध के पश्चात् विकसित हुई। तब महाराष्ट्र की राजनयिक स्थिति डांवाडोल थी। कतिपय मराठी शासकों ने स्थिति सुधारने के प्रयत्न किये, किन्तु समाज के भीतर काफ़ी दीमक लग चुकी थी। रघुनाथराव अंग्रेजों से जा मिला। परिणाम यह हुआ कि दोनों ओर से संघर्ष बढ़ गया। अन्याय बढ़ा। सवाई माधवराव की मृत्यु के बाद स्वार्थ, लोभ और लालच का बोलबाला हो गया। एकओर साधारण जनता ग़रीब होती जा रही थी और दूसरीओर मराठा सरदार और धनिक सम्पत्ति बटोरने में लगे थे। विलास और भोग का लक्ष्य करनेवाली रचनाएँ इस स्थिति में सहज ही प्रश्रय पाने लगीं। लावनी शृंगार का साधन हो गयी। धार्मिक स्थिति दिनों-दिन भोगपरक होती गयी। हजारों की राशि ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में दी जाती। भोज आयोजित होते। विलासिता के विपुल साधन जुटाये जाते। पूना तो इस समय ब्राह्मणों और भिखारियों का केन्द्र हो गया। इस समय लावनी में जो अभिव्यंजित हुआ वह तत्कालीन सामाजिक स्थिति को सही तरीक़े में प्रकट करता है। होनाजी बाला की एक लावनी की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

> लटपट लटपट तुझें चालणें मोठे नख्‌ऱ्याचें
> बोलतें मंजुल मैनाचें
> वय वरुपें पंध्राचि दिसे चंद्रधि प्रभा ढवली

आकृति लहान दिसे लवली
दिसे नार सुकुमार मुदराखडि वेणींत आवली
नरम गौजारे गाल होट पवली ...... (इत्यादि)

(लम्बी लचकदार त्रिवेणी गूँथे हुए स्वामिनी प्रिया अवतरित हुई । वालों का शोभाशाली जूड़ा, जिसमें कोकणोंक लगा हुआ है, पूर्णतः झुका जा रहा है। गुले अनार-सी सुकुमार नारी शाल--दुशाला धारण किये है । रखड़ी, मुंदरी तथा चन्द्रसूर्य की वहार उस पर शोभा दे रही है। अपनी साड़ी को ऊँचा उठाये, जिसमें स्थान-स्थान पर पट्टे लगे हैं, यथार्थतः परी की भाँति वह सजी हुई है। ऐसी सुन्दर होकर भी वह कोकिला की तरह कूजन करती है। वह मानो आकाश से टूटी हुई विजली है।)

समूची रचना शृंगारिकता से ओतप्रोत है। रीतिकाल के नख-शिख वर्णन की तुलना में कई रचनाएँ लेशमात्र भी कम नहीं हैं। मराठी की इस शृंगारिकता का प्रभाव लावनियों के जरिये उत्तरभारत तक फैला । दूसरे महायुद्ध तक उत्तरप्रदेश के लोगों की वाणी पर लावनीशैली चढ़ चुकी थी । स्थानीय भाषा का वाना पहनकर मराठी की यह शैली अपनी संस्कृति से निकल कर दूसरी संस्कृति में सहज ही प्रवेश कर गई। उत्तरप्रदेश के 'ख्याल' का वहुत-सा साहित्य लावनीशैली की रचनाओं से भरा है। हिन्दी लावनियों का छंद यद्यपि मराठी के अनुरूप नहीं है तथापि लोकप्रियता के कारण उसकी हृदयस्पर्शी पकड़ हिन्दी से वाहर नहीं रही । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जो लावनियाँ लिखीं उनमें शृंगारिकता की वह सहज संवेदना मुखर नहीं हुई जैसी मराठी में है । मराठी लावनियों का रूप विलासिता की छाया में खड़ा हुआ था। हिन्दी में वैसी स्थिति नहीं थी। सांस्कृतिक धरातल पर इस छंदशैली के वैशिष्ट्य को भारतेन्दु ने अपने तरीके से हिन्दी में प्रतिष्ठित किया—

वही तुम्हें जाने प्यारे जिनको तुम आप ही वतलाओ ।
देखें वही वस जिसे तुम खुद अपने को दिखलाओ ॥ टेक ॥
क्या मजाल है तेरे नूर की तरफ आँखें कोई खोले ।

क्या समझे कोई इस झगड़े के बीच आकर बोले ॥
ख्याल के बाहर की बात भला कोई क्योंकर तोले ।
ताकत क्या है मुअम्मा तेरा कोई हलकर जो ले ॥
क्या खाक यह, कहाँ पाक तुम भला ध्यान में क्यों आओ ॥

लावनीबाज़ों की जो मंडलियाँ उत्तर भारत में पनपीं उनमें कलंगी, तुर्रा, तोड़ा, सेहरा, छत्र, अनगढ़, टुंडा आदि अनेक शाखाएँ उल्लेखनीय हैं । देहली के आसपास कई लावनीकार हुए । पंजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में इनकी रचनाओं की ख्याति रही । रूपकिशोर कवितागिर, घमंडगिर, नत्थासिंह, आशिक अक़बराबादी, बाबा पन्नालाल आदि नाम जनता की वाणी पर चढ़े । ख्यालों के उस्तादों के रूप में ये लावनीबाज़ वर्षों तक प्रभावशाली रहे ।

मराठी की लावनी महाराष्ट्र की होकर भी अनेक स्थानों की हो गयी । उसकी जड़ें महाराष्ट्र से उखड़ीं नहीं बल्कि शाखाएँ खुलकर दूर तक फैलती गयीं । उसने संस्कृतियों को मिलाया—एक सेतु की तरह । सेतु जो किसी एक का नहीं, बल्कि भाषाओं के ऊपर उठकर सब का हो जाता है । काव्यशैली जब लोकवाणी का आधार प्राप्त कर लेती है तब सांस्कृतिक अन्तरावलम्बन सहज हो जाता है । लावनी के साथ यही हुआ ।

मगर महाराष्ट्र में लावनी अपनी पूरी सचाई के साथ स्वतन्त्र होते हुए भी तमाशा का प्रधान आकर्षण बनी । डाक्टर दुर्गा भागवत लावनी की नाट्यपरक शक्ति को संस्कृत के चंपू और चूर्णक से उद्भूत स्वीकार करती हैं । तमाशा के अन्तर्गत काव्यपरक लावनी अभिनय से सम्पृक्त हो जाती है । एकक स्वभावी इस शैली में कहानी को उद्घाटित करने और प्रसंग को सहज सँवारने की अपूर्व क्षमता है । कर्नाटक में लावनी का अंदाज कुछ ऐसा है कि वह महाराष्ट्र के पोवाड़ा जैसी लगती है । मराठी में जो लावनी शृंगार को सहेजती रही, कर्नाटक में उसकी गानशैली तनिक ओजपरक होकर वीरोचित कार्यों को वर्णित करने में उपयुक्त सिद्ध हुई ।

महाराष्ट्र का तमाशा लावनी के बिना वन्ध्य है । लावनी के बिना उसका

अभिनय कभी पूरा नहीं होता। तमाशा के अस्तित्व का निमित्त एक दृष्टि से लावनी से प्रगाढ़ सम्पृक्त है। आज वही उसका अविभाज्य अंग भी है। कोई भी गानशैली लोकपरक नाट्यविधा के लिए इतनी आवश्यक हो सकती है, यह तमाशा देखकर ही अनुभव किया जा सकता है।

यों तो महाराष्ट्र में प्रचलित दशावतार, गोंधल, ललित आदि नाट्यरूपों में तमाशा ने अपनी निजी शैली को उपलब्ध किया है, तथापि अठारहवीं शताब्दी में उसके विशिष्ट उन्नयन के लिए उपयुक्त परिवेश महाराष्ट्र में मिला। जो स्वरूप उस समय विकसित हुआ वही आज भी हमें देखने को मिलता है।

तमाशा का प्रारम्भ 'गरा' से होता है। 'गरा' गाने की पद्धति गोंवल से ली गई है। गरा में गरापति की स्तुति समवेत स्वर में की जाती है। इसके अन्तर्गत कलगी और तुर्रावाले दोनों दल अपने आराध्य का स्तवन अवश्य सम्मि-लित करते हैं। चूंकि दोनों दलों की आध्यात्मिक मान्यताएँ प्रतिस्पर्द्धात्मक हैं, इसलिए गरागायन में ऐसी कामना भी वे निस्संकोच व्यक्त करते पाये जाते हैं जिसमें दुश्मन की पराजय की भावना होती है। दोनों दलों में विभेद का कारण उसकी आध्यात्मिक मान्यताएँ हैं। एक प्रकार का दार्शनिक विश्वास ये दल अपनी मान्यताओं के प्रति बनाये होते हैं। कलगीअखाड़ा आदिशक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है और तुर्रादल शिव को सर्वोपरि मानकर अपने पक्ष को कलगीपक्ष से श्रेष्ठ बताता है। कलगीदल का कथन है कि आदिशक्ति ही शिव की उत्पत्ति का कारण है। अतः शिव आदिशक्ति के पुत्र हैं। तुर्रापक्ष शक्ति को शिव की अंकशायिनी घोषित करता है। दोनों पक्षों के बीच प्रतिस्पर्द्धा का विषय यहीं से आरम्भ होता है। यह ऐसा विषय है कि तमाशा के प्रसंग में इस पर विस्तार से चर्चा करना यहाँ उचित होगा। इसकी आवश्यकता यों भी है कि कलगी-तुर्रा की प्रतिस्पर्द्धात्मक संगति न केवल महाराष्ट्र तक ही सीमित है बल्कि संवादात्मक प्रश्नोत्तर और अपने पक्ष को प्रमाणित करने के लिए जो उत्साह और संवेग इन दलों में निहित है, वह तमाशा के बाहर भी अपना अस्तित्व बनाये हुए है। बंगाल के लोकप्रचलित सम्प्रदायों में सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी जो कथाएँ मिलती हैं उनमें आदिशक्ति से ही शिव के अस्तित्व प्राप्त होने के

कतिपय संकेत निहित हैं। लोक-दर्शक की पृष्ठभूमि के अतिरिक्त 'कलगी-तुर्रा' की जो प्रश्नोत्तरीपद्धति पन्द्रहवीं शताब्दी के पश्चात् मुसलमानी सभ्यता और सूफ़ी सम्प्रदाय के प्रसार में आने के कारण विकसित हुई, वही बाद में नाटकीय तत्त्वों से सम्पर्कित होती गई। महाराष्ट्र में सूफ़ी सम्प्रदाय का प्रसार चौदहवीं शताब्दी में हो गया था। तमाशा में प्रचलित भेदिक लावनी और कूटप्रश्न ध्यान देने पर, संतसाहित्य के ही तत्त्व लगते हैं। इनका प्रभाव कालान्तर में लोकभाषा और लोकछंद पर भी प्रकट हुआ। लावनी से भिन्न रंग लेकर कलगी-तुर्रा गाने की एक शैली बाद में उत्तरभारत में जब कलंगी और तुर्रावालों में गवन्त की 'चर्चा' (ईर्ष्यापूर्ण स्पर्द्धा) लक्ष्य की जाती है तब व्यंग्य और आरोपों के भावों से युक्त ख्याल गान द्वारा एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न होता है। इसे 'फटकेबाज़ी' कहते हैं और 'फटका' होता है जवाब, जिसे निमाड़ में 'तोड़' भी कहते हैं। जब प्रतिस्पर्द्धा-प्रधान स्थिति में शैथिल्य आने लगता है तो मध्यस्थ का कार्य 'टुंडा' नामक एक तीसरे पक्ष द्वारा किया जाता है। 'टुंडा' वस्तुतः लुप्त होते हुए प्रश्न को उभारने में सहायक होता है।

कलगी-तुर्रा

दार्शनिक व्याख्यानुसार कलगी और तुर्रा आदिशक्ति और शिव के सूचक हैं। कलगीपक्ष का विश्वास है कि आदिशक्ति ही शिव में 'सिसृक्षा' (अर्थात् सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा) की स्थिति दो तत्त्वों की सृष्टि करती है— शिव और शक्ति। शिव की इच्छा ही (सिसृक्षा) शक्ति है। शैवसिद्धान्त के छत्तीस तत्त्वों की चर्चा प्रायः अनेक ग्रन्थों में की गई है।

इन समस्त तत्त्वों को निःशेप भाव से आत्मसात् करके शक्ति परम शिव में तत्त्वरूपा होकर अवस्थान करती है। इसीलिए वामकेश्वर तन्त्र में भगवती शक्ति को "कवलीकृतनिःशेपत्तत्त्वग्रामस्वरूपिणी"[5] कहा गया है। कलगीपक्ष का यह विश्वास नाथसिद्धों की परवर्ती परम्पराओं से लिया गया प्रतीत होता है।

---

5. नाथ सम्प्रदाय, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १०३।

तुर्रापक्ष शक्ति द्वारा शिव को उद्भूत नहीं मानता और प्रमाणों द्वारा आदिशक्ति को शिव की पत्नी घोषित करता है। यहाँ तुर्रापक्ष की मान्यता बहुत कुछ शिव-पार्वती के सगुणरूप से मेल खाती है। शक्ति माया है, वह शिव को प्रायः छलती है। कलगीपक्ष इससे भी ऊपर सोचता है। वामकेश्वर तंत्र से स्वर मिलाते हुए उसका कहना है कि जगत् की सृष्टि शक्ति की इच्छा का फल है। इसकी सहायता से शिव कर्मरत होते हैं। स्पर्धा इसी प्रकार के मतभेदों में विद्यमान है। यद्यपि कलगी-तुर्रा की संगीतयोजना में मुसलमानी संस्कृति के वाद्य 'डफ' और 'चंग' प्रयोग में लाये जाते हैं, तथापि मूल भावों का आधार सिद्धों और नाथों की दार्शनिकता है। परवर्ती संतों की परम्परा से इस क्षेत्र की वंदिशों में निर्धारित पदावली (प्रतीकों और रूपकोंवाली) का समावेश हुआ है। स्पर्द्धा में विजय पाने के उद्देश्य से दोनों ही पक्ष, पुराणों, उपनिषदों, कुरान की आयतों और अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों से प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। वेदान्त, योग, न्याय और आध्यात्मिकता के साथ रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी शाखाओं की सूत्रबद्धता एवं निर्गुण-निराकार के उल्लेख भी यथास्थान प्रस्तुत किये जाते हैं। कलगी-तुर्रा में, जहाँ तक दार्शनिक मतभेदों का प्रश्न है, शिवशक्ति सम्बन्धी विश्वासों का आधार परवर्ती नाथ-सिद्धों की विकृत शाखाओं में निहित प्रतीत होता है। १८वीं एवं १९ वीं शताब्दी के उपलब्ध साहित्य (तुर्रा-कलगी) में हिन्दू और मुसलमान विश्वासों के बीच समन्वय पाने की चेष्टा लक्षित होती है। समाजसुधार और थोथे अंधविश्वासों पर चोट भी इन रचनाओं में उभरी है। पौराणिक कथानकों, संतलीलाओं और इतिहाससम्मत घटनाओं के रोचक वर्णन भी इनमें आबद्ध हैं।

कलगी-तुर्रा, जैसा कि नाम से प्रकट है, उधर मध्यकालीन परम्परा के अधिक निकट है। इस विशिष्ट शैली की उत्पत्ति के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों का कथन है कि उत्तरप्रदेश के बनारसीदास (कलगीपक्ष) तथा कवितागिरजी (तुर्रापक्ष) दोनों ही इसके प्रणेता हैं। एक मत यह भी उपलब्ध है कि दक्षिण के शाहअली (कलगीपक्ष)और तुकनगीर (तुर्रापक्ष) ने इसे संयुक्त रूप से प्रचलित किया। एक मनोरंजक कथा के अनुसार कलगीतुर्रा की परम्परा लावनी की दो शाखाएं वताई गई हैं। यह तो प्रमा-

णित है कि लावनी का उद्‌गम महाराष्ट्र में हुआ। १८ वीं शताब्दी के आरम्भ में मध्यप्रदेशीय तुकनगीर महात्मा और शाहअली नामक फ़कीर अपने समकालीन किसी मराठा राजा के दरबार में पहुंचे। दोनों ने अनेक प्रभावशाली लावनियाँ सुनाईं। फलस्वरूप दरबार में उनकी प्रशंसा हुई और राजा ने प्रसन्न होकर अपने मुकुट का तुर्रा उतार कर तुकनगीर को और कलगी निकाल कर शाहअली को देदी। इसी घटना से कलगी और तुर्रा की दो शाखाएँ आरम्भ हुईं। किन्तु यह ज्ञात नहीं हो पाया कि वह राजा कौन था। पर किंवदंती से यह स्पष्ट है कि लावनी ने इस परम्परा को प्रभावित किया है और दोनों ही पक्षों में स्पर्द्धा मुख्य लक्षण है।

जहाँ तक कलगी–तुर्रा के उपलब्ध साहित्य का अनुशीलन सम्भव हुआ है, भाषा की दृष्टि से उस पर उत्तरप्रदेश का पर्याप्त प्रभाव ज्ञापित है। उर्दू का पुट और ख्याली वज दक्षिण के प्रभाव कदापि नहीं कहे जा सकते हैं।

मालवा में कलगी–तुर्रा का प्रवेश निश्चय ही उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। इसके पूर्व प्रश्नोत्तर प्रवृत्ति की परम्परा विद्यमान अवश्य रही होगी, किन्तु उसका नवीन रूप इस नामकरण द्वारा नई लहर के परिणामस्वरूप हुआ प्रतीत होता है। एकओर मुसलमानों ने और दूसरी ओर मराठों ने जब अपने चरण इस भूमि पर बढ़ाये तो दक्षिण से 'लावनी' और उत्तर से 'ख्याल' आकर यहाँ मिले। कलगी-तुर्रा के गीतों को 'ख्याल' भी कहा जाता है। इसका कारण उत्तर का प्रभाव ही है। ख्याल की परम्परा ने मालवा में माच से भी सम्बन्ध जोड़ा है, यही कारण है कि ख्याल की भिन्न तर्जें, जैसे गजल, बहरेतबील, दादरा, रंगत छोटी और बड़ी, खबर रकारी, तितारी, चौतारी, दुअंग, मनबसी, सिकस्त आदि गेय प्रकार कलगी–तुर्रा और माच में मिलते हैं।

मालवा के प्रसिद्ध कलगी-तुर्रा गायकों के, आगर नामक स्थान के, कलगी अखाड़ेवाले भेरू, मोती, मुगलखाँ और चैनराम तथा तुर्रा अखाड़े के बल्देव उस्ताद पर्याप्त प्रसिद्ध रहे हैं। कहते हैं, निमाड़ में क़सरावद के अक़बरखाँ (तुर्रापक्ष) की रचनाएँ अभी सुरक्षित हैं। कुछ प्रतियाँ चोली नामक स्थान के भारतीय महाराज के शिष्यों के पास हैं। अहिल्याबाई (१७२६ ई०) ने इन गायकों

गायकों को वहुत प्रोत्साहन प्रदान किया था। कुछ किंवदंतियों के अनुसार अहिल्यावाई के समय अनेक अलौकिक गायक थे। इस प्रसंग में 'जंजीरा' नामक गीत शैली का पता चलता है। तंत्र–मंत्र के प्रयोगों द्वारा एक-दूसरे पक्ष को नत करने की चेष्टा ऐसे गीतों द्वारा की जाती है। अकवरखाँ इनका प्रयोग करता था। पर कहते हैं वह अपनी पोथियों में अपने ही हाथ से इनका प्रयोग न किये जाने की वात मरते समय लिख गया। इसी प्रकार मणासा (मन्दसौर) के स्व० कचूरजी नाई कलगी और महन्त रामदास तुर्रा के नामी गायक थे।

कलगी-तुर्रा के गीतों से भावपक्ष की प्रभावशीलता के साथ कलापक्ष का कौशल भी मिलता है। रूपक और अनोखी लक्षणाएँ तथा अलंकारों का प्रयोग चतुराई से हुआ है। 'अधररकारी' छन्द को गानेवाला व्यक्ति अपने होठों को विना मिलाये सम्पूर्ण पद गा लेता है। इसके लिए 'व' वर्ग के अक्षर और मात्राओं का लोप छन्दरचना में करना पड़ता है। कठिन परीक्षा तव समझी जाती है जव गानेवाले के होठों के वीच सलाई रख दी जाती है। गाने के वाद वह विना टूटे निकल आये तो 'अधररकारी' सफल माना जाता है। 'अधररकारी' का एक उदाहरण है—

हर जस जस अत सरस सरस हर,
अखल-अचल जल थल दर दर।
दर दर दरसत अनहत गरजत,
झरत अगर रस अधर अधर।
अधर अधर रस छत्र धरत हर,
अधर धनक कर चक्र नसर।
नसर नसर दरसत गर घर घर,
हर हर हरकत नरसत घर घर॥

माकड़ खेड (निमाड़) नामक गाँव के निवासी मोहन महाराज नामी गायक थे। उन्हें अनेक भाषाओं का ज्ञान था। अपनी वहुभाषाविज्ञता उन्होंने

अपने एक छंद में घालमेल प्रस्तुत कर व्यक्त की है। तात्पर्य यह कि कलगी-तुर्रा के गायकों ने अपनी चतुराई छन्दों में प्रकट की है। कलगी-तुर्रा की होड़ में जैसे दलीलों का महत्त्व है वैसे ही छन्दों के स्वरूप-निर्वाह में कौशल भी द्रष्टव्य है। एक दल कोई बात किसी विशेष छंद में कहता है तो सामनेवाला दल उसी छंद की अंतिम पंक्ति लेकर ही उसका उत्तर देने का प्रयत्न करता है अन्यथा 'शिकस्त' समझी जाती है।

धीरे-धीरे कलगी-तुर्रा की परम्परा, जो कभी धार्मिक तत्त्वों और संतों के वचनों से मुखर थी, उत्तरभारत में खड़ीबोली से प्रभावित होने लगी। रीतिकाल में लोकगायकों ने इसे शृंगार से अभिसिंचित किया। आधुनिक रामदंगल की परम्परा की पूर्ववर्ती शैली यही कलगी-तुर्रा की होड़ है।

मध्यप्रदेश के आगर नामक स्थान में होली के अवसर पर कलगी-तुर्रा का आयोजन होता था। फाल्गुन पूर्णिमा से चैत्र कृष्णा तृतीया तक इसे मनाया जाता था। पंडित गणेशदत्त इन्द्र ने 'आगर का इतिहास' ग्रन्थ में इसका उल्लेख किया है। आज यह परम्परा लुप्त हो गई है, पर उसके चिन्ह होली के दिनों में झण्डों और अन्य साधनों द्वारा दीख पड़ते हैं। तुर्रा अखाड़े का झंडा सदैव भगवा और कलगी अखाड़े का हरा होता है। दोनों झंडों पर सर्पाकृति बनी होती है। महाराष्ट्र में जैसा कि आरम्भ में कहा गया है, कलगीवाले 'नागेशी' और तुर्रावाले 'हरदास' कहलाते हैं। नागेशी का झंडा भगवा है और हरदास का हरा अथवा श्वेत।

महाराष्ट्र के संतों ने कई गूढ़ार्थ पदों की रचना की है। उनकी इन रचनाओं का उपयोग कलगी-तुर्रावाले यथासमय किया करते हैं। कालान्तर में कूट प्रश्नात्मक काव्य से सम्बन्धित सवाल-जवाब का मनोरंजक पक्ष तमाशावालों के लिए आकर्षण का विषय बना।

पेशवाओं के समय होनाजी की मंडली-गवलयांचा फड़ तथा सगनभाऊ की मंडली-रावलांचा फड़ के बीच खूब प्रतिस्पर्द्धा हुआ करती थी। सगनभाऊ नाथ सम्प्रदाय से सम्बन्धित था, परन्तु उसकी रचनाओं पर मायावाद अर्थात् कलगी-

पक्ष के दर्शन का प्रभाव था। स्थूल रूप से यों तो मंडलियों की दार्शनिक मान्यताएँ एक ही पक्ष की ओर झुकी होती हैं, तथापि इस प्रकार के अपरोक्ष प्रभाव सभी पर होते हैं। जिस भेदिक लावनी का पहले जिक्र किया गया है वह इस प्रतिस्पर्द्धात्मक प्रसंग में अधिक उपादेय सिद्ध होती है।

हमने कलगी-तुर्रा की यह चर्चा 'गरण' के संदर्भ में उठायी थी। गरण के पश्चात् 'गौलरणी' (गवलन) का प्रसंग आरंभ किया जाता है।

गौलरणी

मराठी संतसाहित्य की गौलरणी (गवलन) और तमाशा की 'गौलरणी' में बहुत अन्तर है। संत वाङ्मय के गौलरणी में आध्यात्मिक अर्थ निहित होता है। जबकि तमाशा का यह अंश प्रसग अथवा प्रसंगों का क्रम मात्र होता है। शाहिर वाङ्मय में गौलरणी का भक्तिभाव लुप्त हो गया और उसके स्थान पर श्रृङ्गारपरक विषयों को महत्व मिला। राधाकृष्ण के विविध रसप्रसंगों का शाहीरों ने बहुत उपयोग किया। इसमें कृष्ण मध्यवर्ती पात्र होते हैं और उनके साथ 'सवंगड़ी' अर्थात् विदूषक होता है। गोपियाँ अनेक होती हैं जो प्रसंगों की सृष्टि करती हैं। स्पष्ट है, कृष्ण और गोपियों के बीच मध्यकालीन ढंग की छेड़छाड़ चलती है। मनोरंजन उत्पन्न करता है विदूषक। पेशवाओं के जमाने में यह तमाशा महत्वपूर्ण भाग समझा जाता था। आजकल गौलरण में अधिक समय नहीं लगता। कुछ फड़ों (मंडलियों) में होनाजी बाला रचित गौलरण बहुत प्रचलित हैं—श्री रंगा कमलाकांता, हरि, पदरातें सांडे। गौलरणी के पात्रों में राधा, कृष्ण, गोपियाँ, पेंद्या, मावशीबाई, सोंगड्या आदि पात्र होते हैं। होनाजी की एक लावनी, 'गौलरणी' में संवादी के अन्तर्गत कैसा रूप धारण कर लेती है इसका एक उदाहरण यहाँ पर्याप्त होगा—

राधा म्हणे श्रीहरि तुम्ही रात्रीं होतां कोणे ठाई।
तें सांगा मजप्रती आता सत्वर भूवरशायी॥

कृष्ण ने रात्रि कहीं वितायी थी। जब वे लौटे तब राधा पूछती है—

सोंगाड्या—काय हो, राव, कृष्ण आचरणच ना। मगविचारल्या प्रश्नाला उत्तर कां देत नहीं ?

राधा—मला वाटत, यांत काही तरी गोम आहे म्हणून म्हणते—

नित्य तुम्हांला हरि नविन एक हृदयी कवटाली।

चार प्रहर कर्मिली निशी कोणे घरीं वनमाली॥

काय एकूं आलं का ? तोंड कां झाकून घेतां ? काल रात्रि चार प्रहर कुठे होतां ? कोणत्या गौलणींच्या महालांत रमला होतात ?

सोंगाड्या — अर, जरा म्हारें हो, अन सांग की, आम्ही हातंच होतो म्हन।

गौलणी — (राधेला) कृष्ण म्हणत्यात आम्ही हतंच होतो।

राधा — साफ खोटें आहे है।

आला नेत्र पुशीत उठून येवढे प्रातःकालीं।

सुरश गंध केसरी टिलक वर कर तुरी भालीं॥

ओठ कां हो सुकले गोपीमानसराजीवभृंगा।

अवतला कांही म्हाणा तुम्ही रात्रीं स्त्रीच्या प्रसंगा॥

गालाला अंजन लगायचें कारण काई ?

सोंगाड्या—कृष्णा, हें काय विचारतीय राधा गौलण।

कृष्ण—अरं गड्या, आता काय उत्तर दयावां वरं ?

राधा—बोला लवकर। नहीं तर विचारीन आणखी कांहीं।

(कृष्ण कुछ कहकर समझाने का प्रयत्न करते हैं –)

कृष्ण—वर्तमान साद्यंत हकीकत नहीं तुला कल्ली

श्रवण करी तूं वरें अंतनी घे समजून वहिली॥

वनामाजी पोवली गाय माझी पलून गेली।

तिला आणायासाठी राधिके, रात्र बहुत झाली॥

ते श्रम झाले आम्हांसी रात्रीं असी जागृति घड़ली
त्या योगें अरक्त नेत्र मुखीं पीत दशा आली ।।

फिर कृष्ण विषय बदलकर गोपियों से कहते हैं—

तुम्हीं भर दुपारच्या चाललांत कोठे ?
श्री रंगा कमलाकांता, हरि परदातें सोड ।
ब्रजललना नारी । जात असों की वाजारीं ।। [6]

'गौलणी' के पश्चात् लावनी का स्थान है । ये रचनाएँ साभिनय गायी जाती हैं । ये फर्माइशी अधिक होती हैं । अब इनमें सिनेगीतों को भी स्थान मिलने लगा है । शृंगारप्रधान लावनियों से तमाशा उठाव पर आता है । लावनियों में गुम्फित जो कथाप्रधान अंश प्रस्तुत किये जाते हैं उन्हें 'वग' कहते हैं । वग संवादात्मक होते हैं । वस्तु की रूपरेखा को ध्यान में रखकर पात्र बिना पूर्व तैयारी के संवाद बोलते हैं । तमाशा का संयोजक 'सरदार' प्रारम्भ में वग की कथावस्तु निश्चित पात्रों को समझा देता है । अतएव सम्वादकौशल तुरत बुद्धि पर अधिक निर्भर करता है । गेय अंग सबको पहले से ही याद होते हैं । वग की कथावस्तु बहुविषयक होती है । ऐतिहासिक, सामाजिक, लौकिक और सामयिक सभी तरह के प्रसंग इसमें प्रयुक्त किये जाने का सिलसिला पाया जाता है ।

वग आरम्भ करने के पूर्व जो लावनी गायी जाती है उसमें एक चीज का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक लगता है । राजाश्रय समाप्त होने पर तमाशा लोकाश्रयी हो गया । तमाशा में पसन्द की लावनी गाने के लिए आग्रह किया जाता है । आग्रह की बंदिश कुछ ऐसी होती है कि उसमें आग्रहकर्त्ता की श्रीवृद्धि का संकेत किया जाता है । आग्रह करनेवाले व्यक्ति प्रायः सम्पत्तिशाली हुआ करते हैं । उनकी सम्पत्ति में वृद्धि हो यही कामना ऐसी लावनी में गुम्फित होती है । इसलिए उस कामनाप्रधान लावनी को 'दौलतजादा' कहा जाता है । किसी के

6. लोकनाट्याची परम्परा; विनायक कृष्ण जोशी, पृ० १२७–२८ ।

आग्रह से गायी जा रही लावनी को तोड़ने के लिए अधिक रकम न्यौछावर की जाती है। उस वक्त लावनी गानेवाली स्त्री गाती हुई रचना को तोड़कर दूसरे की पसन्द की लावनी आरम्भ करती है। 'लावनी तोड़ने' का यह सिलसिला कभी-कभी प्रतिस्पर्द्धा में बदल जाता है।

'रंगबाजी' तमाशा का एक शृंगार-प्रचार अंग होता है। प्रेमी-प्रेमिकाओं के विलासपूर्ण वर्णन ठुमरी, कव्वाली, छक्कड़, साकी, टोपणा, 'बांगड़ी, कटाव, छंद आदि गानप्रकारों से रंगबाजी में किये जाते हैं। 'छक्कड़' प्रेमी-प्रेमिकाओं के पद्यसंवादों को कहते हैं। पट्ठे बापूराव ने कई 'छक्कड़' लिखे हैं।

तमाशा में विविध प्रसंगों के पश्चात् नाट्य का मुख्य का अंश 'वग' में उद्घाटित किया जाता है। मंचीय सुघड़ नाटकों ने गाने की शैली तमाशा से ली जबकि तमाशा ने नाटकों से 'वग' का स्वरूप उपलब्ध किया। पट्ठे बापूराव व दगड़ साली दोनों शाहिर तमाशा में वगयुग के प्रणेता माने जाते हैं। वग के अनेक विषय हैं। कुछ के विषय पौराणिक कथाओं पर आधारित हैं। गुजरात के भवाई नाट्य के प्रसिद्ध खेल 'छैलबटाऊ' और 'मोहना' दोनों तमाशा के वग में मिलते हैं। 'झांसी की राणी', 'संत तुकाराम', 'दामाजी', 'मिट्ठीराणी' (बापूराव कृत), 'महाराची पोर' (दामोदर दिवेकर), 'नशीब फुटकें सांबूच्या' आदि उल्लेखनीय वग हैं।

तमाशा के अन्त में भेदिकगीत गाये जाते हैं। गूढ़ विषय की चर्चा अथवा दृष्टकूटों-सी प्रवृत्ति इन गीतों में लक्षित होती है। प्रायः पहेलिकाओं-सा गोपनीय तत्त्व प्रश्न रूप में ये गीत प्रस्तुत करते हैं। आध्यात्मिक विषयों के अतिरिक्त लौकिक विषयों का समावेश इनमें अधिक होता है। यदि कहीं दो 'फड़ों' की प्रतिस्पर्द्धा हो गई तो भेदिकगीत बड़े काम के सिद्ध होते हैं। एक 'फड़' के प्रश्न को दूसरा 'फड़' चुनौती के रूप में स्वीकार करता है। प्रतिस्पर्द्धा में तुरन्त उत्तर अपेक्षित है। तमाशों में प्रतिस्पर्द्धा का ऐसा स्वरूप कलगी-तुर्रा के गीतों को ही अपने जवाब-सवाल का आधार बना लेता है। तब प्रत्युत्पन्नमति के लोकगायकों की बन पड़ती है और उन्हीं के बल पर 'फड़' विजयी होते हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है तमाशा करनेवाली मंडली 'फड़' कहलाती है। फड़ का मुखिया

'सरदार' दिग्दर्शक एवं संचालक दोनों ही होता है। सरदार 'कड़िया' (ढप अथवा चंग बजानेवाला), ढोलकिया, 'सोंगड़िया' (स्वांग करनेवाला विदूषक) खूबसूरत, नाच्या अथवा नाचनेवाला या नर्तकी एवं 'सुरतिया' (स्वरभरनेवाला) को एकत्र कर अपना दल संगठित करता है। स्त्री नर्तकी तमाशा का प्राण होती है। वह अपने संपूर्ण शृंगार के साथ जनसमूह के समक्ष प्रकट होती है। विशेष भाव-भंगिमाओं सहित वह परम्परागत धुनों में ऐहिक शृङ्गारपरक लावनियों अथवा वीरों के कीर्तिकाव्य पवाड़े या अन्य गीतों को गाती है। उसके साथ 'ढफ' और 'तुनतुन्या' जैसे ग्रामीण वाद्यों के बजानेवाले खास ढंग से अभिनय करते हैं और बीच-बीच में नर्तकी के गीतों की पंक्तियां झेलकर उन्हें आवाज बदल-बदल कर दुहराते हैं। इस प्रवृत्ति का कुछ अंश 'सोंगड़िया' को भी प्राप्त है। वह भी बीच-बीच में व्यंग्य करता है। अथवा विनोदी अभिप्रायों से हास्य का पुट देता जाता है। जहाँ फड़ में स्त्रियाँ नहीं होतीं वहाँ नर्तकी का कार्य पुरुष नर्तक को ही करना पड़ता है। गीतों के विषयानुकूल नर्तकी को क्षण-क्षण में कभी मानिनी, कभी पत्नी, कभी वियोगिनी और कभी प्रेयसी का अभिनय करना पड़ता है।

तमाशा साधारण मंच पर होता है। वास्तव में मामूली ऊँचाई उसके लिये पर्याप्त है। बिना किसी लम्बी-चौड़ी व्यवस्था के तमाशा आयोजित किया जा सकता है। आरम्भ में 'ढफ' और 'तुनतुन्या' के बजैइये तथा सुरतिये मंच पर आकर श्रोताओं का मुजरा करते हैं। यहीं से तमाशा का संगीत आरम्भ होता है और फिर क्रमशः नर्तकी तथा फड़ के अन्य सदस्य प्रवेश करते हैं। नर्तकी के अतिरिक्त शेष व्यक्तियों की वेशभूषा साधारण होती है। नर्तकी पूरा ठाठ बनाती है। सोलह हाथ की साड़ी पहनकर ऊपर से वह चाँदी का कमरबन्द बाँधती है। नाक में नथ, ठीक से गुँथी हुई वेणी तथा पैरों में घुँघरुओं के साथ वह अन्य आभूषण भी धारण करती है।

तमाशा के पात्र और श्रोताओं के बीच विशेष दूरी नहीं होती। नैकट्य की ऊष्मा दोनों पक्ष अनुभव करते हैं। अपेक्षित सामग्री श्रोताओं को तमा-

शाकारों से मिल जाती है। प्राय: छोटे–छोटे पद्य एवं पद्यात्मक संवादों द्वारा कई कथानक एक ही अवसर पर प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कभी–कभी तो सामयिक प्रसंगों की झाँकी स्थानीय विशेषताओं के साथ पूरे ठाठ से श्रोताओं का मनोरंजन करती है।

इन दिनों तमाशा न केवल महाराष्ट्र के गाँवों की वस्तु है, बल्कि नगरों के थियेटरों तक में आधुनिक मंच की सुविधाओं को पाकर सर्वसाधारण का हृदयहारी मनोरंजन बन गया है। बाजीराव पेशवा के कारण उत्तरभारत में भी महाराष्ट्र के लावनीकारों के स्वर गूंजे। प्रभाकर और पट्ठे बापूराव ने तो हिन्दी में भी कुछ लावनियाँ रचीं। हिन्दी में प्रचलित लावनी छंद के पृष्ठ में महाराष्ट्र के इन शाहिरों का बड़ा हाथ है। १९ वीं शताब्दी के आरंभ में तमाशा की लावनियाँ अति शृङ्गारिक हो चलीं। उनमें अश्लीलता का पुट आ गया। परिणामतः मध्यवर्गीय समाज का एक बड़ा भाग उसके प्रति अपनी दिलचस्पी खो बैठा। उसे निम्नश्रेणी का मनोरंजन समझा जाने लगा। प्रतिष्ठित व्यक्ति उसे अपमानजनक समझने लगे। गणेश रंगनाथ दंडवते ने एक सोलापुर निवासी नाना नामक 'नाच्या' (नर्तकी) की एक कहानी अपनी पुस्तक में उद्धृत की है। नाना बड़े बाप का बेटा था। तमाशाकारों की सोहबत में पड़कर वह 'नाच्या' हो गया। एक बार उसके पिता ने तमाशा देखा। नाना नाच्या की कला पर मोहित होकर उसने एक शाल उसे भेंट की। वह जान भी न सका कि अपने पुत्र को ही उसने पुरस्कार दिया है। घर आकर देखा तो वही शाल ओढ़कर उसका पुत्र सो रहा है। वास्तविक स्थिति ज्ञात होने पर पिता ने विषपान कर लिया।

अंग्रेजों के काल में तिलक और महात्मा फुले जैसे व्यक्तियों ने लोकनाट्य की इस शैली को सामाजिक एवं राजनीतिक प्रचार का साधन बनाया था। सन् ४२ के आन्दोलन में भी इसका उपयोग हुआ। राष्ट्र सेवादल तथा साम्यवादियों के सांस्कृतिक मंडलों ने तमाशा के द्वारा जीवन के विचारों को प्रभावित करने का भरसक प्रयत्न किया। तमाशा पर अश्लीलता का आरोप

अब धीरे-धीरे कम होने लगा है। कुछ काल पहले 'महाराष्ट्र तमाशा परिषद' की स्थापना हुई थी। अब तमाशा को लोकजीवन में प्रतिष्ठा मिलने लगी है। शासन ने भी इस विधा का सम्मान किया है। बापू मांग नारायण गांवकर नामक प्रसिद्ध तमाशाकलावन्त को अभी कुछ वर्षों पूर्व राष्ट्रपति पदक भी दिया गया था।

* *

गवरी

डॉ० महेन्द्र भानावत

स्वरूप और तत्त्व

'गवरी' राजस्थान के उदयपुर, डूंगरपुर तथा बांसवाड़ा क्षेत्र में बसे भीलों का मेरुनाट्य है । इसका कथानक शिव को केन्द्र बनाकर संघटित किया गया है । इसमें शिव का जो रूप मिलता है वह अत्यंत विचित्र है । शिव तथा भस्मासुर का प्रतीक राईबूड़िया, मोहिनी तथा पार्वती की प्रतिमूर्ति दोनों राइयां, कुटकड़िया तथा पाटभोपा ये पाँचों गवरी के प्रमुख नायक होते हैं जो 'ताजी' कहलाते हैं । दूसरे जितने भी अभिनेता होते हैं उन्हे 'खेल्ये' कहते हैं । गवरी में जो दृश्य अभिनीत किये जाते हैं वे खेल, भाव अथवा सांग के नाम से पुकारे जातेहैं । कुटकड़िया इस नाट्य का सूत्रधार होता है जो प्रत्येक खेल के पूर्व उसकी संक्षिप्त कथा सुनाता है । इसे उस खेल का झामटड़ा सुनाना कहते हैं । इससे आनेवाले खेल तथा उसकी कथा की जानकारी दर्शकों को पहले से हो जाती है । ये झामटड़े गवरी के मूल भारत के छोटे-छोटे अंश होते हैं ।

गवरी के मूल में नृत्य की प्रधानता रही है । नृत्य की यह प्रधानता आज भी इसमें देखी जाती है । इसी प्रधानता के कारण गवरी नाट्य को

'गवरी का नाच' भी कहा जाता है । जब यह नृत्य अपने विकास की मंजिल को पहुंच गया तब इसमें नाना स्वांग–स्वरूपों की रचना आरम्भ हुई । इसके आधार पर कथा–तत्त्व का गठन हुआ और गीति–तत्त्व ने जोर पकड़ा । गांव का कोई चौराहा अथवा खुला आंगन ही गवरी का रंगमंच होता है । भाद्र महीने से प्रारम्भ होकर पूरे सवा महीने तक प्रतिदिन प्रातः ६ से सायं ६ बजे तक, जहां-जहां गवरी वाले गांव की बहिन-बेटियां ब्याई हुई होती हैं इसके प्रदर्शन आयोजित किये जाते हैं । प्रत्येक भील-परिवार का सदस्य इसमें भाग लेना अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझता है । फलतः गवरी में अभिनेताओं की संख्या चालीस-पचास से लगाकर नव्वे-सौ तक देखने को मिलती है ।

भारतवर्ष में कहीं ऐसा नाट्य देखनें को नहीं मिलेगा जो इतनी लम्बी अवधि तक पात्रों के इतने बड़े समूह के साथ विविध गांवों में इतने सुव्यवस्थित ढंग से दिन भर प्रदर्शित किया जाता हो ।

उद्भव और विकास

शिव तथा भस्मासुर की कथा गवरी के उद्भव की मूल कथा कही जाती है । इसके अनुसार एक बार भस्मासुर ने अपनी तपस्या द्वारा शिवजी से भस्मी-कड़ा प्राप्त किया परन्तु जब उसने उस कड़े के द्वारा शिवजी को ही भस्म करना चाहा तो विष्णु ने मोहिनीरूप धारण कर भस्मासुर को ही भस्मीभूत कर दिया । भस्म होते समय भस्मासुर ने विष्णु से किसी प्रकार अमर बने रहने का वरदान प्राप्त किया । फलस्वरूप उसकी स्मृति में गवरी का आयोजन प्रारम्भ हुआ । भस्मासुर के प्रतीक रूप में गवरी का नायक बूड़िया अपने मुंह पर उसका मुखौट धारण कर समस्त गवरी का संचालन करता है ।

पुराणों में गवरी–कथा के सूत्र

भस्मासुर की यह कथा पुराणों में विभिन्न रूपों में मिलती है । उनमें से एक कथा इस प्रकार है ।

शकुनी असुर के पुत्र वृकासुर ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन त्रिदेवों में

शिवजी को शीघ्र प्रसन्न होने वाला समझ, उनकी आराधना की और यह वर प्राप्त किया कि जिसके ऊपर वह हाथ रखे, वही भस्म हो जाय। शिवजी के इस वर से उन्मत्त हो वृकासुर स्वर्ग, मृत्यु तथा पाताल इन तीनों लोकों में बड़ा उपद्रव मचाने लगा। यहां तक कि स्वयं शिवजी के मस्तक पर हाथ रखकर उन्हें भस्म करके पार्वती का अपहरण करने की दुर्भावना भी उसमें जागृत हो उठी। यह देखकर विष्णु मोहिनीरूप धारण कर उसके सम्मुख आ खड़े हुए और उन्होंने अपने कटाक्षादि मधुर भावों से उसे मोह लिया। फलतः वह भी उनका अनुकरण करता हुआ नाचने लग गया। नाचते-नाचते उसका हाथ उसके सिर पर चला गया और वह वहीं भस्म हो गया। यही वृकासुर आगे जाकर 'भस्मासुर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

लोकजीवन में गवरी-कथा का स्वरूप

भस्मासुर की याद में गवरी के सामूहिक नृत्य में आगे जाकर ऊनवास में घटित नौलाख देवियों की वड़ल्याहींदवा संबंधी घटनाएँ जुड़ गईं और वे ही गवरी की प्रमुख आधार बन गईं। लोकजीवन में ये घटनाएं विविध रूपों में सुनने को मिलती हैं। उसके अनुसार एक घटना इस प्रकार कही जाती है—

एक समय देवी अम्बाव को स्वप्न आया जिसमें उसे विशाल वटवृक्ष तथा नवरात्रि—पूजन का दृश्य दिखाई दिया। मृत्युलोक में पहले उसने ये दृश्य कभी नहीं देखे थे। इसलिए उन्हें देखने की उत्कण्ठा जगी। वटवृक्ष तो राजा वासुकि की बाड़ी में था। अतः किसी ऐसी देवी की खोज प्रारम्भ हुई जो पाताल में जाकर वासुकि की बाड़ी से वटवृक्ष ला सके। संयोग से रामू तथा केवल ये दो देवियां इसके लिए तैयार हो गईं। उन्होंने प्रण किया कि—'जब तक वटवृक्ष नहीं लायेंगीं; देवलऊनवा नहीं जायेंगी; हिमालय जाकर हाड़ गालेंगीं नहीं तो काशी में करवत लेंगीं।' दोनों देवियाँ बहुत भटकीं मगर उन्हें सफलता नहीं मिली। फलस्वरूप वे मरने निकलीं। देवी अम्बाव ने उन्हें ऐसा करने से रोका।

उसकी बाड़ी में प्रतिदिन एक भँवरा आता था। यह बड़ा जबर्दस्त

था। बारह मन का उसका भार था तथा तेरह कोस तक उसकी गुंजार सुनाई देती थी। एक दिन देवी अम्बाव ने भँवरी का रूप धारण किया और बाड़ी में जाकर बैठ गई। नित्य की तरह भँवरा वहां आया। देवी ने फंदा डाल उसे आने-जाने का भेद बताने को कहा। पर उसने भेद नहीं दिया। इस पर देवी ने तांबे की कूंडी में तैल उकाला और भँवरे को उसमें डाल दिया। भँवरा बड़ा छटपटाया। अन्त में उसने वासुकि की वाड़ी जाने का भेद दिया और मार्ग बताया।

देवी ने वहां से प्रस्थान किया और देवलऊनवा पहुंची। सब देवियों को एकत्र किया और पाताल में वासुकि की वाड़ी में जाने का निश्चय किया। जाते समय देवी कूंडी में दूध भर गई और कह गई–' इसका दूध कभी सूखेगा नहीं; यदि सूख जाय तो समझलेना मेरी मृत्यु हो गई है।'

देवी ने अपने मैल से नेवला पैदा किया और उसे लेकर वासुकि की वाड़ी में पहुंची। वासुकि सोया हुआ था। वह उसे जगाने लगी। इस पर वहां पहरा देती हुई नागिन ने उसे रोका और कहा–'ये बारह वरस की गहरी नींद में सोये हुए हैं; यदि जग गये तो तुम्हारा अनिष्ट कर बैठेंगे। तुम्हें वड़ल्या चाहिये तो तुम चुपचाप ले जा सकती हो।' देवी ने जवाब दिया— 'ऐसा करने पर तो मैं चोर कहलाऊंगी।'

बार-बार कहने पर भी जब नागिन ने नाग को नहीं जगाया तो उसे क्रोध आ गया और क्रोध ही क्रोध में नाग को उसका अंगूठा पकड़ जगा दिया। जगते ही, ज्योंही नाग की दृष्टि देवी पर पड़ी कि वह वहीं भस्म हो गई। उसके भस्म होते ही सुनहली ज्वाला तथा रुपहला धुंआ निकला और राख की ढेरी केसर वर्ण की हो गई। उधर देवलऊनवा में ओंखली का वहा दूध सूख गया जिसे देवी भर कर आई थी। इससे देवियों में खलबली मच गई।

संयोग से शिव-पार्वती भ्रमण करते हुए नाग की वाड़ी में आ निकले। पार्वती की दृष्टि देवी की ढेरी पर पड़ी। वह इतनी मोहक तथा लुभावनी थी कि पार्वती उस पर मुग्ध हो गई। उसने शिवजी से इसका रहस्य जानना

चाहा पर उन्होंने उसकी बात टालदी। इस पर पार्वती अलोप हो गई और मक्खी बनकर शिवजी की जटा में जा बैठी। शिवजी के बहुत ढूंढने पर भी वह नहीं मिली। तब वे नारद के पास गये। नारद ने युक्ति बताई। उसके अनुसार शिवजी ने पार्वती को आवाज दी—'पार्वती, तुम जहां भी हो आजाओ तुम्हारे आने पर जो तुम कहोगी; वही करूंगा।' यह सुन पार्वती दौड़ी-दौड़ी आई। शिवजी ने ढेरी पर अमृत छिड़का और देवी को पुनर्जीवित कर पार्वती की इच्छा पूरी की। देवी उठ खड़ी हुई। शिवजी ने उसे वर मांगने के लिए कहा। देवी ने कहा—'यदि देना ही है तो यही वर दो कि मैं वासुकि की मारी नहीं मरूं।' शिवजी ने वरदान देते हुए कहा—'मृत्युलोक में लाली नाम की लुहारिन रहती है। तुम उससे कटारी और जहरी फूल लेकर फिर यहां आना। फण काटते समय ज्योंही नाग तुम्हारे फण मारे; तुम फूल पर उसका एक-एक फण झेलती हुई कटार से उसे काटती जाना और अन्त में जब वह विष रहित हो जाय तब नाग को मार कर यहां से वटवृक्ष ले जाना।'

शिवजी के कथनानुसार देवी लुहारिन के पास गई। वहां से कटारी तथा जहरी फूल लेकर पुनः नाग के पास आई और सोये हुए नाग को जगाया। नाग ने जोर की फूंकार मारी। देवी ने फूल पर फूंकार झेली और कटारी से उसका फण काटडाला। इस तरह उसने नाग के सारे फण काट डाले। जब एक फण शेष रह गया तो नागिन ने देवी के पांव पकड़े और कहा—'कांचली के रूप एक फण तो मेरे लिए छोड़ती जा।' देवी ने शेष बचा वह फण उसके लिए छोड़ दिया।

यहां से देवी बड़ के पास गई और उसे अपने साथ चलने को कहा। बड़ ने यह कह कर कि वहां उसका निर्वाह नहीं हो सकेगा, देवी के साथ चलने को मना कर दिया। देवी ने उसे बहुतेरा समझाया और कहा—'वहां मैं तुम्हें अनेक यत्नों से रक्खूंगी; नित्य दूध दही पिलाऊंगी और इक्योत्तर मानवी भेंट चढाऊंगी।' इस पर बड़ राजी हो गया। देवी ने देवलऊनवा लाकर एक काली चट्टान पर उसे स्थापित कर दिया।

कई दिनों तक देवी वड़ को दूध दही से सींचती रही पर मानवी भेंट चढ़ाने का अवसर उसके हाथ नहीं आया । एक दिन उसे पता लगा कि यहीं कहीं पहाड़ों में भान्या नामक जोगी तपस्या कर रहा है । उसके साथ इठ्योत्तर चेले भी हैं । देवी ने यह अच्छा अवसर पाया। वह जोगी के पास गई और वड़ की सारी घटना कह सुनाई । जोगी ने प्रसन्न हो वड़ देखने की इच्छा व्यक्त की। देवी उसे निमंत्रण देकर चली आई ।

समय पाकर जोगी ने अपने चेलों सहित वड़ के लिए प्रस्थान किया। देवी ने उसकी अच्छी आवभगत की । एक दिन जोगी अपने चेलों को वहीं छोड़ कर धारनगर के राजा जेल से मिलने चला गया । पीछे से अवसर पाकर देवी ने सव चेलों को वड़-भेंट चढ़ा दिये । जोगी लौटा। अपने चेलों को मौत के घाट पाकर वह बड़ा दुखी हुआ। वहां से वह पुनः धारनगर गया और राजा से कहा—'देवलऊनवा का जो वड़ है; वह मानव-भक्षी है । उसने मेरे सभी चेलों का भख ले लिया है, अतः उसे कटवाकर उसकी जड़ों में तेल डलवाया जाय नहीं तो मैं शाप दूंगा जिससे तुम्हारा राज्य नष्ट हो जायगा ।'

राजा ने जोगी की वात मानली और अपनी सेना को वड़ काटने का आदेश दिया । देवियों को यह जव यह खवर लगी तो वे सभी मक्खियां वन वड़ के पत्ते-पत्ते पर वैठ गई । सेना आई । ज्योंही उसने वड़ काटना प्रारंभ किया; सभी मक्खियां वहां से उड़ीं । इससे सारी सेना तितर-वितर होती हुई भागती हुई नजर आई । मार्ग में धार्‌या भील मिला । यह जावड़ का रहने वाला था । इसने अपनी स्त्री जाउड़ी के कंचुली, सवामन धान, थोड़ी सी अमल, तम्वाखू तथा दो वाटियां लेने की शर्त मंजूर कर मक्खियां उड़ाने का ठेका लिया । वह वड़ के पास पहुंचा । मक्खियों को देवी अम्वाव की आण दिला कर उसने जोरदार धुंआ किया जिससे उनकी दृष्टि धूमित हो गई ।

इधर राजा से वदला लेने के लिए देवी अम्वाव तथा चामुण्डा ने कंज-रियों का रूप धारण कर धारनगर की ओर प्रस्थान किया। अपने साथ देवियां सैकडों की तादाद में गधे पाड़े तथा सूअर भी ले गई। गधों पाड़ों

ने फसलों पर हाथ साफ किया तथा सूअरों ने मकानों की नीवें खोखली करदी । राजाने तंग आकर कंजरियों को राज्य से बाहर निकल जाने का हुक्म दिया पर कंजरियां नहीं मानीं । उन्होंने कहा–' हम बरत बांवेंगी और अपना खेल दिखाये बिना नहीं लौटेंगीं ।' राजा की आज्ञा से उन्होंने बरत बांधी और खेल दिखाया । उनके खेल से प्रसन्न हो राजा ने कंजरियों को इनाम–इकरार मांगने को कहा । उन्होंने और कुछ न मांग कर केवल धार्‌या भील तथा जाउड़ी भीलनी मांगी । राजा ने यही किया । देवियों ने नोरता रमी । धार्‌या को नवरात्रा व्रत तथा पूजन का आदेश दिया । वह ढाक बजाता; जाउड़ी थाली । वह पूजा करता; वह गीत गाती ।

दशहरे के दिन सभी देवियां पाती विसर्जित करने चलीं । इसमें देवों ने भी भाग लिया परन्तु गजानंद को हाथी का मुंह होने के कारण वहीं छोड़ दिया गया । उन्हें जब यह ज्ञात हुआ तो वे बड़े क्रोधित हुए और मंत्र द्वारा उड़द फैंकने लगे । इससे देवों के रथ उलट गये और उनके पहिये पाताल में जा धंसे । देवों को इसका पता नहीं लगा । वे दौड़े–दौड़े धार्‌या के पास गये जिसने मुट्ठी देखकर गणपत की करामात का फल बताया । देवी आमज ने गणपत मनाने का बीड़ा उठाया । वह उनके पास गई । उन्होंने प्रत्येक मांगलिक कार्य के पूर्व अपनी पूजा चाही । देवी ने यह बात सहर्ष स्वीकार की । फलतः रथ पूर्ववत् चलने लगे ।

मानसरोवर की पाल पर सभी ने अपने डेरे डाले । कालका का काला, चावण्डा का लाल, अम्बाव का भगवा, रामापीर का सफेद, इस प्रकार नौ लाख देवों के अलग–अलग तम्बू तने । देवियों ने पाती विसर्जित की । इससे सरोवर का पानी गंदा हो गया । पानी गंदा पाकर पणिहारियां रीती लौटीं । रावले बैल प्यासे रहे । यह खबर जब हठिया को लगी तो उसने अपने सेणे को बुलाया और कहा–'मानसरोवर जाकर पता लगाओ; कौनसी धरती की रांडें हैं जो उधम मचारही हैं ? उन्हें यहाँ पकड़लाओ । यहां लाकर उनसे बायदा डलवाओ, पीसणा पीसवाओ और बालक्ये रखवाओ ।' सेणा सरोवर

पर गया। देवियों ने उसे कोड़ों से बुरी तरह पीटा। जब वह लौट कर नहीं आया तो हठिये ने हंसण्या नामक दानव को भेजा। देवियों ने उसे भी तीर द्वारा मार गिराया। यह खबर पा हठिये को बड़ा गुस्सा आया। वह नीले घोड़े पर सवार हो सरोवर पर आया। देवियां उसे देख भागने लगीं। भागती हुई देवी अम्बाव का चीर उसके हाथ आगया। देवी के सामने उसने शादी का प्रस्ताव रखा। इसे स्वीकार करते हुए देवी ने भाड़िया नम [आसाढ़ सुदी नवमी] के लग्न तय किये।

यथासमय हठिया बारात लेकर आया। सीम पर हीरां दासी अगवानी करने गई और नेग के रूप में पांच मुंड लेने को कहा। हठिये ने मुंड की बजाय पांच मोहरें देनी चाहीं पर हीरां नहीं मानी। वहां से बारात पनघट पर आई जहां हीरां ने पचास मुंड प्राप्त किये। पनघट पर से चलकर बारात तोरण पर आई। हीरां ने कहा—'तोरण का नेग सौ मुंडों का है; सौ मोहरों से काम नहीं चलेगा।' सास ने आरती उतारी। हठिया चंवरी में आया। अम्बाव ने कहा—'यदि चंवरी में तू जीत गया तो मुझे शादी कर ले जाना और यदि कहीं हार गया तो यहीं तेरा सिर काट लिया जायगा।' हठिया यह बात मान गया पर देवी को परास्त करने में वह असमर्थ रहा। इससे विवश हो उसे अपना सिर कटाना पड़ा। देवियों ने इस उल्लास में नृत्य का उत्सव मनाया। नृत्य का यह उल्लास गवरी के प्रत्येक खेल में देखने को मिलता है।

गवरी : नामकरण

गवरी के नामकरण के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें कही जाती हैं:—

(१) शिवजी से भस्मीकड़ा प्राप्तकर भस्मासुर ने जब शिवजी को ही भस्म करने की ठानली तो विष्णु मोहिनी रूप 'गोरां' बनकर शिवजी की सहायतार्थ आये और उसे ऐसा करने से रोका। इसी गोरां से गौरी नाम पड़ा और आगे जाकर यह गौरी-गवरी के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

(२) गौरी भीलों की प्रमुख आराध्य देवी भी कही जाती है। इसी से ये

लोग गवरी धारण करते हैं । इसे गौरज्या भी कहते हैं । इसलिए कुछ लोग इसीसे गवरी नाम पड़ा मानते हैं ।

(३) गवरी में दो राइयां होती हैं । इनमें एक तो मोहिनी रूप विष्णु होते हैं तथा दूसरी शिव-पत्नी गौरी होती है । लोकजीवन में यह गौरी-गौरां-गवरां आदि नामों से भी जानी जाती है । इसी गौरी-गौरां-गवरां से इसका नाम गवरी पड़ा ।

हमारी दृष्टि में गवरी नामकरण के सम्बन्ध में जो अंतिम बात कही गई है, वही अधिक समीचीन तथा युक्तिसंगत लगती है ।

गवरी : राई

लोकजीवन में यह गवरी 'राई' के नाम से भी प्रसिद्ध है । कहा जाता है कि गौरी का एक नाम राई भी था । इसलिए गवरी के साथ-साथ इसे राई भी कहा जाने लगा । इस सम्बन्ध में एक बात और कही जाती है जो अधिक साधार लगती है । इसके अनुसार भस्म होते भस्मासुर ने शिवजी के साथ उसका नाम अमर रहे, ऐसी इच्छा प्रकट की थी । इस पर शिवजी ने उससे कहा-'ऐसा ही होगा, तुम्हारी याद में हम राई का मंडल रचायेंगे जिसमें स्वांग तुम्हारा और नाम मेरा होगा । उसका जो मुखिया होगा उसकी जटा तथा भगवा तो मेरा और खांडा व शीश तुम्हारा रहेगा ।' आगे जाकर यही मंडल राई के रूप में लोकप्रिय हुआ और उसका प्रमुख नायक बूड़िया-राईबूड़िया कहलाया । ऐसा भी कहा जाता है कि कैलासपुरी में शंकर ने जब एकासन बैठ बारहजुग का नेम धारण किया तो उनपर दीमक ने अपना घर बना लिया, छाती पर थूहर पैदा हो गये, कान में बया पक्षी ने घोंसला बना डाला और मस्तक पर नागिन अपना घेरा बनाकर बैठ गई । पार्वती ने उनके तन का मैल उतारा और ऊँचे आकाश में फैंक दिया । इससे चील पैदा हुई । वह आकाश में मंडराने लगी । मंडराते-मंडराते उसे जोरदार भूख लगी । नीचे चमकते भाले पर उसकी नजर पड़ी जिससे वह उस पर झपटी । इससे आधी तो वह भाले में पो गई और आधी शिवजी की धूणी पर आ गिरी । पार्वती के कहने पर शिवजी ने उस पर

अमृत छिड़का । इससे बारह-बारह बरस की दो कन्याएँ पैदा हुईं । ये दोनों ही कन्याएँ गवरी में राई के रूप में भाग लेती हैं । इसलिए भी गवरी को राई नाम से सम्बोधित किया जाता है ।

नृत्य तत्त्व

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गवरी का मूल उद्भव सामूहिक नृत्य से ही हुआ है । इस सम्बन्धी कथा-किंवदंतियों में नृत्य की प्रधानता के कई तत्त्व मिलते हैं । उनमें से कुछ इस प्रकार कहे जाते हैं—

(१) भस्मासुर मर्दन के बाद सभी देवताओं ने सामूहिक नृत्य का आयोजन किया । इसमें शिवजी ने भस्मासुर की शक्ल का मुखौट धारण किया ।

(२) शिवजी की धूणी पर प्रतिदिन एक भील मूली लाया करता था । एक दिन शिवजी ने प्रसन्न हो उसे भगवा चादर, खांडा एवं भस्मासुर की खोपड़ी देते हुए प्रतिवर्ष सामूहिक नृत्योल्लास करने के लिए कहा, जो आगे जाकर गवरी-रूप में प्रकट हुआ ।

(३) पार्वती के पीहर चले जाने पर शिवजी बड़े दुखी हुए । उनका मन बहलाने के लिये भीलों ने सामूहिक नृत्य का आयोजन किया । इसमें शिवजी ने भी भाग लिया । यही नृत्य गवरी का मूलाधार बना ।

उपर्युक्त कथा-किस्सों के मूल में नृत्य की ही प्रधानता पाई जाती है । सामूहिक आनंद एवं उल्लास की अभिव्यक्ति का नृत्य ही एकमात्र प्रमुख आधार रहा है । इस दृष्टि से गवरी में यदि सामूहिक नृत्य की प्रधानता देखी जाती है तो कोई आश्चर्य नहीं । इसमें जितने भी खेल अभिनीत किये जाते हैं उनमें नृत्य की मात्रा सर्वाधिक रूप में देखने को मिलती है ।

अभिनय का विकास

सामूहिक नृत्य जब परिपक्व रूप धारण कर लेता है तो उसमें शनैः शनैः अभिनय तत्त्वों का समावेश होने लगता है । मनोविनोद के अवसरों पर अभिनीत होनेवाले स्वांग-रूपों का भी यही विकासक्रम रहा है । गवरी में जो

स्वांग-स्वरूप देखने को मिलते हैं, उनके बारे में एक बात यह भी कही जाती है कि पार्वती के विरह में जब शिवजी अन्यमनस्क हो गये तो उनके गणों ने स्वांग-रूप धारण कर शिवजी का मन बहलाया। इस नृत्योल्लास में शिवजी के मुंह पर भयावना चेहरा (मुखोट) लगाया गया। शिवजी पार्वती को भी अपने साथ नृत्य करती हुई देखकर उसका विरह भूल सकें इसलिए एक गण ने पार्वती का रूप धारण किया। नृत्य-मंडल के नायक होने के कारण शिवजी उससे अलग रहकर प्रत्येक गण-अभिनेता को परखते, उनके पास जाकर अपनी मूछों के ताव देते, घुंघरू खनखनाते, खांडा दिखाकर अपना उल्लास व्यक्त करते, अच्छे काम पर पीठ थपथपाते और त्रुटि रहजाने पर सही मार्ग की ओर प्रवृत्त करते। अभिनेता ने जो स्वांग धारण किया उसका वह महत्त्व समझे और फिर उसे बड़ी खूबी के साथ प्रदर्शित करे, इस ओर भी उनकी बहुत दिलचस्पी रहती थी। सामूहिक नृत्य में कोई उनका अंधानुकरण नहीं कर पाये इसलिये वे उन सबसे विपरीत कुछ कदम आगे तो कुछ कदम पीछे की ओर बढ़ते-हटते हुए अपने नृत्य के कदम भरते और उस सम्पूर्ण मंडल का संचालन करते। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति की आवश्यकता एवं मन के उन्माद ने गवरी के अभिनय तत्त्व को सबलता प्रदान कर उसके विकास को अक्षुण्ण बनाये रखा।

गीत तत्त्व का समावेश और विकास

धीरे-धीरे जब अभिनय पक्ष प्रबल बना तो स्पष्ट रूप से उसके प्रयोजन भी दिखाई देने लगे। अभिव्यक्ति के अभाव में कोई भी अभिनय अपना प्रभाव छोड़ता हुआ सामाजिकों को प्रभावित नहीं कर सकता। अतः गीतितत्त्व की उद्भावना हुई जिसमें अभिनय की मूकता को वाणी, विलास और वेग प्रदान कर उसे सचेतन बनाया। वाद्यों के आविष्कार ने वाणी को ओप देकर उसे रंग, रूप और रस-पूरित किया। अभिव्यक्ति का यह रूप सर्वप्रथम पद्य रूप में प्रकट हुआ, गद्य में नहीं। इसके अनुसार प्रारंभ में छोटे-छोटे बोल निसृत हुए तदनन्तर अनेक सामाजिक प्रतिभाओं के पल्ले पड़ते-पड़ते इन बोलों ने गीतों

का रूप धारण किया । इसमें बरसों लगे । गीतों का यह क्रम सदैव एक सा नहीं रहा । युग–बोध के बदलते हुए परिवेश के साथ इनमें अनेक उतार–चढ़ाव तथा आवर्तन–परिवर्तन हुए । गवरी में गीत-तत्त्वों का समावेश और विकास भी इसी क्रम से हुआ ।

लोकरंगमंच

सामुदायिक रूप में मनोविनोद के जितने भी क्रियाकलाप देखने को मिलते हैं वे सदैव खुले स्थानों में आयोजित किये जाते हैं । पूरा समूह का समूह इनमें भाग लेता है और आनंद की अमराइयों में उमड़ पड़ता है । ऐसे खुले स्थानों में खेत, खलिहान, चौराहा, टेकरी आदि होते हैं । गवरी चूंकि भीलों का सामुदायिक अनुरंजन रहा है, अतः उसका लोकमंच भी इसी प्रकार का रहा है । गांवों तथा शहरों में जहां भी ऐसे स्थान मिल जाते हैं, आसानी से इसका प्रदर्शन दे दिया जाता है । ऐसा मंच समतलीय होता है जिसे सर्वदिशीय मंच भी कहते हैं ।

प्रदर्शन–समय

मुहूर्त के अनुसार प्रायः रक्षाबंधन के बाद आने वाली ठंडी राखी के दिन गवरी ले ली जाती है और मुहूर्त के अनुसार ही आश्विन कृष्णा चतुर्थी के आसपास इसका समापन समारोह मनाया जाता है । यह समारोह दो दिन का होता है जो घड़ावण तथा वलावण के नाम से जाना जाता है । गवरी का लगभग सवा महीने का यही समय उसका प्रदर्शन–काल है ।

गवरी लेने के दिन देवी के सम्मुख भील स्त्रियाँ जो गीत गाती हैं उसमें भी गवरी के प्रदर्शन–समय का संकेत मिलता है । उसके अनुसार पार्वती शंकर के सम्मुख बार–बार पीहर जाने की रट लगाती । है शिवजी उसे मना करते हुए कहते हैं–'वहाँ किससे मिलने जा रही हो, काका बाबा तो तुम्हारे मरचुके हैं ?' पार्वती कहती है–'वहाँ बहुत सारे वृक्ष हैं, मैं उन्हीं से मिलने जा रही हूं ।' इस पर शिवजी कहते हैं–'वृक्ष आदि भी जोर की हवा चलने से उखड़ गये हैं ।' पार्वती उत्तर देती है–'तो मैं अपने गाँव की सरहद के पत्थरों से ही मिलकर

लौट आऊंगी । मुझे आज्ञा दीजिये, मैं सवा महीने की कौल में बंधकर जाती हूं। पार्वती सवा महीने की कौल कर पीहर चली जाती है । उसके चले जाने पर शिव के गण लगातार सवा महीने तक सामूहिक नृत्य का आयोजन कर शिवजी का मन बहलाते हैं । इधर पार्वती के अपने पीहर आने पर पीहरवाले उसकी खुशी में, जबतक वह वहीं रहती है, नृत्य–गान द्वारा उल्लास व्यक्त करते हैं ।

भील जाति से सम्बन्ध

गवरी का प्रदर्शन केवल भील लोग ही करते हैं । इसलिए भीलों का इससे सम्बन्ध जानना बहुत आवश्यक है । इस संबंध में तीन चार बातें कही जाती हैं:—

१ शिवजी भीलों के प्रमुख देव माने जाते हैं । अतः भीलों ने गवरी के रूप में उनके जीवन की सर्वाधिक प्रभावशाली घटना को अपनाया और उनके प्रति अपनी श्रद्धा एवं भक्ति का परिचय दिया ।

२ भील उनके सबसे अधिक विश्वासपात्र व्यक्ति रहे हैं । भस्मासुर की इच्छा को अमर बनाये रखने के लिए यह आवश्यक था कि उन्हें कोई ऐसा व्यक्ति हाथ लगे जिससे वे भस्मासुर की खोपड़ी देकर उसकी याद में सामूहिक नृत्योत्सव आयोजित करा सकें । इसके लिए उन्होंने प्रति–दिन अपनी धूणी पर मूली लाने वाले भील को ही ठीक समझा और उसी से उसका आयोजन करवाया ।

३ पार्वती का पिता हेमाजल (हिमाचल) जाति का भील था । इसलिए भील ही गवरी के उपासक बने, यह बात भी सुनने में आती है ।

४ शिवजी ने राई का जो मंडल बनाया था उसे आगे जाकर भील को ही सौंपा । यही मंडल गवरी अथवा राई के नाम से जाना जाता है ।

इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ से ही गवरी के साथ भीलों का बड़ा घनिष्ठ संबंध रहा है और वे ही एकमात्र उपासक, आयोजक एवं अभिनेता कहे जाते हैं ।

रासधारी में राम, सीता और लक्ष्मण
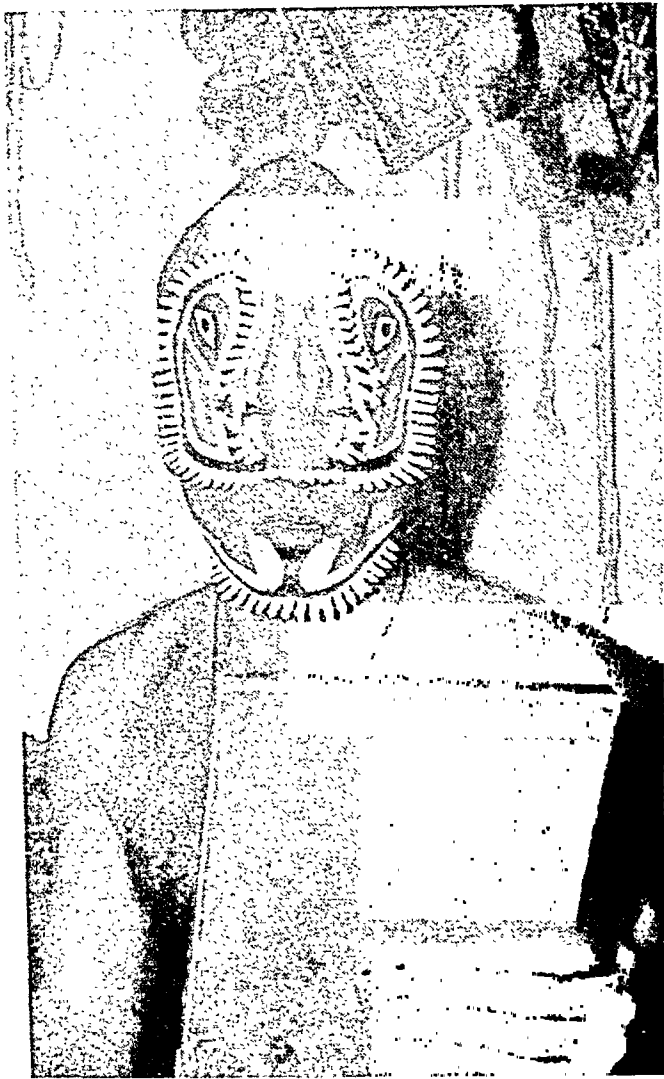
यक्षगान : मेकअप की एक मुद्रा

ऐतिहासिक आधार

कुछ लोग वल्लभनगर को गवरी का उद्गम-स्थल मानते हैं। यह स्थान उदयपुर से लगभग २५ मील पूर्व में है। इसका पूर्व नाम ऊंठाला था। यहाँ की गवरी में चार राइयां तथा दो बूड़िये बनते रहे हैं। कहा जाता है कि एक समय जब गवरी विसर्जित की जा रही थी तो राई तथा बूड़िया तालाब में ही अलोप हो गये। वापस लौटकर नहीं आये। इस घटना के कई वर्ष बाद तक यहां गवरी नहीं ली गई। एक दिन भोपे को गवरी लेने का स्वप्न आया। उसने यह बात अपनी पंचायत में रखी। इस पर सभी भीलों ने गवरी लेने का तय किया और गवरी ली गई। वलावण का दिन आया। अबकी बार जब राई बूड़िया गवरी विसर्जित करने गये तो लौटते समय उनके साथ वे राई बूड़िये भी आते दिखाई दिये जो पहले की गवरी में अदृश्य हो चुके थे। तब से यहां गवरी में दो बूड़िये तथा चार राइयाँ बनने की परम्परा चल पड़ी। इसी घटना के आधार पर वल्लभ-नगर को गवरी का उद्गम-स्थल माना जाता है। यह घटना सं० १६०० के आसपास की कही जाती है परन्तु इस घटना में गवरी के उद्भव के कोई बीज हाथ नहीं लगते।

गवरी सम्बन्धी कथा-किवदंतियों में ऊनवास, देवलऊनवा, बड़ल्याहींदवा, मानसरोवर, धारनगर, जावड़ आदि का जो उल्लेख आता है, वह साधार है; कपोल कल्पित नहीं। ऊनवास प्रसिद्ध रण-क्षेत्र हल्दीघाटी के पास एक छोटा सा गांव है। उदयपुर से यह लगभग ३२ मील दूर है। यहां पीपलाजमाता का एक मन्दिर है। इसे देवलमालिया भी कहते हैं। पीपलाज देवियों में सबसे बड़ी देवी मानी जाती है। देवी के इसी मन्दिर के कारण ऊनवास देवलऊनवा के नाम से भी प्रसिद्ध है। मन्दिर के प्रवेशद्वार के बांई ओर की ताक में १७ पंक्तियों का एक शिलालेख लगा हुआ है। वि० सं० १०१६ का यह शिलालेख काले पत्थर का है जो कुटिल लिपि में लिखा गया है। ऊनवास से लगभग एक मील दूर बड़ का वह वृक्ष है जिसे देवी पाताल से सर्वप्रथम यहाँ लाई थी। यही बड़ 'बड़ल्या-हींदवा' के नाम से जाना जाता है। ऐसा माना जाता है कि पहले यह बड़ बारह बीघे में फैला हुआ था। थाली जितने बड़े इसके पत्ते तथा सुवर्ण रंगी इसकी

कोंपलें थीं। इसके कई शाखा-प्रशाखाएँ थीं। इन्हीं शाखाओं के सहारे देवियां यहां झूला झूलती थीं तथा नाना प्रकार की क्रीड़ाएं करती थीं। मेवाड़ी वोली में वड़ 'बड़ल्या' तथा झूला 'हींदा' कहलाता है। झूलने के संदर्भ में यहां 'हींदना' शब्द प्रयोग में आता है। इसी वड़ल्ये के यहां हींदा हींदने के कारण इसका नाम 'वड़ल्या हींदवा' पड़ा। कोई-कोई इसे वटसींदवा भी कहते हैं। कहा जाता है कि किसी समय इसके पत्ते-पत्ते पर सिन्दूर लगा हुआ था।

वड़ल्याहींदवा से खमनोर लगभग तीन मील दूर पड़ता है। यहां, जहां अब गुलाब की खेती होती है, किसी समय मानसरोवर था। गुलाब की बाड़ियों वाला यह भाग आज भी 'मानसरोवर' कहलाता है। धारनगर वर्तमान राजनगर का प्राचीन नाम कहा जाता है। यह स्थान उदयपुर से लगभग चालीस तथा ऊनवास से वीस मील दूर उत्तर-पश्चिम में है। इसी के पास जावड़ गांव अवस्थित है।

पात्र और उनके चरित्र

गवरी नाट्य में चार प्रकार के पात्रों की अवतारणा देखने को मिलती है—

[अ] देव पात्र
[व] मानव पात्र
[स] दानव पात्र
[द] पशु पात्र

[अ] देव पात्र

देव पात्र सभी प्रकार के विकारों से रहित आदर्श के प्रतीक एवं कालजयी होते हैं। तीनों लोकों में इनका आवागमन रहता है। विविध रूप धारण कर ये जहां चाह वहां राह' के रूप में विचरण करते रहते हैं। दुखी जीवों को सांत्वना देना, उनके दु:ख-दर्दों को दूर करना, मरे हुओं को पुनर्जीवित करना और वरदान देकर उनका कार्य सिद्ध करना इनके दैनिक जीवन की प्रमुख चर्या रहती है। यौगिक शक्ति के बल पर अलौकिक क्रिया-व्यापारों द्वारा समाज में सद्वृत्तियाँ स्थापित कर, असद्गामियों को बुरी तरह कचौटते हैं और उन पर विजय प्राप्त कर सामाजिक चेतना को स्वस्थता प्रदान करते हैं। गवरी में कालिका तथा शिव-पार्वती देव पात्रों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

[ब] मानव पात्र

प्राणियों में मानव सबसे उत्तम प्राणी माना जाता है। चौरासी लाख योनियों में भी मानवयोनि सर्वश्रेष्ठ योनि कही गई है। इसीलिये देवगण भी मानवयोनि पाने के लिए लालायित रहते हैं। यह मानव अच्छे–बुरे रूपों तथा कर्मों से युक्त देव तथा दानव दोनों का मिश्रित रूप लिये होता है। बुद्धि, ज्ञान तथा विवेक में कोई इसकी सानी नहीं रखता। मानव की इसी श्रेष्ठता के कारण गवरी में भी मानव पात्रों की बहुलता देखी जाती है। इनमें (१) बूड़िया (२) राई (३) कुटकड़िया (४) कँजर–कँजरी (५) मीणा (६) नट (७) खेतुड़ी (८) शंकर्‌या (९) कालवेलिया (१०) पाईता (११) वाणिया (१२) जोगी (१३) गरड़ा (१४) कानगूजरी (१५) कालूकीर (१६) बणजारा (१७) शकलागर (१८) भोपा (१९) बनवारी (२०) गोमा (२१) बांभड़ी (२२) फत्ताफत्ती (२३) बगली (२४) देवर भोजाई उल्लेखनीय हैं।

[स] दानव पात्र

अशुद्ध एवं असत् के प्रतीक तामसी वृत्ति के असुर दैत्य, दानव कहलाते हैं। ये क्रूर, अहंकारी, कष्टदायी तथा दुर्गुणी होते हैं। प्रकृति से ये विध्वंसक तथा संहारी होते हैं। इनके सिर पर सींग लगे हुए रहते हैं। शक्ल–सूरत से ये बड़े भयावने तथा अभद्र लगते हैं। गवरी नाट्य में (१) भँवरा (२) खड़ल्याभूत (३) हठिया (४) भियावड़ दानवों के रूप में अभिनीत होते हैं।

[द] पशु पात्र

पशुओं का संसार देव, मानव तथा दानव; इन तीनों से भिन्न होता है। इनका रहन–सहन, आचार–विचार, क्रिया–कलाप तथा जीवन–यापन का ढंग अपने प्रकार का निराला होता है। ये पशु दो प्रकार के होते हैं–हिंसक तथा अहिंसक। गवरी के सभी पशु पात्र हिंसक पात्रों में आते हैं। इनमें (१) सूर (सूअर) (२) रींछड़ी (मादा रींछ) तथा (३) नार (शेर) मुख्य हैं।

उद्देश्य

गवरी धारण करने के पीछे मात्र मनोरंजन का उद्देश्य ही नहीं रहा है और

न आजीविका उपार्जन की भावना ही दृष्टिगोचर होती है। इसका मुख्य उद्देश्य अपने धार्मिक कर्त्तव्य की संपूर्ति तथा बावा भैरवनाथ (शिव) को रिझाकर गांव की खुशहाली, जाति की सुरक्षा एवं रोग, शोक, दुख, दारिद्र तथा दुर्भिक्ष से छुटकारा पाने का रहा है। नाट्य की समाप्ति के बाद प्रतिदिन भैरव के देवरे पर रात्रि जागरण कर उसकी अराधना में लीन रहने के पीछे भी यही भावना बलवती रूप में देखी जाती है।

तत्त्व

लोकनाट्य मूलतः नृत्य तथा संगीत प्रधान होते हैं। इनका अभिनयपक्ष इतना प्रौढ़ नहीं होता। गवरी में भी नृत्य की ही प्रधानता पाई जाती है। नृत्य के अलावा इसका गीत पक्ष भी बड़ा प्रबल रहा है। पद्यमय संवाद प्रायः गीतों का रूप लिये होते हैं। कुछ स्वांग तो पूर्णतः गीति-स्वांग होते हैं जिनका प्रदर्शन गीत के सहारे ही किया जाता है। ऐसे स्वांगों में शंकर्या प्रधान है। इसका प्रदर्शन शंकर्या गीत पर किया जाता है। संगीत नाट्य का मूल आधार रहा है जो संपूर्ण खेल को उभारने में सहायक होता है। इसके बिना सारा खेल नीरस तथा निष्प्राण सा लगता है। संगीत की स्वर-लहरी फूटते ही सारा नाट्य विचित्र प्रकार का उबाल, यौवन और उन्माद लिये थिरक उठता है। संक्षेप में नृत्य, गीत, संगीत तथा अभिनय, ये सभी तत्त्व ऐसे हैं जो गवरी को रूपायित करने में सहायक होते हैं।

गवरी नाट्य : कलात्मक महत्त्व

लोकानन्दकारी प्रवृत्तियों में कलात्मक पहलुओं पर विशेष ध्यान दिया जाता हैं। लोकजीवन इनकी ओर स्वतः आकर्षित हो जाता है। यद्यपि लोकनाट्यों की कलाएँ बेशास्त्र की कलाएं होती हैं परन्तु फिर भी इनका अपना शास्त्र होता है जो अपने रूढ़रूप में लोकसम्मत होता है। नृत्य-भंगिमाएँ, अभिनय-कौशल, संगीत-प्रणाली, संवाद-प्रक्रिया, रूप-सज्जा तथा प्रस्तुतीकरण आदि में लोकजीवन की दैनिक क्रिया-कलाएँ अभिव्यक्त होती हैं। इनमें प्रदर्शित मुखौटों की बनावट तथा उन पर की गई कारीगरी, लोककला की अप्रतिम झांकी प्रस्तुत करती है।

गवरी नाट्य भी इससे अछूता नहीं रहा है। इसकी पोशाकें बड़ी कलात्मक सज्जा लिये होती हैं। ये पोशाकें पात्रों की भूमिका के अनुरूप होती हैं। इन्हें धारण कर पात्र अपने को साधारण व्यक्ति से भिन्न अभिनेता अनुभव करता है और सफलता के साथ अपनी भूमिका निर्वाह करता है। वेशभूषा की सानुरूपता अभिनेता के मानसिक धरातल को छुती हुई नाट्य–रूपक को अधिक कलाप्रिय बना देती है। ये पोशाकें सूर्य, चन्द्र, तारा, मोर, पपीहा जैसे मांगलिक धार्मिक मांडनों द्वारा मंडित, लोककला की भव्य झाँकी प्रदर्शित करती हैं।

रूप सज्जा भी मानवीय प्रकृति की सहज प्रवृत्ति रही है। आदिवासी जातियों में यह कला अधिक प्रचलित है। यह सज्जा शरीर के विविध अंगों को रंगने, चित्रित करने तथा सजाने–संवारने के रूप में की जाती है। इस सज्जा में मुख–सज्जा का सर्वाधिक महत्त्व रहा हैं। अभिनेता का केवल मुख ही एक ऐसा अंग होता है जो उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रदर्शित करने में सहायक होता है और जिसकी ओर दर्शकों का सर्वाधिक ध्यान रहता है। अत: यह मुख अधिकाधिक स्पष्ट तथा इसकी भावाभिव्यक्ति दूर बैठे व्यक्ति में भी आसानी से दिखाई देने वाली होनी चाहिये। इसलिए या तो ये मुख गहरे रंगों में रंग दिये जाते हैं या फिर इन पर मुखौट लगा दिया जाता है। रंग सज्जा के लिए मुख्यतः चार प्रकार के रंग काम में लाये जाते हैं–काला, नीला, पीला तथा लाल। इन रंगों के मिश्रण से आवश्यकतानुसार और कई प्रकार के रग तैयार कर लिये जाते हैं। लोक–प्रसाधनों में काजल, मूर्दासिगी, हल्दी, चूना, आटा, कुंकुम, खड़िया आदि मुख्य हैं। यह सज्जा पात्रों के अनुरूप की जाती है जो लोकसिद्ध होती है। यथा–राक्षस तथा दैत्य दानवों के लिए गहरा नीला, चोरों के लिए काला, देव–देवियों के लिए लाल तथा जोगी साधुओं के लिए पीला रंग काम में लाया जाता है। ये सारे कलात्मक अंकन रूढिगत होते हैं। गवरी पात्रों की अलंकरण कला भी उल्लेख्य रही है।

गवरी नाट्य : सांस्कृतिक महत्त्व

लोकजीवन के सांस्कृतिक उन्नयन में लोकनाट्यों का उल्लेखनीय योग रहा है। इस दृष्टि से गवरी नाट्य का विशेष महत्त्व है। इसमें न केवल मानव

संस्कृति अपितु देव, दानव तथा पशु संस्कृति भी अपनी पूर्ण स्वच्छन्दता के साथ प्रकट हुई है। इन संस्कृतियों के समन्वय ने जहां वर्ग और वर्ण-भेद की दृढ़भित्ति को भंजित किया है वहां दानव तथा पशु जीवन की आसुरी, असांस्कृतिक वृत्तियों को अपने सांस्कृतिक संस्कारों द्वारा मंडित कर, उन्हें सुसंस्कृत बनाया है। भीलों द्वारा रक्षित एवं प्रदर्शित होने पर भीली संस्कृति का इसमें पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है पर इसके उदार और व्यापक दृष्टिकोण ने अन्य सभी संस्कृतियों को अपने में आत्मसात कर, सांस्कृतिक भेदभाव तथा ऊंचनीच जैसी कोई भावना नहीं पनपने दी है। धर्म के प्रति भी इसकी ऐसी ही उदार दृष्टि रही है। यही कारण है कि समग्र रूप में सभी देवों का स्मरण कर, लोक धर्म के उदात्त आदर्श को व्यावहारिक रूप प्रदान किया है। इससे जहाँ उसका यथार्थ रूप उद्घाटित हुआ है वहां उसे आदर्श की ओर उन्मुख कर, जड़ और कठोर होने से बचाया है। गवरी की यह सांस्कृतिक निधि हमारी रूढ़ियों, परम्पराओं, श्रुतियों, विश्वासों, मान्यताओं तथा सम्भ्रांत चेतनाओं की एक ऐसी संपत्ति है जिससे मेवाड़ का लोकजीवन समृद्ध और संस्कृत बना है।

राजस्थानी लोकजीवन को गवरी नाट्य की देन

राजस्थानी लोकजीवन को गवरी नाट्य की जो देन रही है, वह कई दृष्टियों से बड़े महत्त्व की है। इसने जहां एक ओर सामुदायिक जीवन को सुसंगठित, सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित किया है वहां आपसी हेलमेल, रागरंग तथा मानवीय सद्वृत्तियों की अभिवृद्धि की है। देव, दानव, पशु तथा मानवीय जीवन के लोकानुरंजन को एक समानधर्मी मंच पर प्रस्तुत कर, गवरी ने वसुधैव कुटुम्बकम् के आदर्श को मूर्तरूप दिया है। आनंद और उल्लास के अवसरों पर सार्ववर्णिक, सार्ववर्गिक एवं सार्वधर्मिक रूप में एकत्र हो, स्वच्छन्दतापूर्वक अनुरंजन प्राप्त करने से आत्मा का विकास होता है, मन की ग्रन्थियां खुलती हैं, कुंठाएं हल्की होती हैं तथा वैयक्तिक जीवन की सारी प्रवृत्तियाँ समष्टि हित की ओर उन्मुख होती हैं। इससे आसपास का जीवन भी अपने को उल्लास, आनंद एवं स्फूर्तिमय अनुभव करता है। एक दूसरे के हेलमेल से संस्कृतियों का आदान-प्रदान होता है साथ ही सहानुभूति, सद्भावना तथा सहकार जैसे गुणों का विकास होता है।

गवरी नाट्य में इन तत्वों का पूर्णतः दिग्दर्शन मिलता है। इसने जहां लोकजीवन को अपने धर्म—कर्म के प्रति आस्थावान बनाया है वहां उसकी परम्परा और रूढ़ियों को भी पोषित किया है। अतः यह कहा जा सकता है कि संस्कृति के संगीत नृत्य कला आदि प्रत्येक क्षेत्र में, राजस्थानी लोकजीवन को गवरी नाट्य की अक्षुण्ण देन रही है।

लोकनाट्यों में गवरी का स्थान

लोकनाट्यों में गवरी नाट्य का अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। सम्पूर्ण लोक नाट्य वाङ्मय में केवल यही एक ऐसा नाट्य है जिसमें लोकनाट्यों के अधिकाधिक तत्व—रूपों, गुण—प्रकारों तथा विधि-विधानों का पूर्ण समर्थन मिलता है। विशिष्ट वर्ग अथवा जाति की धरोहर होते हुए भी यह समस्त लोक के आदर्श, कला, शिल्प, संस्कृति तथा वैभव को अपने में समाहित किये, भगवान भूतनाथ की लीला प्रदर्शित कर सभी को लीलामय होने का ओज और उत्साह प्रदान करता है। अतः इसे लोकनाट्यों को मेरुनाट्य कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं। लोकनाट्यों की जितनी विविधता तथा व्यापकता इसमें देखने को मिलती है, उतनी अन्य किसी लोकनाट्य में दृष्टिगोचर नहीं होती है।

—❀—

चविट्टुनाटकम

सबीना रफी

स्वतंत्रता के प्रभातकाल से ही समस्त भारत में प्राचीन कलाओं का अभूतपूर्व पुनरुत्थान देखने में आ रहा है। अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा यह बात लोकनृत्यों व नाट्यकला के क्षेत्र में अधिक स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। भारत के नानाविध लोकनृत्यों और लोककलाओं में केरल का उत्कृष्ट योगदान है। केरल की नाट्य परम्पराओं की प्राचीनता ईसा सन् के प्रारम्भिक काल में ही खोजी जा सकती है। अपने मोहक एवं संतुलित जलवायु, वर्षा की प्रचुरता तथा सदावहार वनस्पति के कारण केरल सदा से नृत्य, संगीत और लोकनाट्य का घर रहा है। अपने सुविकसित विश्व प्रसिद्ध शास्त्रीय कथकलि नृत्य के अलावा केरल के पास अन्य कई कला-विधाएं हैं जिनमें 'चविट्टुनाटकम' भी एक है।

नृत्यगीतिनाट्य

'चविट्टुनाटकम' कथकलि की ही तरह का एक सुन्दर संगीतमय नृत्यनाट्य है। यह पश्चिम के आपेरा (गीतिनाट्य) से भी बहुत कुछ मिलता है। कुछ लोग इसे कथकलि का क्रिश्चियन रूप मानते हैं जबकि दूसरों के मतानुसार यह युरोपीय आपेरा का भारतीय संस्करण है।

'चविट्टुनाटकम' प्राचीन केरल के संगीत, नृत्य, अंगसंचालन और कलरिपयट्टु (व्यायाम विद्या या जिमनेस्टिक) का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत करता है। यह एक प्रकार का 'गान-नृत्त-नाट्कम' है, जिसमें गान (संगीत), नृत्त (नृत्य) व नाट्कम (नाटक) के तत्वों का मधुर समन्वय हुआ है। इस नाटक में अभिनय के साथ कलाकार गाते भी हैं जबकि चेण्डा (नगाड़ों) तथा एलतालम (मजीरों) की तालों व अन्य वाद्ययंत्रों के साथ-साथ उनके पांव नृत्य करते हैं। 'चविट्टुनाटकम' की एक अन्य विशेषता इसमें नटों की सी कलाबाजियां हैं। यद्यपि चविट्टुनाटकम का उद्गम केरल की 'कूत' व 'कूडियाट्टम' जैसी पुरानी लोककलाओं से हुआ किन्तु फिर भी यह भारत की सभी नाट्यकलाओं के आदिग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित सभी नियमों का पूर्ण पालन करता है।

पूर्वपीठिका

चविट्टुनाटकम केरल के ईसाई लोगों का प्रिय मनोरंजन है जो उन पुराने बन्दरगाहों और समुद्रतटीय केन्द्रों में या उनके आसपास रहते हैं जहां किसी समय पुर्तगालियों का प्रभाव था। इस क्षेत्र के निवासियों के धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन का यह अभिन्न अंग है। अपने प्राचीन युद्धकौशल की समृद्ध धरोहर के रूप में ये आज भी इसे सुरक्षित रखे हुए हैं और नियमित रूप से वर्ष में दो बार क्रिसमिस व ईस्टर के अवसरों पर ये लोग गांवों के चर्च, मैदान, या किसी खुले रेतीले समुद्रतट पर इसका प्रदर्शन करवाते हैं। नारियल की बहार और धान की कटाई पर नाटकम का प्रदर्शन जीवन के उल्लास में वृद्धि करता है और ग्रामवासी के लिए विशिष्ट सामाजिक महत्त्व रखता है। आसपास और दूर-दूर से रिश्तेदारों को इस अवसर पर आमंत्रित किया जाता है। किसी परिवार के एक

सदस्य का 'चविट्टुनाटकम' के अभिनेता के रूप में चुना जाना उसके लिए महान गौरव की बात समझी जाती है। ऐसे परिवार का मुखिया सदा नाटक के वस्त्र सिलवाने, 'आशान' (गुरु) को दक्षिणा देने और प्रदर्शन के लिए चन्दे के रूप में पैसा खर्च करने के लिए हर समय तैयार रहता है। 'चोलियाट्टन' (पूर्वाभ्यास) का, जो कुछ वर्षों तक चलता है, तथा 'अरंगेट्टम' (प्रस्तुतीकरण) का खर्च, जो कि एकमुश्त रकम के रूप में होता है, पूरे समुदाय द्वारा सामूहिक रूप से वहन किया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि चविट्टुनाटकम सच्चे अर्थों में एक लोकथियेटर है।

विविध संस्कृतियों का मेल

इतिहास हमें बताता है कि किसी क्षेत्र के निवासियों का सांस्कृतिक विकास इस बात पर निर्भर करता है कि उन्हें दूसरे लोगों और संस्कृतियों के सम्पर्क में आने के कितने अवसर उपलब्ध होते हैं। इस दृष्टि से केरल अत्यन्त सौभाग्यशाली रहा है। लम्बे समय से भारत के दक्षिण-पूर्वी समुद्रतट पर स्थित भूभाग की यह संकड़ी पट्टी पूर्व और पश्चिम का मिलनस्थल रही है। अति प्राचीनकाल से यूनानी, रोमन, यहूदी, सीरियाई, अरब, चीनी, पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी, अंग्रेज और कई अन्य देशों के लोग व्यापारियों, यात्रियों, साहसी मल्लाहों, इतिहासकारों अथवा धर्मप्रचारकों के रूप में यहां आते रहे हैं। इसी कारण यहां संस्कृतियों का सतत आदान-प्रदान व मेल होता रहा। यह समन्वय इतना स्पष्ट कभी नहीं रहा जितना कि १६वीं १७वीं शताब्दी के उस काल में रहा जबकि जेस्युइट, आगस्टिनियन डोमिनिकन और अन्य शिक्षित ईसाई धर्मप्रचारक पुर्तगाल के संरक्षण में केरल के तटवर्ती क्षेत्रों में आकर बसे। ये प्रसिद्ध लोग जो कि पेरिस, पादुआ, मिलान, फ्लोरेन्स और कोर्डोवा के विख्यात विश्वविद्यालयों से निकलकर, आए थे, पूर्णतः युरोपीय पुनर्जागरण के रंग में डूबे हुए थे। प्राचीन यूनानीकला, दर्शन, साहित्य और विज्ञान का पुनरुत्थान धार्मिक जोश के साथ किया जारहा था। इसी काल में केरल में मुद्रण-यंत्र, माइकल एंजेलो, लियोनार्डो, रेफेल और अन्य कलागुरुओं के चित्र व मूर्तियां स्थापत्य की रोमन–यूनानी शैली, मोज़ार्ट व

बिथोवन का देवी संगीत व युरोपीय पुनर्जागरणयुग की कई अन्य कलाएं निखारित हुई। केरल की स्थानीय लोक-कलाओं को भी इस दौरान नवीन प्रोत्साहन मिला।

उद्भव एवं आधार

इस समय यूनानी नाटक का पुनरुद्धार कर उसे इटली में आपेरा के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा था। शार्लमेन की वीरतापूर्ण गाथा तत्कालीन ऑपरा प्रेमियों का प्रिय विषय बन गया था। धर्म प्रचारकों ने भी उसी प्रवृत्ति का अनुकरण किया। उन्हें नाट्यकलाओं में लोगों को आकर्षित करने का एक प्रभावशाली व सहज माध्यम मिल गया। इसी उद्देश्य को लेकर केरल के स्थानीय लोकनाट्य कलाओं—कूत, कूड़ियाट्टम, कलियाट्टम एवं यात्राकलि का पुनरुद्धार किया गया। जिनमें बाईबल, युरोपीय इतिहास और शार्लमेन की जीवन की घटनाओं पर आधारित कथानक समाविष्ट किए गए। यह एक ऐसा माध्यम था जिसके कारण भारतीय व युरोपीय कलाओं तथा पश्चिमी व प्राच्यशैलियों का अद्वितीय समन्वय सामने आया। परिणामस्वरूप जिस प्रकार उत्तरभारत में भारतीय व यूनानी कला व स्थापत्य के गठबंधन से गंधारशैली का उदय हुआ उसी प्रकार दक्षिण की नाट्यकला में ऑपेराशैली के इस सांगीतिक नृत्यनाटक 'चविट्टुनाटकम' का जन्म हुआ।

चविट्टुनाटकम सांगीतिक नृत्यनाटक है जो संगीत, नृत्य, नाटकीय अभिनय और व्यायामकौश का सुन्दर संयोजन प्रस्तुत करता है। विस्तृत अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिमी ऑपेरा से इसका गहरा साम्य होते हुए भी तकनीक की दृष्टि से यह मूलतः भारतीय है।

सांगीतिक नृत्यनाट्य

चविट्टुनाटकम के बारे में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह एक सांगीतिक नृत्यनाट्य है। इसका कोई भी पात्र गद्य की एक भी पंक्ति नहीं बोलता। अभिनेताओं के लिए अच्छे गायक होना आवश्यक है। इसमें पार्श्व गायन नहीं चल सकता। अभिनय और नृत्य के साथ-साथ ही इसमें अभिनेताओं को भी गाना होता है। पार्श्वसंगीत भी इसका महत्त्वपूर्ण होता है। संगीतकारों

का वाद्य-वादन भी कलाकार-गायकों के साथ-साथ चलता है।

चविट्टुनाटकम में संगीत की रचना ताल और मात्रा की पूर्ण संगति के साथ की जाती है। गीतों की रचना तमिल संगीत-साहित्य के विस्तृत और विविध 'एसाइ' में की जाती है। केरल को तामिल भाषा के शास्त्रीय 'संघकाव्यों' से तमिल-संगीत की समृद्ध सम्पदा विरासत में मिली है। तामिल के इसी विस्तृत संगीत-साहित्य से 'कुड़ियाट्टम' और 'कथकलि' ने अपना संगीत विकसित किया। इसी सुपरिचित व मधुर 'एसाई' (गीत) में किसी कलागुरु द्वारा चविट्टुनाटकम नाटकों की रचना होती है जिनमें सभी रसों की अभिव्यक्ति होती है। यद्यपि इनमें वीर रस प्रधान होता है क्योंकि अधिकांश नाटक वीरता और रोमांचक युद्धों का ही प्रदर्शन करते हैं। इस सम्बन्ध की एक कहावत भी प्रचलित है कि चवि-ट्टुनाटकम का चार पंक्तियों का गीत किसी बूढ़े आदमी और लकड़ी में भी जोश फूंक सकता है। इन नाटकों में कई वीरतापूर्ण दृश्य होते हैं। उदाहरणार्थ शार्लमेंन नामक खेल के एक दृश्य में रंगमंच पर सामती वीरों की शान के साथ सम्राट के बारह श्रीमंतों को एक साथ खड़े होकर तलवार खींचते और शत्रु को ललकारते हुए दिखलाया जाता है।

इन नाटकों में प्रेम या विदा के अथवा किसी धार्मिक दृश्य के साथ चलने वाली सौम्य धुनें भी मिलती है जो हमारे मनोभावों को सौन्दर्यानुभूति के उच्च धरातल पर उठा ले जाती है। नियमतः चविट्टुनाटकम के गीत ताण्डवशैली में होते हैं। पुरुषोचित नृत्यों और चेण्डा (नगाड़ों) के साथ ये ही गीत उपयुक्त सिद्ध होते हैं।

कदमीरूपों का सम्मिश्रण

चविट्टुनाटकम का मोहक सौन्दर्य इसके तालानुगत कदमों में है जिनके कारण ही इसका नाम 'चविट्टुनाटकम' पड़ा है। 'चविट्टु' का अर्थ होता है पांव या कदम। अभिनय व गायन के दौरान चेण्डा और अन्य वाद्य यंत्रों की ताल के साथ अभिनयकर्ताओं के कदम नियत समय पर बराबर जमीन पर पड़ते रहते हैं।

भारतीयनृत्य के दो प्रमुख प्रकारों—'ताण्डव' व 'लास्य' में से चविट्टुनाटकम मुख्यतः 'ताण्डव' शैली का अनुकरण करता है। यह नृत्य पुरुषोचित प्रकृति का है तथा प्रमुखतः शक्ति और ओज का बोध कराता है। इसमें कदम भी, इसके गीतों की तरह पुरुषों (वीर पुरुषों) के उपयुक्त होते हैं। तथापि इसके बीच-बीच कहीं-कहीं स्त्रियोचित 'लास्य' शैली के कदम भी होते हैं। चविट्टुनाटकम में स्त्रीपात्र बहुत कम होते हैं और इनका अभिनय भी पुरुषों द्वारा ही किया जाता है।

चविट्टुनाटकम में कदम विभिन्न प्रकार की तालों में बद्ध होते हैं। राजा, सेनापति, देवदूत, पुरोहित और वैद्य आदि उत्तम पात्रों के लिए पाद-संचालन विशिष्ट प्रकार का होता है। चोर अथवा जल्लाद जैसे पात्र जो हमें कथकलि के 'करिवशम' (कालेपात्र) का स्मरण कराते हैं, भिन्न प्रकार के कदमों का उपयोग करते हैं।

कदम मूलतः बारह प्रकार के होते हैं। कवितम, कलाशम, एड्क्कलाशम अथवा अतंता जैसे जटिल प्रकारों में इनमें से एकाधिक प्रकार मिले होते हैं। 'कवितम' भरतनाट्यम के 'तिलाना' और 'तमिल नट्टुव नृतम' के कवितम से मिलता जुलता है। इसका प्रयोग किसी महत्त्वपूर्ण पात्र यथा—राजा या मंत्री के रंगमंच पर सर्वप्रथम प्रवेश करने पर किया जाता है। कवितम का उपयोग किसी पूरे दरबार के दृश्य के प्रारंभ में भी होता है जबकि राजा के सैनिक व अनुचर पंक्तिबद्ध खड़े रहते हैं। कवितम पर अधिकार प्राप्त करने के लिए अभिनेताओं को दीर्घकाल तक कठिन अभ्यास करना पड़ता है। 'कवितम' के दोषरहित प्रदर्शन को ही किसी सुप्रशिक्षित अभिनेता की कुशलता का प्रमाण माना जाता है। गीत के अन्त में प्रयुक्त होनेवाले तेज कदम कलाशम तथा उसके मध्यम उपयोग किए जानेवाले कदम 'एड्क्कलाशम' कहलाते हैं। इनका संचालन ढोल की थापों के साथ सुन्दर ढंग से होता है। इस दृष्टि से 'चविट्टुनाटकम' व 'कथकलि' में अत्यधिक साम्य है। 'अतंता' खासतौर से स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होनेवाली कदमों की एक प्रवाहपूर्ण शैली है। इसका अंग विक्षेप 'मोहिनियाट्टम' से मिलता जुलता है।

चविट्टुनाटकम में पादसंचालन अत्यंत महत्त्व का होता है । अभिनेताओं के लिए यह आवश्यक है कि वे ढोल की थाप के साथ ही मंच पर आयें, उसकी ताल पर ही चलें-फिरें और उसके साथ ही मंच से बाहर जायें ।

अभिनय

'चविट्टुनाटकम' में नाट्य अथवा नाटकीय निरूपण पर सर्वाधिक बल दिया जाता है । अभिनेता अपने आपको गीतों और अंगभंगिमाओं द्वारा अभिव्यक्त करता है तथा जिस पात्र का वह अभिनय कर रहा होता है उसके भावों और विभिन्न मानसिक स्थितियों को व्यक्त करके दर्शकों को उसे समझने और उसकी प्रशंसा करने में मदद करता है ।

अभिनेताओं के गीत के साथ-साथ अभिनय सहजता से चलता है । नाटकीय अभिव्यक्ति के लिए आवश्यकतानुसार 'मुद्राओं' की सहायता ली जाती है । जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, चविट्टुनाटकम एक प्रकार की लोककला है और यह केरल की प्राचीन 'कलरि' संस्कृति का स्मरण कराती है । 'नाटकम' में युद्ध व मृगया मुख्य तत्त्व होते हैं । अधिकांश खेल वीरतापूर्ण कार्यों, प्रमुखतः युद्ध से संबंधित कार्यों का प्रदर्शन करते हैं । 'शार्लमेंन का खेल' जो सम्राट शार्लमेंन और उसके श्रीमंतों के तुर्कों से यरुशलम को मुक्त कराने के लिए लड़े गए, रंगीन युद्धों का प्रदर्शन करता है, इसका अच्छा उदाहरण है ।

चविट्टुनाटकम में युद्ध वास्तविक तलवारों, भालों और अन्य शस्त्रों का प्रयोग करते हुए अत्यंत यथार्थवादी ढंग से किए जाते हैं । प्राचीनकाल में अभिनेताओं को 'कलारि' (व्यायामकला) का सम्पूर्ण प्रशिक्षण दिया जाता था जिसमें उनके शरीर को मजबूत और लोचपूर्ण बनाने के लिए तेलमर्दन की शिक्षा भी शामिल थी । तत्पश्चात् उन्हें कई शस्त्र यथा--तलवार, भाला, कटार, लाठी आदि चलाना सिखाया जाता था । आशानों (गुरुओं) में कुशल तलवारबाज भी होते थे जो अभिनेताओं को इस कला में प्रशिक्षित करते थे । अब यह पीढ़ी तेजी से विलुप्त हो रही है । आज-कल अभिनेताओं को केवल नाममात्र का प्रशिक्षण

मिल पाता है।

अभिनेताओं के करतबों के बारे में कई किस्से प्रचलित हैं। कुछ समय पूर्व शार्लमेन के खेल के अन्तर्गत राजकुमार फेरेब्रास अपने भाले की नोक ऊपर उठाए मंच पर प्रवेश करता था। इसे देखकर विदूषक मंच के दूसरे छोर से एक उबला हुआ अण्डा फेंकता था जिसे राजकुमार बड़ी कुशलता से अपने भाले की तीखी नोक पर झेल लेता था।

वाद्यवा

चविट्टुनाटकम के नृत्य 'ताण्डव' प्रकृति के होने के कारण इनमें जिन वाद्यों का उपयोग किया जाता है वे भारी और तेज आवाज वाले चेण्डा व एलतालम होते हैं। किन्तु फिर भी इनमें काफी लचीलापन देखने को मिलता है। इन वाद्यों के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के जटिल वाद्य–यंत्रों का उपयोग भी होता है, जिनमें आधुनिक बेला, क्लेरिनट, वांसुरी, बुलबुल और हारमोनियम भी शामिल है। इनके 'आशान' का आसन मंच पर होता है जो अपने मंजीरों द्वारा अभिनेताओं का निर्देशन करता रहता है। वाद्यवादकों के अतिरिक्त चविट्टु में एक गायकसमूह भी होता है जिसके सम्मुख कांसे का एक दीपक लटका रहता है। नाटक के मूलपाठ की प्रति अपने सामने खोले हुए यह समूह समवेत स्वर में अपनी विशिष्ट गायकी गाकर खेल प्रारंभ करता है। अभिनेताओं के द्वारा गाए गए गीतों की भी इसे पुनरावृत्ति करनी होती है जिससे अभिनेता को दूसरा पद प्रारंभ करने का अच्छा समय मिल जाता है।

वेशभूषा एवं रूपसज्जा

चविट्टुनाटकम में 'अहर्या अभिनय' (वेशभूषा, आभूषण एवं बनाव-शृंगार द्वारा भावाभिव्यक्ति) का पर्याप्त महत्त्व रहता है। अपनी कलात्मक श्रेष्ठता के कारण इसकी वेशभूषाएं बड़ी प्रसिद्ध हैं। चूंकि ये नाटक अधिकतर यूरोप के महानसम्राटों, मध्ययुगीन राजाओं और सामन्तों के बारे में हैं, इसलिए इनमें उपयोग किए जानेवाले वस्त्र अत्यंत कलापूर्ण व कीमती तथा इन

विशिष्टजनों के गौरव के अनुकूल होते हैं। इन वस्त्रों पर बहुत सारा रेशम, मखमल और किमरवाव का काम किया होता है जिन पर कई प्रकार के चमचमाते मोती, कांच के टुकड़े तथा इसी प्रकार की अन्य कीमती वस्तुएं जड़ी रहती हैं। सैनिक पात्र अक्सर यूनानी–रोमन वेश धारण करते हैं। यह वेशभूषा और रूपसज्जा यथार्थवादी होती है। इसमें मुखौटों अथवा सांकेतिक प्रतिरूपों का उपयोग नहीं होता। अपनी आयु व स्थान के अनुकूल सम्राट सम्राटों जैसा, सैनिक सैनिकों जैसा और साधु साधुओं जैसा वेश धारण करते हैं। सम्राटों और राजाओं को अपने भव्य शाही लिबास में चमचमाते हुए मुकुट व दण्ड धारण किए हुए दिखलाया जाता है। यूनानी–रोमन वर्दी में मुकुट व कवचधारी सैनिक उन्हें घेरे खड़े रहते हैं, जिन्हें सहजता से भुलाया नहीं जा सकता।

नाटचकृतियां

चविट्टुनाटकम का मूलपाठ छपे हुए रूप में उपलब्ध नहीं है। इसके प्राचीनतम नाटक 'शार्लमेंन नाटक' 'ब्रासीन्स' व 'जिनोवा', संभवत: १६ वीं या १७ वीं शताब्दी के मध्य लिखे गए थे। 'चूवटि' नामक मूलपाठ सर्वप्रथम ताड़पत्रों पर केरल की तत्कालीन भाषा तमिल, वटेत्तुय या ग्रन्थाक्षर में लिखे गए थे। आगे चलकर इनकी नकल मलयालम लिपि में कागज पर करली गई। इन नाटकों का साहित्यिक मूल्य बहुत अधिक है। बाद की रचनाओं में हमें तमिल और मलयालम का मिश्रण मिलता है। अपने शोध सर्वेक्षण में मुझे अब तक ऐसे ४६ नाटकों का पता चला है जिनमें से अधिकांश पुराने मूलपाठों की केवल नकल लगते हैं जिनका नाम बदल दिया गया है। अकेले 'शार्लमेंन के खेल' की मुझे चार अलग–अलग प्रकार की प्रतियां देखने को मिली। बीच–बीच में इनके कई स्थानों पर जोड़ तोड़ नजर आते हैं। कुछ कठिन गीतों को हटाकर अपनी ओर से दूसरे सरल गीत भी इनमें ठूंसे मिलते हैं।

इन प्रतियों में प्रारम्भिक लेखकों के नामों का पता नहीं चलता। धर्म प्रचा-

गवरी : राइयों के साथ राईबूड़िया
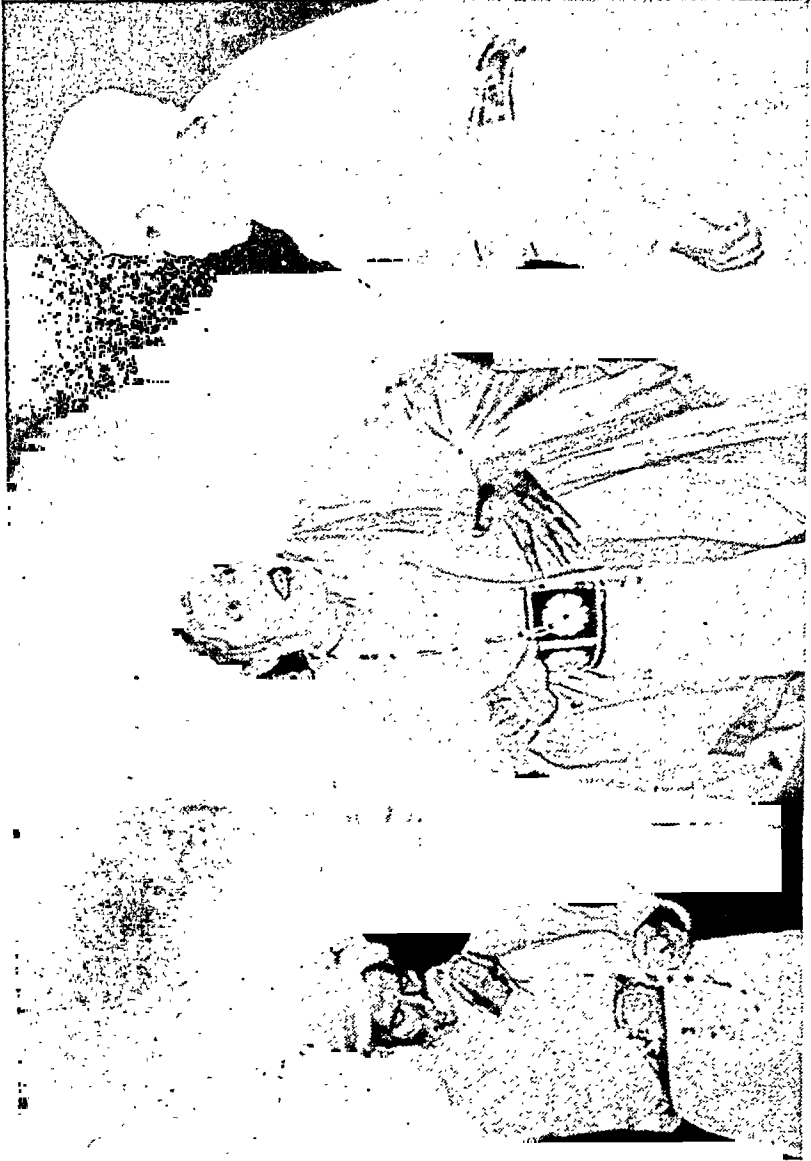
जात्रा : एक जुलूस उत्सव

रकों की सामान्य आदत के अनुसार लेखक के स्थान पर केवल 'चञ्च तच्चन' (ईसा का दास) या 'मेरिय तच्चन' (मेरी का दास) लिखा हुआ मिलता है। मूलपाठ में मिलनेवाले अन्य प्रमाणों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि प्रारंभिक नाटकों का लेखक संभवत: कोई युरोपीय मिशनरी रहा होगा जिसे युरोपीय एवं भारतीय नाट्य प्रणालियों का बड़ा अच्छा ज्ञान था।

भाषा

चविट्टुनाटकम की भाषा अत्यंत विवादास्पद रही है। पर यदि हम केरल की भाषा के इतिहास का अध्ययन करें तो पायेंगे कि १८ वीं शताब्दी के अन्त तक केरल के अधिकांश लोग, खासतौर से ग्रामीण और समुद्रतटवासी तमिल भाषा का ही प्रयोग करते थे। यहां की छपी प्रथम पुस्तक (१५७९) भी तमिल भाषा में थी। उस समय के कई कागजात, हस्तलिखित व मुद्रित पुस्तकें और मकबरों के शिलालेख इस बात के साक्षी हैं कि उस समय केरल में तमिल का बहुत अधिक प्रचार था जिसने आगे चलकर तमिल और मलयालम भाषा के मिश्रित रूप को विकसित किया। किन्तु चविट्टुनाटकम का तमिल भाषा में होना आज के मलयालमभाषी केरलवासियों के लिए बाधा स्वरूप है। अत: मूलपाठ को मलयालम में परिवर्तित करने के प्रयत्न जारी है। इसके कथानक भी पहले की भांति प्राचीन युरोपीय इतिहास से लिए जाने के बजाय अब भारतीय इतिहास और महाकाव्यों से लिए जारहे हैं।

प्रमुखकृति

चविट्टुनाटकों में अग्रगण्य शार्लमेंन का खेल है। यह ८० मुख्य पात्रों द्वारा १५ दिन तक खेला जानेवाला एक लम्बा नाटक है। काव्यात्मक कल्पना, वीरतापूर्ण कार्यों, नाटकीय प्रस्तुतीकरण और उत्कृष्ट पात्रों के सर्जन में शार्लमेंन का कोई मुकाबला नहीं। नाटक का कथानक ८ वीं शताब्दी के फ्रान्स के महान सम्राट और उसके बारह वीर श्रीमन्तों के वीरतापूर्ण कृत्य की याद को ताजा कर देता है। यह नाटक इटली के शार्लमेंन 'क्लासिको' एवं एरिओस्टो के 'ओरलेण्डो फ्यूअरिओरो पर आधारित है। जब शार्लमेंन

फ्रान्स का सम्राट बना तब युरोप एक संकटपूर्ण स्थिति में था। यरुश्शलम पर अधिकार कर लेने के बाद तुर्कलोग पूर्व की ओर से युरोप पर चढ़ाई कर रहे थे जबकि जिहादी मुसलमानों (सेरासिनों) ने पश्चिम में जिब्राल्टर से होकर प्रवेश किया और वस्तुतः स्पेन पर कब्जा भी कर लिया था। इस समय युरोपीय देशों के लिए एक नेता और संरक्षक की अत्यधिक आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। पोपलियो तृतीय ने फ्रान्स के शार्लमेंन को रोम बुलाकर युरोपीय राजाओं के 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का गठन किया तथा इसका प्रथम सम्राट घोषित करते हुए उसे इसकी प्रजा व चर्च की रक्षा का भार सौंपा। रोम के लेतरन चर्च की दीवारों पर लगे चित्रों व तत्कालीन मुद्राओं पर पोप द्वारा शार्लमेंन के राज्याभिषेक के दृश्य मिलते हैं।

शार्लमेंन ने परिस्थिति के अनुरूप तैयारियां कीं। शाही रोम की परम्परानुसार उसने बारह सैन्यदलों के रूप में अपनी सेना का गठन किया और इनमें से प्रत्येक की व्यवस्था अपने एक-एक श्रीमंत को सौंपी। उसके भतीजे रोलेण्ड को इन दलों का प्रधान नियुक्त किया गया।

इसके बाद एक क्रमबद्ध प्रत्याक्रमण प्रारंभ हुआ। अनेक खतरे झेल लेने के बाद शार्लमेंन विजयी हुआ। यरूशलम पर पुनः अधिकार प्राप्त किया गया तथा स्पेन की सीमाओं को सेरासिनों के भय से मुक्त किया गया। किन्तु जब सेना विजयोल्लास मना रही थी तभी उन वीर सामन्तों को शत्रु द्वारा धोखे से मार दिया गया। यह सब कृत्य सोने के लोभ में उन्हीं के एक संबंधी द्वारा शत्रुओं को संकेत कर देने के कारण संभव हुआ।

शार्लमेंन शोक में डूब गया। अपने शेष जीवनकाल में वह संसार से विरक्त रहा। उसने अपने श्रीमन्तों के वीरतापूर्ण कार्यों तथा फ्रान्स की प्राचीन वीरगाथाओं को संकलित करवाया। फ्रेन्च भाषा में लिखा हुआ यह संकलन 'चांसन द जेस्त' आगे चलकर विभिन्न युरोपीय भाषाओं के ढेर सारे वीरतापूर्ण साहित्य का मूलस्रोत बना। इसमें स्थानीय घटनाओं, काल्पनिक कथाओं तथा यूनानी गाथाओं को भी शामिल कर लिया गया। पुनर्जागरणकाल

में शार्लमेंन के वीरतापूर्ण कार्य इटली के नाटककारों के प्रिय विषय बन गए जहाँ इस युरोपीय आपेरा के घर ने उसकी सर्वश्रेष्ठ कृतियों को जन्म दिया।

चविट्टुनाटकम में शार्लमेंन कथानक का प्रवेश एरिओस्टो लिखित इतालवी काव्य रचना 'ओरलेण्डो फ्यूअरिओसो' के माध्यम से हुआ। 'ओरलेण्डो' फ्रान्सीसी 'रोलेण्ड' का ही इटालियन रूप है। ओरलेण्डो फ्यूअरिओसो की कथा का केन्द्र स्वयं शार्लमेंन न होकर उसका भतीजा तथा श्रीमन्तों का प्रधान रोलेण्ड है। ऐतिहासिक सम्राट् शार्लमेंन का अपनी सेना और श्रीमंतों पर पूर्णाधिकार था तथा वह उनमें सर्वोपरि था। किन्तु इस नाटक में रोलेण्ड कभी-कभी अपनी वीरता और दृढ़ इच्छाशक्ति में सम्राट को भी पीछे रख देता है। वह महाभारत के अर्जुन जैसा है जो अपने साथियों और अनुगामियों का प्रीतिभाजन है।

शार्लमेंन का खेल पांच भागों में बटा हुआ है। इसके प्रथम भाग 'छिन्ना रोल्डोन' (नन्हा रोलेण्ड) में रोलेण्ड के जन्म और उसके बचपन के साहसिक कार्यों का वर्णन है।

पूर्व प्रशिक्षण

चविट्टुनाटकम में खेल के अधिपति या गुरु को 'अन्नावि' कहा जाता है। यह एक तमिल शब्द है। इसका अर्थ प्रशिक्षक होता है। आगे चलकर 'अन्नावि' शब्द ही बदलकर 'आशान' बन गया। गांव में 'आशान' का बड़ा सम्मान और प्रतिष्ठा होती है।

नाटकम के प्रशिक्षण और प्रदर्शन में आशान का अतिविशिष्ट स्थान होता है। वह पाद संचालन, संगीत,साहित्य और अभिनय में पारंगत होता है। आजकल ऐसे दक्ष प्रशिक्षकों का मिलना बड़ा कठिन होगया है। चविट्टुनाटकम में अभिनेताओं का प्रशिक्षण 'कलरि' में होता है। पहले लड़कों की आवाज और चाल आदि की प्रारंभिक परीक्षा ली जाती है। चुने हुए लड़कों को उनके माता पिता द्वारा 'आशान' के सम्मुख लाया जाता है जो उन्हें प्राचीन गुरुकुलों की भांति विशेष समारोह के साथ अपने यहां प्रवेश देता है। लड़का

दस 'पुत्तन' और एक रुपया तीन ताम्बूल पत्रों पर रखकर अपने गुरु को भेंट करता है। तब वह गुरु के चरणों की धूलि को अपने मस्तक और हृदय से लगाता है। गुरु उसे आशीर्वाद देता है और वह उसी दिन से शिष्य बनजाता है। अपने गुरु की वन्दना करने के बाद यह लड़का मूलपाठ की स्तुति करता है। 'आशान' पुस्तक का प्रथम पृष्ठ खोलकर लड़के के आगे कर देता है और वह उसपर चार 'पुत्तन' रखकर उसे आदर से चूमता है। इस प्रकार लड़के का औपचारिक रूप से 'कलरि' में प्रवेश हो जाता है। कलरि में गुरु-आज्ञा का पालन अत्यावश्यक है।

सबसे पहले शिष्यों को विभिन्न प्रकार के कदमों का ज्ञान कराया जाता है जिनमें उनके बुनियादी प्रकारों के अतिरिक्त 'कलाशम' व 'कवितन' जैसे जटिल प्रकार भी शामिल होते हैं। इस प्रशिक्षण में कम से कम ६ माह लग जाते हैं। कदमों पर अधिकार होने पर शस्त्रों के, खासतौर से तलवार और भाले के प्रयोग का प्रारम्भिक प्रशिक्षण दिया जाता है।

पुराने समय में लड़कों को तेल-मर्दन की कला सहित सम्पूर्ण शारीरिक व्यायाम का प्रशिक्षण दिया जाता था जिससे उनका शरीर स्वस्थ व स्फूर्तिवान रहता था। आजकल के समय में इस प्रकार के गम्भीर शारीरिक प्रशिक्षण का अभाव पाया जाता है।

इसके उपरान्त 'आशान' इन अभिनेताओं को अपनी योग्यतानुसार विभिन्न भूमिकाएँ देता है। राजा, मन्त्री और सेनापति जैसी मुख्य भूमिकाएँ गांव के प्रमुख परिवारों से चुने हुए लोगों को ही दी जाती हैं। समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों के कुछ परिवारों में नाटकम के अभिनय की परम्परागत क्षमता है। 'चविट्टु-नाटकम' में मन्त्री की भूमिका सर्वाधिक स्पृहणीय मानी जाती है।

इन प्रारम्भिक तैयारियों के बाद वास्तविक चौलियाट्टम (रिहर्सल) का आरम्भ होता है। 'आशान' प्रत्येक अभिनयकर्ता को गीत गाकर सुनाता है, उसका अर्थ व संदर्भ स्पष्ट करता है और अभिनय की विभिन्न मुद्राएँ बताता है, जिन्हें शिष्य दोहराता है। यह तैयारी पूरे वर्ष भर और कभी-कभी दो या तीन

वर्षों तक चलती है। इसके बीच होने वाले नाश्ते आदि का खर्च स्वयं शिष्यों की जेब से होता है। गांव के प्रमुख व्यक्ति भी चन्दा देते हैं। काफी लम्बे और गम्भीर प्रशिक्षण के बाद नाटक प्रदर्शन के लिए तैयार हो पाता है।

रंगमंच एवं प्रदर्शन

चविट्टुनाटकम का प्रदर्शन गांव के मैदान में खुले प्रेक्षागृह में होता है। लकड़ी के पटरों से एक ऊँचा मंच तैयार किया जाता है जिसकी लम्बाई ४० से ५० मीटर तथा चौड़ाई बहुत कम होती है। रंगमंच के दोनों ओर दो पोर्टिको (द्वारमण्डप) बनाए जाते हैं जिनकी भलीभांति सजावट की जाती है। ये द्वारमंडप दोनों दलों के राजमहलों का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक क्रोस के सम्मुख एक कांस्यदीप जला दिया जाता है। मंच खुला होता है। इसके अन्तिम छोरों पर दो द्वार होते हैं जिनका उपयोग अभिनयकर्ताओं के प्रवेश और निकास के लिए किया जाता है। मंच के बीचोंबीच पीछे की ओर एक छोटी सी खिड़की होती है जिसमें से मंच को देखकर पार्श्व संगीतकार अभिनेताओं के बोलों का अनुसरण करते हैं। मंच पर प्रकाश की व्यवस्था मशालों द्वारा की जाती है।

मंच का निर्माण गाँववालों के सामूहिक प्रयत्न से होता है। प्रदर्शन का खर्च लोगों से चन्दा करके प्राप्त किया जाता है। इस अवसर पर सारा गांव उत्सव के रंग में होता है। ग्रामवासी शाम को समय से पूर्व ही भोजन करके गांव के मैदान में जाने की तैयारी कर लेते हैं, जहां खुला प्रेक्षागृह होता है। गांव की गरीब से गरीब औरत भी नाटकम में देने के लिए कुछ पैसे ले जाती है।

चविट्टुनाटकम का प्रदर्शन निःशुल्क होता है, यद्यपि इसमें काफी खर्च आता है। इसकी व्यवस्था पूर्णतः लोकतांत्रिक होती है। सभी दर्शकों को भूमि पर बैठना होता है।

प्रदर्शन के दिन 'आशान' को बड़ा व्यस्त रहना पड़ता है। तड़के ही वह अपने शिष्यों को गिरजाघर में ले जाकर प्रार्थना करता है और फिर उनके साथ

गांव के बड़े बूढ़ों के पास जाता है जहां वे उनके आशीर्वाद तथा रंगमंच पर शार्लमैंन, रोलेण्ड आदि विभिन्न पात्रों का वेश धारण करके आने की अनुमति प्राप्त करते हैं।

संध्या के समय लगभग ७ बजे अभिनेताओं के वेशधारण करने की घोषणा के रूप में नगाड़े (चेण्डा) पर पहली चोट पड़ती है । एक हाथ में खुली 'चद्दिट्टि' लेकर 'आशान' अभिनेता के ललाट पर पाउडर से क्रोस का चिन्ह बना देता है। इस औपचारिक उद्‌घाटन के बाद रूपसज्जा (मेकअप) का प्रारंभ होता है। एक घंटे बाद नगाड़े पर दूसरीबार और ठीक नौ बजे तीसरी बार घोषणा होती है।

प्रदर्शन के लिए सब तैयारियां हो चुकने पर मजीरों का गुरुगंभीर स्वर नाटक प्रारंभ की सूचना देता है। पार्श्वभाग से संगीत का प्रारंभ होता है तथा एक लम्बा समूहगीत गाया जाता है जिसमें 'आशान', अभिनेता व संगीतकार सभी भाग लेते हैं। ईश्वर से ज्योनि के लिए प्रार्थना की जाती है। तत्पश्चात संत वन्दन होता है तथा गुरु और लेखक के प्रति कृतज्ञताज्ञापन किया जाता है। इतना सब होजाने पर कथा का संक्षिप्त गान होता है। यह विरूतममूलल (प्राक्कथन) जो कम से कम घंटेभर तक चलता है, ग्रीक नाटकों के प्रलोग (आमुख) और संस्कृत नाटक के 'नान्दी' की तरह का है।

मूल नाटक की शुरुआत से पूर्व कुछ प्रारंभिक दृश्य बतलाए जाते हैं जिन्हें 'थूतियोगरकट्टियन' व 'तोड़ायट्टम' कहा जाता है।

अभिवादक

दर्शकों का अभिवादन करनेवाले जिन्हें 'थूतियोगर' कहते हैं, सैनिक वेशधारी, लगभग १२ वर्ष की उम्र के दो लड़के होते हैं। अत्यंत ओजस्वी लम्बे कदमों से वे मंच के दोनों ओर से प्रवेश करते हैं। ये आगे आकर दर्शकों को नमस्कार करते हैं और फिर पीछे मुड़कर एक घुटने पर झुककर तथा पांव छूकर 'आशान' को प्रणाम करते गुरुदक्षिणा के रूप में एक सुन्दर वस्त्र एवं कुछ रुपये भेंट करते हैं। पोशाकें तैयार करनेवाले वेश–आशान

(कलाकार) को भी मंच पर बुलाकर उपहार दिए जाते हैं। सर्वश्रेष्ठ पोशाक के लिए दर्शकों की ओर से भी कुछ इनाम दिया जाता है।

अब अभिनेता आगे बढ़कर मंच के मध्यभाग में आजाते हैं और आशान के निर्देशानुसार जटिल व कठिन प्रकार के कदमों का प्रदर्शन करते हैं जो इस बीच अपने मजीरों के साथ मंच पर ही खड़ा रहता है। कदमों के सही प्रदर्शन को दर्शकों की वाहवाही मिलती है जब कि दोषपूर्ण प्रदर्शन पर इसके विपरीत सीटियां भी बज सकती हैं। इस प्रथम प्रशंसा की प्राप्ति के लिए 'आशान' बड़ा सावधान रहता है। इन कदमों के प्रदर्शन के बाद लड़के नाटक के संक्षिप्त रूप का गान करते हैं। इसके बाद वे दर्शकों को नमस्कार कर रंगमंच से बाहर चले जाते हैं। लड़कों के बाहर जाने के बाद 'तोडायानर्तक' अर्थात लग-भग आधा दर्जन लड़कियां, खूबसूरत 'लास्य' कदमों के साथ प्रार्थना करती हुई मंचपर प्रविष्ट होती हैं।उनका पदन्यास व अभिनय 'मोहिनीयाट्टम' से मिलता है।

विदूषक

विभिन्न दृश्यों के बीच-बीच में रंगमंच पर 'काट्टियान' (विदूपक) आता है जो दर्शकों की बहुत मजाक उड़ाता है। उसे कदमों, संगीत और नाटक की अन्य तकनीकों का पूरा ज्ञान होता है और वह उनकी हास्यजनक नकल करता है। वह चीनी रंगमंच के 'प्रोपर्टीमेन' (मंच सामग्री की देखरेख करनेवाला) की भांति मंच पर इधर उधर घूमते हुए किसी नीचे पड़ी हुई तलवार या मुकुट को उठाने अथवा किसी मृत सैनिक को उठाकर भीतर लेजाने का कार्य भी करता है।

काट्टियान का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य नाटक के साथ साथ उसकी व्याख्या देना भी है। वह 'अन्नावि' से सीधे ही बात करने लग जाता है। एक दरबार के दृश्य में वह पूछता है 'अन्नावि; मंच पर यह बड़ा आदमी कौन है?' अन्नावि कहता है-'उच्चासन पर आसीन यह व्यक्ति फ्रान्स के महान सम्राट शार्लमेंन है।' विदूपक काफी नीचा झुककर सम्राट का अभिवादन करता है और कहता है 'अन्नावि;—ये महान सम्राट क्या आज्ञा दे रहे हैं?'

अन्नावि बोलता—'हे-महान सम्राट अपने मंत्रियों को शिकार की तैयारी का आदेश दे रहे हैं ।'

इस प्रकार की साथ चलनेवाली व्याख्या की सहायता से दर्शक पूरी कथा को समझ जाता है । ग्रामीण दर्शक 'काट्टियान' की मजाकों से बड़े खुश होते हैं और कभी-कभी कोई विनोदी व्यक्ति भीड़ में से उठकर उसे केक व केले की माला भी पहिना देता हैं ।

दरबारी दृश्य

अक्सर नाटक की शुरुआत दरबार के रंगीन दृश्य से होती है । भीतर से समवेत स्वर में संगीतज्ञ महान् सम्राट के मंच पर प्रवेश करने की घोषणा तथा उसके गुणों का बखान करते हैं । दर्शकों की उत्सुकता बढ़ जाती है । परयुक्त मुकटोंवाले लगभग एक दर्जन सैनिकों के साथ सम्राट प्रवेश करता है । प्रवेश-गीतक के साथ सम्राट अपना परिचय देता है जबकि महाराज के अंग संचालन और गति के अनुसार सैनिक भी सहजतापूर्ण व सुन्दर कदम उठाते हैं । प्रवेशगीत' अक्सर बारह से सोलह पद लिए होता है ।

इस लम्बे प्रदर्शन के बाद सम्राट कुछ देर आराम करता है । इसके बाद वह एक सैनिक के द्वारा मंत्री को तत्काल उपस्थित होने का आदेश भिजवाता है । सैनिक आगे बढ़कर अभिवादन करता हुआ बाहर चला जाता है ।

मंत्री अभिनेता

चविट्टुनाटकम में मंत्री सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है । वह मुख्य आदेष्टा भी होता है और व्यायामकौशल, पादसंचालन और अभिनय में प्रवीण होता है । उसकी वेशभूषा, खासतौर से आकर्षक और कभी-कभ सम्राट की वेशभूषा से भी बढ़कर होती है ।

उसके प्रवेश की घोषणा एक गायकवृन्द द्वारा की जाती है । मंत्री 'प्रवेशगीत' के प्रथम पद को मंच के पीछे से ही गाने के बाद हाथ में नंगी तल-वार लिये बलपूर्ण व मजबूत कदम रखते हुए तथा गाते हुए कूदकर मंच पर

आता है। इसे देखते ही सैनिकों में नया जोश आ जाता है और वे उसके साथ–साथ कदम मिलाने लगते हैं। जैसे ही मंत्री अपना प्रवेशगीत समाप्त कर चुकता है, वह अपनी तलवार को मंच के लकड़ी के पटरों में खड़ी गाड़ देता है।

इसके बाद मंत्री सम्राट का सादर अभिवादन करता है और उसके द्वारा अपने याद किये जाने का कारण पूछता है। सम्राट अपने इस 'प्रियमन्त्री' को साम्राज्य के कार्यों का विस्तृत व्यौरा देने के लिये कहता है। मंत्री साम्राज्य और उसके लोगों की कुशलता का लम्बा वर्णन प्रस्तुत करता है। इस बीच सैनिक 'अतन्ता' शैली में उसके कदमों का अनुसरण करते हैं। यह अक्सर एक सुन्दर प्रदर्शन होता है जो एकवार फिर दर्शकों की वाहवाही से खिल पड़ता है। सम्राट सन्तुष्ट हो जाता है। तत्पश्चात् वह शिकार या युद्ध की इच्छा प्रकट करता है। मन्त्री अपनी सहमति प्रकट करता है। तदनंतर सम्राट, मन्त्री और सैनिक क्रमानुसार रंगमंच से वाहर चले जाते हैं।

युद्ध दृश्य

नाटक में युद्ध के दृश्य भी काफी आकर्षक होते हैं। मंच पर द्वंद्व–युद्ध के अतिरिक्त चालीस पचास अभिनेताओं के समूहों के बीच किया जाने वाला युद्ध भी दिखलाया जाता है। इसमें राजा सक्रिय भाग नहीं लेता। मंत्रीगण ही सेना का संचालन करते हैं। दो विरोधी दल लम्बे रंगमंच के दोनों कोनों से प्रवेश करके मंच के मध्य भाग तक मार्च करते हैं फिर वे दो समानांतर पंक्तियों में नंगी तलवारें व ढालें लेकर आमने सामने खड़े हो जाते हैं। पहले वे अपनी ढालों पर आघात करके विरोधी को ललकारते हैं। फिर 'आशान' के मजीरों से संकेत मिलते ही एक दल का मुखिया आगे बढ़कर विरोधी पंक्ति को युद्ध ध्वनि (युद्ध तरु) गाकर तथा अपनी ढाल से टंकार उत्पन्न कर युद्ध के लिये ललकारता है। उसके अनुयायी भी उसका साथ देने लगते हैं और युद्ध प्रारंभ हो जाता है। इसके कई दौर चलते हैं और तव यह अचानक बीच में ही मजीरों के संकेत पर रुक जाता है तव दूसरे सैन्यदल की वारी आती है और वह अपनी

ओर से युद्ध प्रारम्भ करता है । यह युद्ध लगभग आधे घण्टे तक चलता है। युद्ध व शिकार के अतिरिक्त इसमें प्रेम के सुन्दर दृश्य भी होते हैं जिनमें सामन्ती वीरों को वीरोचित रीति से अपनी प्रेयसी का मन जीतते हुए बताया जाता है।

मंगलम

नाटकम का प्रारम्भ रात्रि के नौ बजे होता है जिसकी समाप्ति होते-होते सुबह हो जाती है । अंतिम दृश्य में नाटक में भाग लेनेवाले सभी अभिनेता रंगमंच पर पंक्तिबद्ध खड़े होकर सुखद समापन की प्रार्थना के रूप में 'मंगलम' का गान करते हैं और इसके बाद सभी प्रस्थान करते हैं।

वर्तमान स्थिति

चविट्टुनाटकम का उपर्युक्त विवेचन न्यूनाधिक रूप से इसके पारम्परिक स्वरूप को अवलोकित करता है। किन्तु वर्तमान में इसका अब वह स्वरूप नहीं रहा। इसके कई कारण हैं जिनमें से कुछ का उल्लेख यहां किया जा रहा है:-

१. किसी संरक्षण के अभाव में इस अत्यन्त खर्चीले नाटक का प्रदर्शन अब संभव नहीं रह गया है । इस गम्भीरतम कठिनाई का कारण है-पहले इसका शिक्षण व मंचीकरण निःशुल्क होता था परन्तु अब न तो 'आशान' ही इसका खर्च वहन करते हैं और न गाँववाले ही ।

२. इस कला की तकनीक जानने वाले कई प्रख्यात प्रशिक्षक जो पहले थे वे अब नहीं रहे। जो इक्के-दुक्के जानकार हैं भी उनकी इसमें कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई देती।

३. इस कला की मूल तकनीक प्रायः विस्मृत हुई जा रही है। जटिल और कठिन पदन्यासों का स्थान अब आसान कदम ले रहे हैं। कदम उठाने क बुनियादी ढंग भी बदल गए हैं। पोशाक, पार्श्व संगीत, वाद्य संगीत, दृश्य व्यवस्था और अन्य तकनीकी में भी बड़ा भारी परिवर्तन दिखाई देने लग गया है।

४. मूलपाठ का मुद्रित रूप नहीं मिलता और प्राचीन प्रामाणिक मूलपाठ

सरलता से उपलब्ध नहीं होता। ऐसी पाण्डुलिपियों के कई अनधिकृत संस्करण हैं जिनके कारण खेलों का साहित्यिक स्तर काफी गिरता हुआ नजर आरहा है।

५. सिनेमा की नकल पर इसका आधुनिकीकरण करने की प्रवृत्ति से भी इस कला का ह्रास हुआ है।

६. कई जगह 'धूतियोगर', 'तोड़ायट्टम' और 'काट्टियान' के दृश्यों को बिल्कुल तोड़ मरोड़ दिया गया है।

७. शिक्षित लोग इन कलाओं से दूर होते जारहे हैं। अतः यह कला केवल अज्ञानी एवं अशिक्षित लोगों के हाथ में ही रह गई है।

८. अभिनेताओं और 'आशानों' की अज्ञान अशिक्षा और मद्यपान की आदतों ने भी इस नाटकम की प्राचीन सुघड़ता को काफी नीचे ढकेल दिया है।

९. केरल के वर्तमान मलयालमभाषी दर्शकों के लिए नाटकम का मूल तमिल रूप भी वहुत वड़ी वाधा वना हुआ है।

चविट्टुनाटकम सही अर्थों में केरल का प्रथम लोकथियेटर है। साथ ही आधुनिक आपेरा शैली का एक सुन्दर सांगीतिक नृत्यनाट्य होने का सौभाग्य भी इसे प्राप्त है। हमारी जनतांत्रिक व्यवस्था में केवल सरकार ही इस लोक कला के उन्नयन एवं स्वस्थ मंचन की जिम्मेदारी वहन कर सकती है।

***

भवाई

डॉ० श्याम परमार

भवाई प्रमुख रूप से गुजरात और गौण रूप से राजस्थान की लोकपरक नाट्यशैली है। इस शैली के आद्य उन्नायकों के सम्बन्ध में गुजरात और राजस्थान की धारणाएं अलग-अलग हैं। गुजरात की मान्यता है कि भवाई के आदि-प्रवर्तक ऊंझा गांव के हेमाला पटेल के पुरोहित असाइत ठाकुर थे। चौदहवीं शताब्दी में एक औदिच्य ब्राह्मण के घर असाइत का जन्म हुआ। किशोर अवस्था से असाइत कथा कहने और गीत गाने में बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसकी योग्यता देखकर उसे सिद्धपुर के एक मन्दिर में नियमित रूप से कथा-गान करने का कार्य मिल गया। इसी समय एक विचित्र घटना हुई। हुआ यह कि एक मुसलमान सूबेदार ने हेमाला की पुत्री, गंगा का हरण किया। इस घटना से हेमाला बहुत

दुखी हुआ। सम्पूर्ण गांव अत्यन्त क्षुब्ध हुआ सो अलग। किन्तु किसी के वश की बात नहीं थी कि वे सूबेदार से गंगा को पुनः प्राप्त कर ले। असाइत ने हेमाला के पुरोहित के नाते अपनी कला से सूबेदार को प्रसन्न किया और गंगा को अपनी बेटी बताकर वापस मांगा। मुसलमान सूबेदार जानता था कि असाइत ब्राह्मण है। वह पाटीदार किसान की बेटी के साथ एकही थाली में भोजन नहीं कर सकेगा। जातपांत की दृष्टि से उसके लिये यह उचित नहीं होगा। किन्तु असाइत ने निर्भीक होकर गंगा के साथ एक ही थाली में भोजन किया और इस प्रकार गंगा को वापस लाने में सफल हुआ। परिणाम यह हुआ कि असाइत के इस कार्य से उसके जातिवाले नाराज हो गये, उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया गया। इस घटना ने असाइत के मन में जातपांत सम्बन्धी ढोंग और सामाजिक ढकोसलों के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न कर दी। उसने निर्णय किया कि वह गा-बजा कर इस अन्याय का प्रतिकार करेगा। अपने तीनों लड़कों को लेकर असाइत ने वह गांव छोड़ दिया। गंगा के पिता को इससे बड़ा दुख हुआ। चूंकि वह गांव का मुखिया था, उसने विश्वास दिलाया कि भविष्य में गांव का प्रत्येक मुखिया असाइत के परिवार की देखभाल करेगा। किन्तु इससे समाज के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आया। उसकी पीढ़ी बहिष्कृत ही रही। उसके तीनों बेटे रामलाल, रतनलाल और मदनलाल गाते-बजाते रहे। कालान्तर में उन्हें 'तरगाला' कहा जाने लगा। तरगाला का अर्थ 'त्रण घराला' अर्थात् तीन घर वाले व्यक्तियों की जाति। इस जाति के व्यक्तियों का पेशा ही 'भवाई' करना है।

असाइत ठाकुर के सम्बन्ध में एक दूसरी कथा इस प्रकार है—

बात अहमदशाह के पितामह मोहम्मदशाह प्रथम के समय की है। मोहम्मदशाह प्रायः सुन्दर एवं अविवाहित कन्याओं का अपहरण करके अपने जनानखाने में रख लिया करता था। किसी ने दरबार में ऊंझा के हेमाला पटेल की कुंवारी लड़की गंगा का उल्लेख किया। इस बात को सुनकर हेमाला ने दरबार से अपने एक विश्वस्त आदमी को सांडनी पर गांववालों को सावधान करने के लिए दौड़ाया। यह आवश्यक था कि मोहम्मदशाह के आदमी जबतक गांव में पहुँचे गंगा का विवाह

कर दिया जाये। किन्तु पटेल की जाति वालों में से कोई गंगा से विवाह करने के लिए तैयार नहीं हुआ। स्थिति की गम्भीरता का अनुमान कर असाइत आगे आया। उसी की जाति में से एक व्यक्ति ने कन्यादान किया। दूसरे ने लड़के की ओर से गंगा को प्रश्रय दिया। इस प्रकार ब्राह्मणों के तीन परिवारों ने मिलकर आनेवाली आपत्ति से गंगा को बचा लिया। अचानक इतना सब हो जाने के बाद असाइत की जातिवालों को अपनी स्थिति का ध्यान आया। हेमाला को भी यह पसन्द नहीं आया। परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण के तीनों परिवार जाति से वहिष्कृत कर दिये गये।

उत्पत्ति : विभिन्न मत

'भवाई' राजस्थान और मालवा के सीमावर्ती क्षेत्र की उत्पत्ति भी कहा गया है। कहा जाता है कि आज से चार सौ वर्ष पूर्व जब राजस्थान के गाँवों में भी जातीय भेदभाव के अंकुर उत्पन्न हुए, ऊँचनीच के भेदभाव बढ़े, पारिवारिक जीवन में विशृंखलता उत्पन्न हुई, कला विलास और व्यभिचार का साधन समझी गई, ऊँची जाति के लोगों ने उसे तिरस्कार के योग्य समझा और अपने से दूर ही रखा तो यह भावना गाँवों में सबसे अधिक राजपूतों और जाटों में देखी। ये लड़ाकू जाति के थे। नृत्यगान को ये लोग शौर्य और वीरता का शत्रु समझते थे। खेती करना और पशुपालना इनका मुख्य व्यवसाय था। इन्हीं जाटों में नागाजी नाम का एक जाट था जो केकड़ी नामक स्थान में रहता था। इसे बचपन से ही नाचने और गाने का शौक था। यह बात जाटों को अच्छी नहीं लगी। उन्होंने उसे नगारा, भाला, भूंगल और जाजम देकर अपनी जाति से निकाल दिया और कहा कि तू आज से हमारी ही जाति का भांडभवाई है और तुझे समस्त जाटों के मनोरंजन का अधिकार दिया जाता है। तब से नागाजी जाट और उसके परिवार वाले भवाई कहलाने लगे।[1]

---

1 राजस्थान का भवाई नृत्य; देवीलाल सामर, लोक-कला : (राजस्थान अंक), भाग पहला, पृ० ३.

कहते हैं, नागा (नंगा) को देवी शीतला का इष्ट था। जब वह देवी का बाना धारण करता तो उसमें साक्षात् शक्ति का स्वरूप दृष्टिगत होता। उसमें भाव का अवतरण देख, लगता है उसके जातीय बन्धुओं ने 'भुआ आयी' कहना प्रारम्भ किया हो, क्योंकि जाट देवी शीतला को अपने ही परिवार की बहन समझते हैं। इस 'भुआ आयी' उक्ति में भुआई–भवाई शब्द की सार्थकता अनुमानित की गई है। एक और तर्क भवाई के हित में यह भी है कि आरम्भ में ये लोग घुमन्तू थे। गाँवों में घूम घूम कर अपने खेल दिखाते। इस प्रकार भ्रमण करते रहने के कारण ये लोग 'भमाई' कहलाये जो कालान्तर में भवाई हो गये। भावों का वहन करनेवाला भवाई है, यह भी एक स्पष्टीकरण उपलब्ध है। जयशंकर सुन्दरी, जो कि किसी समय स्त्री पात्र के अभिनय के लिये प्रसिद्ध रहे हैं, के अनुसार 'भव वही' से भवाई शब्द बना। 'भव' का अर्थ है जगत और 'आई' का मतलब है माता। जगत् माता पार्वती अर्थात् देवी अंबा तरगाला जाति की आराध्या है। अनन्तराय रावल भगवती भअवई–भवाई शब्द से भवाई का सम्बन्ध जोड़ते हैं।

भवाई की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उक्त बातों से इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि भवाई जाति भ्रष्ट व्यक्तियों का ऐसा समुदाय था जिसने मनोरंजन के माध्यम से अपनी प्रतिक्रिया को वाणी देने का साहस किया। यही कारण है भवाई के अन्तर्गत धार्मिक एवं पौराणिक कथानकों का विशेष विकास नहीं हुआ। इसमें व्यवस्थित नाटकों-सी लम्बी रचनाएँ भी प्रश्रय नहीं पा सकीं, न अभिनय के लिए प्रगाढ़ साजसज्जा को ही महत्व मिला। निरन्तर भ्रमण करते रहने के कारण उनके लिए यह सम्भव भी नहीं था। इसलिए छोटे प्रहसनों का भवाई शैली में सहज ही विकास हो सका। असाइत ठाकुर ने स्वयं तीन-सौ-साठ वेशों की रचना की। इन वेशों; स्वरूप; स्वांग छवि; में अधिकांश आज भी गुजरात के भवाइयों में प्रचलित हैं। समय-समय पर इनमें प्रत्येक भवाई मंडली ने सामयिक व्यंग्य और स्थानीय भाषा का रंग पैदा किया है। मगर इससे कथाओं का स्वरूप नहीं बदला। मूल कथा के अन्तर्गत ही भवाई अपनी ओर से स्थानीय व्यंग्य की उपज करते हैं। बंधे बंधाये कथानक से

तनिक हटकर वे पुनः अपने ही वृत्त पर आ जाते हैं। असाइत के वेशों में अब केवल परम्परागत गीत ही अवशिष्ट हैं। विशिष्ट धुनों में ढले होने के कारण गीतों के शब्दों में परिवर्तन नहीं हुआ, बल्कि वर्षों से आवृत्ति करते रहने से उनका स्वरूप और भी स्थायी बन गया।

प्रस्तुतीकरण

भवाई प्रस्तुतीकरण की शैली मूलतः मनोरंजनप्रधान है। संवादों की विशिष्ट शैली कथा के सूत्र उद्घाटित करती है। प्रत्येक पात्र प्रवेश करते समय नृत्य करता है। नृत्य के बाद वादी और प्रतिवादी पात्र के बीच संवाद-क्रम को उत्कर्ष देता है राजस्थान का 'कुटकड़िया' अथवा गुजरात का 'रंगलो'। दोनों ही पात्र—कुटकड़िया और रंगलो विदूषक की भूमिक निभाते हैं। भवाई में विदूषक मनोरंजन करने के साथ ही वादी और प्रतिवादी के व्यक्तित्व का एक साथ प्रतिनिधित्व करता है। दोनों ओर से वही संवाद झेलकर उत्तर-प्रत्युत्तर देने की अद्भुत अदायगी पेश करता है। यों तो दर्शक खेलों की कथा पहले से ही जानता है। प्रत्येक खेल अपने आप में पूर्वापर खेल से, एक ही कथा के होते हुए भी, भिन्न होता है, क्योंकि उसकी पुनरावृत्ति के समय नृत्य-गान को छोड़कर कई बातें नये नये ढंग से जुड़ायी जाती हैं। संवाद कथासन्दर्भ से हट-कर स्थानीय प्रसंगों को इतनी सफाई से समाविष्ट कर लेते हैं कि कथावरोध नहीं मालूम होता। खेल मनोनुकूल छोटा बड़ा सहज ही बना लिया जाता है।

वादी प्रतिवादी दोनों ही कलाप्रवीण होते हैं। वादी जब सवाल करता है तो कुटकड़िया तुरन्त प्रतिवादी से सवाल करता है। वही कुटकड़िया प्रति-वादी की ओर से उसका जवाब भी देता है। इस तरह एक ही प्रसंग में तीन व्यक्तियों की उर्वर कल्पना एवं उपज शक्ति का आनन्द एक ही व्यक्ति में मिल जाता है। ये सभी गद्यात्मक संवाद न तो पूर्व निश्चित ही होते हैं न कंठस्थ ही। वे अधिकांश में तात्कालिक उपज तथा रंगस्थली में स्थिति विशेष की प्रेरणा पर निर्भर रहते हैं। वादी द्वारा किये हुए प्रश्नों में हास्य-विनोद सम्बन्धी कोई कमी रह जाती है तो कुटकड़िया प्रतिवादी से प्रश्न करते हुए स्वयं उसकी

पूर्ति कर देता है । प्रतिवादी यदि उस उत्तर में कोई कमी देखता है तो वह बीच में ही काट कर बोल देता है, जिसे कुटकड़िया तुरन्त झेल लेता है और संवादों की गंगा आगे बढ़ती ही रहती है । संवादों की यह सरिता सैकड़ों वर्षों से अविरल बहती रहती है परन्तु किसी भी दिन उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती ।"[1]

गुजराती भवाई

गुजराती भवाई का स्वरूप राजस्थानी भवाई से विशेष भिन्न नहीं है । उसे अभिनीत करने के लिए खुले मैदान या किसी चौराहे को दर्शकों से घेरकर रंगस्थली बना ली जाती है । इसमें एक ओर माता की स्थापना करके ज्योति प्रज्वलित कर दी जाती है । भवाई आरम्भ करने के पूर्व सभी पात्र इस शक्ति-प्रदायनी माता की पूजा करते हैं । फिर गणपति वेश का अवतरण किया जाता है । इस औपचारिकता के पश्चात् अन्य भवाई वेश अवतरित किये जाते हैं। स्त्रियों का अभिनय पुरुष ही करते हैं. जिन्हें कंचुकी पहनने के कारण 'कांच-लिया' कहा जाता है । साधारण लोगों के लिए इस प्रकार के वेशों में मनोरंजन के अनेक अंश निहित होते हैं । कभी कभी फूहड़ फिल्म की अश्लीलता भी देखी जाती है । इसमें अश्लीलता के प्रवेश के कारण जो भद्दापन एवं फूहड़ किस्म की चेष्टाओं का क्रमश: समावेश जब से होने लगा तभी से गुजरात के कतिपय विद्वानों द्वारा इसका विरोध आरम्भ हुआ । अत: भवाईप्रथा का धीरे-धीरे प्रभावशैथिल्य न केवल आधुनिक रंगमंच के कारण हुआ वरन् शिक्षितों द्वारा उसकी अश्लीलता के विरोध में जो आंदोलन उठ खड़ा हुआ वह भी एक कारण था । गुजरात में रणछोड़भाई उदयराम ने भवाई की अश्लीलता विनष्ट करने के लिये अनेक नये नाटक लिखे । ऊपरी तौर पर भवाई का यह विरोध जनता से उस परम्परा को एकदम अलग न कर सका । भवाई करनेवाले तरगाला

---

1 राजस्थानी भवाइयों की प्रदर्शनकला; देवीलाल सामर, लोककला, अंक १३, पृ०–११.

लोगों की एक बड़ी संख्या यह काम फिर भी करती रही ।

राजस्थान के भवाइयों के प्रति ऐसा कोई विरोध नहीं हुआ । निश्चय ही लोक-प्रचलित परम्परा का इस प्रकार सहज ही लोप होना संभव नहीं था । स्थानीय विशेषताओं को लेकर विविध प्रसंगों का हास्यपूरित अभिनय लोगों के मन में बहुत रमा हुआ रहा है । यह स्पष्ट है कि भवाई की अधिकांश सफलता रंगलो पर निर्भर रहती है । परिष्कृत मंच पर यही रंगलो लोकनाट्यों के माध्यम से आया । गुजरात में रणछोड़भाई उदयराम के अतिरिक्त दलपतराम, नर्मदाशंकर, मणिभाई, नभुभाई, विभाकर आदि ने मंच के लिये नवीन नाटक लिखे । पर जनरुचि में विकृति आते देख उन्हें भी क्रमशः मंच से अपने संबंध शिथिल करने पड़े । एक शताब्दी पूर्व बम्बई में शंकर सेठ का नाट्यगृह आरंभ हुआ था । उसकी पारसी–महाराष्ट्रीय अभिनयपद्धति से तंग आकर अनेक नाटककारों ने लेखनी उठाई । रणछोड़भाई ने सन् १८६१ के पश्चात् 'जयकुमारी विजय,' 'हरिश्चन्द्र,' 'ललिता दुःख-दर्शन' आदि लिखकर भवाई के प्रभाव को कम करना चाहा । उनका यह प्रयास दुतर्फा था । एकओर पारसी थियेट्रीकल कम्पनी के आंग्लप्रभाव को मिटाना तथा दूसरी ओर भवाई देखने वाले लोगों की रुचि को परिष्कृत करना । इसी समय और गुजराती नाटक कम्पनियाँ स्थापित हुई । उस समय 'सतिद्रोपदी', 'मीराबाई', 'नृसिंह मेहता' जैसी कथाओं का बोलबाला था । इन नाटकों के प्रति लोकप्रियता कम न थी । इस प्रकार ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों का भी प्रवेश हुआ । एक ओर नगरों में गुजराती नाटकों का मंच विकसित हो रहा था तो दूसरी ओर भवाई की परम्परा अपनी स्वाभाविक गति से चल रही थी । कई कारणों से जो कुछ रणछोड़भाई का स्वप्न था वह पूरा न हो सका ।

भवाईवेश

एक ही रात में भवाई के अन्तर्गत लगभग पाँच-छः खेल सहज ही कर लिये जाते हैं । कोई प्रहसन आध घंटे का हो सकता है तो कोई दो घंटे का । सभी प्रहसन अपनी स्वाभाविक गति से एक दूसरे से इस तरह जुड़े होते हैं कि मंडली के

नायक को पात्रों की वेशभूषा परिवर्तित करवाने या उसके लिए विशेष तैयारी करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। राजस्थान के भवाइयों का प्रिय खेल 'बीकाजी' विस्तार में तीन घंटे से कम समय में सम्पन्न नहीं होता, मगर सम्पूर्ण खेल में दो या तीन घटनाएँ होती हैं और उन्हें सम्बद्ध करनेवाले पन्द्रह-बीस संवाद से अधिक नहीं होते। अधिक समय गीतों की अदायगी और कुटकड़िया विवेचन में लगता है। गुजरात का प्रसिद्ध भवाई नाट्य 'झूठा मिया' अत्यन्त हास्यप्रधान रचना है। इसका मुख्य अभिनय स्वयं रंगलो करता है। इसमें वह संवाद ही नहीं कहता, बल्कि स्वयं गाता है, नाचता है, परिहास करता है, और समस्त नाटकीय तत्त्वों से ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करता है कि दर्शक हँसते-हँसते थक जाते हैं। रंगलो बड़ा से बड़ा झूठ कहता है। अपने झूठ को वह सीधे वातावरण के बीच से उठाता है। उसके संवाद दर्शकों की अनुभूति से अलग नहीं होते। झूठा मिया, किंवदंती के अनुसार बुखारा का बादशाह था। सत्य की खोज में वह अपने वैभव को छोड़कर किसी समय भारत में आया था। अब वह झूठ बोल कर ही सामाजिक विसंगतियों की खिल्ली उड़ाता है। झूठा मिया की दो पत्नियाँ हैं, चटकी और मटकी। दोनों ही मिया की दुर्गत करती हैं, पर मिया भी कम नहीं है। वह प्रगाढ़ आत्मविश्वासी है। विकट परिस्थितियों में भी आशावादी है। एक झूठ पर दूसरा झूठ चढ़ाकर वह दर्शकों के भीतरी ढोंग का सरे आम परिहास करता है।

जन साधारण के लिए सामाजिक जीवन और सामयिक परिस्थितियों से परिहास, व्यंग्य और छेड़छाड़ के लिए सामग्री उठाना भवाई के हर अभिनेता की विशेषता है। मगर यही सब नहीं है। भवाई वेशों में यत्रतत्र साहित्यिक सामग्री भी मिल जाती है। गुजरात के गोवर्धनराम ने अपनी 'सरस्वतीचंद' नामक कृति में बुद्धिधन के कुटुम्ब की स्त्रियों का वर्णन करते हुए लिखा है—

न्हानो शी नार ने नाकेर मोती

भवाई में यह पंक्ति इस प्रकार प्रचलित है—

न्हानी शी नार ने नाके मोती

पियु परदेश ने वाटड़ी जोती ।
उड़ावती काग ने गणती रे दहाड़ा
ये नीशाणीए नागर वाड़ा ।।

इन्हीं पंक्तियों की भाँति दूसरी पंक्तियाँ हैं–

छाजनी छापरी छाजले छायी
खमे धोती ते आंगे सुखायी ।
आंगणे गाय मा पेटे खाड़ा
ये नीशाणीए ब्राह्मण वाड़ा ।।

नृत्य प्रसंग में अभिनेता नृत्य करते हुए लोगों के समक्ष आता है। यह कहना कठिन है कि पहले किस प्रकार के नृत्य प्रचलित थे। राजस्थान में ढोलक के मान (ताल) बड़े पेंचीदा हैं। नाचते समय पात्र और ढोलक के बजैया के बीच प्रायः प्रतिस्पर्द्धा तक होने लगती है। गुजरात में तबले के प्रचलित बोल नृत्य के पूर्व प्रचलित प्रकारों की सम्भावना व्यक्त करते हैं। भूंगल बजाते वक्त भी नृत्य के बोल....'थते थिन, थते थिन, थिन या थई तिन थई तिन थई तिननन' प्रयुक्त किये जाते हैं। भवाई नृत्य अवश्य ही खास ढंग के होंगे। कुछ देशी ढाल के छंद, कुंडलियाँ तथा रेखता का प्रयोग कभी-कभी होता पाया जाता है। कुछ विशिष्ट छंद के बोल बोलकर कहे जाते थे। अतएव भवाई में संगीत का प्राधान्य काव्य के साथ रहा है। झूला झूलने के प्रसंग में दीन दरवेश की कई कुंडलियाँ भवाई में कही जाती हैं। एक प्रसिद्ध कुंडलिया है–

महुड़ी तेरी छाया में बैठे दीन फकीर,
कहां सोइये बाग में कहां सरोवर तीर।
कहां सरोवर तीर अनोपम तेरी छाया,
बैठे दीन फकीर दो घड़ी दीन गुमाया।
कहत दीन दरवेश जुगो जुग जीवो खड़ी,
बैठे दीन फकीर छाय में तेरे महुड़ी ।।

स्त्रीपात्रों द्वारा लम्बे और विलम्बित लय में गीत कहे जाते हैं। उनमें

नृत्य के अन्तर्गत ताल का प्राधान्य होता है। ऊंची आवाज में गाने की प्रथा है। गीतों की शब्दरचना नृत्यों के अनुरूप ही होती है।

श्री रामनारायण पाठक ने 'भवाई अने तख्तो' नामक अपने लेख में इस पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डालते हुए लिखा है–

....................तेमा पण नृत्यनो ताल प्रधान हतो अने गीत नी छेवटनी पंक्तियां प्रबल ताल थी द्रुत लयमा नृत्य साथे गवाती अवो गीतो हुं प्रयोग थी वतावी शकुं अमे नथी, एक द्रष्टांत आपु छु, जेने शब्द–रचना ज अेनी नृत्योचितता सूचवे छे, के साराना वेष मां झोला नामनां गाणा आवे छे तेमांथी एक हुं लऊं छुं–

आछो झोलो लाग्यो रे राजने आछो झोलो रे
नीदरी झोलो लाग्यो रे राजन नीदरी झोलो रे।
सोले वरसती सुन्दरी गोरी जल भरवाने जाय
कांटो वाग्यो प्रेमनो ऐतो उभी-उभी झोला खाय।
राजने आछो झोलो रे..........

गुजराती के इस भवाई अंश में स्तर की कमी अवश्य है जो राजस्थानी में देखी नहीं जाती। कहीं-कहीं कवि के नाम की छाप लगाई जाती है। प्राय: प्रचलित रचनाओं से विना नाम के ही कवि का ज्ञान हो जाता है। रेखता में नृत्य के वोल जोड़ दिये जाते हैं और कभी–कभी रचयिता का नाम वाद में वोल कर दर्शकों को कवि के नाम से परिचित कराया जाता है।

राजस्थानी भवाई

राजस्थान के भवाई प्राय: स्वयं को 'रावल भवाई' कहते हैं। इसका कारण यह है कि रावल शाखा के चारण अपनी साहित्यिक रचनाओं के लिए प्रख्यात हैं। 'वीकाजी' और 'वाघजी' वेश रावलों की ही पुरानी कृतियां हैं। भवाइयों के वारे में आम राय है कि इनके नाट्यरूपों का स्तर भड़ैतों की नकलों से अधिक परिष्कृत नहीं होता। 'भांडभड़ैती' की तरह इन्हें 'भवाई भांड' आम

बोलचाल में कहा भी जाता है। यह भी सच है कि भवाई अपने खेलों में इतने मुक्त हैं कि इनकी स्त्रियों को इनके खेल देखना वर्जित है। इसका एक कारण यह भी है कि घरों की स्त्रियों के समक्ष न होने से पुरुषों को अपने अभिनय में पूर्ण स्वतंत्रता रहती है।

जहां तक राजस्थान के भवाईनाट्य का सम्बन्ध है, उसमें ढोलक का बड़ा महत्व है। उस पर बजाये जानेवाले टुकड़े और परन नर्तक की चाल से विशिष्टतया सम्बन्वित होते हैं। दोनों की मिलीजुली गम्मत में सम का बराबर ध्यान रखा जाता है। मगर कब कौन, कहां सम पर आ जायगा, इसका ध्यान दोनों को ही रखना पड़ता है। "लोककला की यह अनजानी अनाघाती प्रक्रिया जो शास्त्रीय शैली के वादकों में केवल चमत्कारिक वादकों को ही प्राप्त होती है, इन लोकवादकों में पहले से ही विद्यमान है। जैसे ही ढोलकवादक ने मान चुकाया वैसे ही नर्तक भी आगे की दिशा में चल पड़ता है। नवीन चालों को उपजाता है तथा अनेक आवृत्तियों के गुंफन के साथ बीच-बीच में आने वाले मानों पर ढोलकवादक को चुकाता हुआ अग्रसर होता ही रहता है।[1] भवाई के अन्य वाद्य सारंगी, नफीरी, नगारा और मजीरा हैं।

जैसा कि आरम्भ में व्यक्त किया गया, भवाई उन लोगों की जमात है जिन्हें गाने-बजाने के कारण जाति से बहिष्कृत किया गया। जिस जाति से जो बहिष्कृत हुआ उसी जाति ने उसे आश्रय दिया। इससे बहिष्कृत करनेवाली जाति बहिष्कृत किये गये व्यक्तियों की जजमान कहलाई। इस व्यवस्था का अनुसरण अनेक जातियों के बहिष्कृत व्यक्तियों ने किया। नाच गाने को अपने गौरव के विरुद्ध समझनेवाली ठसक सामन्ती प्रभावों का परिणाम थी। भवाई जात जो कि इस प्रकार अनेक जातियों से तिरस्कृत हुए लोगों का संगठन थी, सामन्ती व्यवस्था से प्रादुर्भूत वर्गभेद का परिणाम कही जा सकती है। निम्न-

---

1. राजस्थानी भवाइयों की प्रदर्शनकला; देवीलाल सामर, लोककला, अंक १३, पृ० १५.

वर्ग के लोगों ने भी अपने भवाई बनाए । जाट, धाकड़, डांगी, भील, गूजर, लोढा, कुमावत आदि जातियों के भवाई राजस्थान मालवा में पाये जाते हैं । गुजरात में वहीवंचा, कंसारा, कांछी, कोली, घाँची, दर्जी और वागरी स्वयं भवाई करते हैं । गुजरात के भवाईवेश राजस्थान के इन भवाईयों के नृत्यनाट्यों से काफ़ी मिलते जुलते हैं सिर्फ उनके नाट्यप्रसंग अलग हैं ।

प्रमुख खेल

राजस्थान में प्रचलित भवाई के प्रमुखवेश हैं—'बोरावोरी' 'वनियों का खेल), 'सूरदास' (अन्धे और कुचरित्र साधू का खेल) 'डोकरी' (जिसमें वृद्धा अपनी लड़की का विवाह एक वृद्ध से करती है—समाज की कुप्रथा पर हास्या-त्मक व्यंग्य) 'लाड़ालाडी' (दो पत्नियोंवाले अधेड़ की दुर्दशा-बहुविवाह का कुपरिणाम), 'शंकरिया' (कालवेलिये युवक का जोगन अथवा कालवेलन से प्रेमाभिनय), 'वीकाजी' 'बाघाजी', 'इरानी', 'लोड़ीवड़ी', 'सासजमाई', 'कानगूजरी' आदि । गुजरात में यद्यपि ये खेल नहीं मिलते पर सामाजिक जीवन से सम्वन्धित कथानकों में काफी एकरूपता है ।

गुजरात में 'कजोरा', 'छैल वटाऊ', 'रामदेव सलूण' (सभी आसाइत ठाकुर की रचनाएँ बतायी जाती हैं) तथा 'झंडा झूलन' (वीसवीं शती के प्रारम्भ में मोतीराम नायक द्वारा रचित वेश) वहुत प्रसिद्ध हैं । छोटे-छोटे हास्यप्रसंगों में 'मिया वीवी', 'पठान', 'मारवाड़न', 'वावा', कंसारा', 'जोगन', 'मनियारा', 'ढेढ़' आदि उल्लेखनीय हैं । गणपतिवेश के अतिरिक्त पौराणिक आख्यानों से सम्बद्ध 'अर्द्धनारीश्वर', 'रामलक्ष्मण', 'ताड़का' 'कानगोपी', 'वहुचारजी' तथा ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित 'जसमा ओढ़न,' 'सूरो राठोर', 'राणकदेरा', 'खेंगार' और 'जयसिंह' नामक भवाईवेश असाइत ठाकुर के वर्षों वाद प्रचार में आये ।

राजस्थान का 'वोरावोरी' वेश हास्य-प्रधान व्यंग्य है । यह किसी भी स्थानीय वनिये से सम्बद्ध किया जा सकता है । मज़ा यह कि इस खेल में वनिया और उसकी पत्नी ही नहीं वाद्य वजानेवाले भी अपने स्थान से

स्थिति को ओर भी अधिक हास्यास्पद बनाने में योग देते हैं। क्योंकि वोरा अखाड़े में प्रवेश करते ही सर्वप्रथम बजैयों पर ही संवाद की विशिष्ट गद्यशैली में वार करता है। उसकी भाषा इस प्रकार होती है:— "कोई राड़ करे। कोई कज्या करे। ज्वाला की पड़ी जाजम उठावे जींपै पड़े वीजाकराड़। दूसरी वीजाकराड़ पैला उला गांव ऊँ तमाशो देखवाने आवे। कींको जोड्या रलका ले जावे। कींको कांगस्यो ले जावे। कींकी पागड़ी चोर ले जावे। कींकी धोती ले। वीं पै वीजाकराड़ पड़ै। तीजा वीजाकराड़ देव दातार को नी ले नाम। सूम, पापी, वरीगार, ठाला भूला के मूंड़े न थूंकावां तो आपने भुवाया कूण कै? खेत्यो सुनार, मन्नो पटवारी, भेड़ास को थाणेदार, भीलखेड़ी की वणजारी, अतरां के मूंड़े नें थूंके तो जीने रामजी की सोगन।"[1]

राजस्थान में बनिये के सम्बन्ध में एक और वेश है जिसमें उसकी पत्नी पठान पर आसक्त होकर उसके साथ भाग जाती है। कभी कभी 'वोरा वोरी' और 'बाणिया' दोनों वेश एक दूसरे में मिला दिये जाते हैं। 'लोड़ी बड़ी' दो पत्नियोंवाले पति की मुसीवत का इजहार है। 'कनगूजरी' में कृष्ण—गोपियों का प्रेमालाप होता है। इसमें प्रेमसुखा हँसोड़ का अभिनय करता है। प्रेमसुखा को ही अपने कपड़े पहनाकर गोपियाँ कृष्ण को छलती हैं। 'बाघजी' बाघा और भारमली का आख्यान है। भारमली इस वेश में बाघजी के प्रति मार्मिक दोहे कहती है।

बीकाजी

रावलों के खेल 'बीकाजी' को भवाइयों ने अपने खेलों में सम्मिलित करके बहुत उत्कर्ष दिया। 'बीका घोड़ों के पारखी थे। मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह (प्रथम) ने उन्हें अच्छे घोड़े खरीदने के लिए काठियावाड़ भेजा।

---

1. राजस्थान के भवाई; उद्‌भव और विकास; महेंद्र भानावत, लोककला, अंक १३, पृ० ३८.

वे बहुत उत्तम नस्ल के घोड़े लाये, जिनमें से कुछ घोड़े राणा ने उन्हें भी अपने लिए चुनने का आग्रह किया। उन्होंने घोड़े चुन लिए। बीकाजी घुड़-सवारी में निपुण थे। घुड़दौड़ के मौकों पर उनके ही चुने हुए घोड़े बाजी मारते। इससे दरबारियों ने राणा को यह विश्वास दिलाया कि बीकाजी ने अपने लिए अच्छे घोड़े पहले से ही चुन लिये थे। और यह कि उन्हें इस विश्वास-घात के प्रति देश से निकाल देना चाहिए। बीकाजी को देश से निकाल दिया गया। उनके साथ उनका नाई बुदरिया खवास, उनका चारण मोती ढाड़ी तथा उनकी प्रेमिका रतना पातर को भी निकाल दिया। कहते हैं बीकाजी कई स्थानों में गये और अंत में एक स्थान (बारां की राड़ी) में शिकार खेलने गये तो फिर नहीं लौटे।

राजस्थानी भवाई वेश की दृष्टि से यह एक उल्लेखनीय प्रेमाख्यान है। महेन्द्र भानावत ने इस कथा के प्रदर्शन का व्यौरा इस प्रकार दिया है:—

बीकाजी का अनुचर नसा सर्वप्रथम मंच पर आकर उपर्युक्त कथा बीकाजी के परिचय के रूप में साजिन्दों को सम्बोधित करता हुआ कहता है। इसके बाद बीकाजी तथा रतना पातर आते हैं। दोहों के रूप में उनके वार्तासंवाद चलते हैं और प्रेमालाप के साथ विदा लेते हैं।

कुम्भलमेर कठारगढ़ पानी अवला फेर।
जाय कीजो राणा कुम्भ ने, बसा कुम्भलमेर॥

राम–राम करो रूपजी ! म्हांको कई पूछो। म्हां को आवड़ो–नावड़ो पूछो। आवड़ो–नावड़ो श्रीदरबार को। नाम बीकड़ा हड़ाऊ को।

कुम्भलमेर से राणा कुम्भ उतरिया माथे झलरियाँ पाग।
थर थर धूजे मालवो, धूजे उजेणी रा लोग॥

बीकाजी घोड़ांरी हेड़ लेई ने चाल्या। घोड़ां री हेड़ दरबार के नज़राने कीदी। दरबार पूछना कराई। कराओ घोड़ां को मोल। के घोड़ां रा मोल मोरां सूं होवा लागा। कणी की पांच सो मोरां। कणी की सात सो मोरां। मोरां

घटगी ओर घोड़ा मोल में चढ़ग्या । होतां होतां मोत्यां सूं मोल होवा लागा । कणी घोड़ा का पांच से मोती, कणी का सात से मोती । मोती घटग्या ने घोड़ा मोल में बढ़ग्या । हीरा–पन्ना सूं मोल होवा लागा । मोलां से मोल वण्या नहीं । तांणो घोड़ा का तंग । चित्तोड़ की सीमा में नंगारो करायो । चक्करगटा पे घोड़ा फरवा लागा । श्रीजी का घोड़ा कूदे वांस पे एक वरछी । वीकाजी का घोड़ा कूदे वांस पर दो वरछी ।

आड़ा लोगां में केवे चुगलखोर । रायआंगण में केवे चाड़ीखोर । वठे चाड़ीखोर हाजिर ऊवा थका जाय । श्रीजी आगे चुगल कीदी । अन्नदाता ! घोड़ा में कीदो दगो । आछा घोड़ा फिरे जो वीकाजी रा ने दूवला-पातला श्रीजी रा ।

वीकाजी रो मान वठेई वैठग्यो । कुमान होय श्रीजी हुकम वक्ष्यो । जावो सरदारां अन्ने देस निकालो देदो । वीकाजी ने कालो घोड़ो ने कालोई सरोपाव देने रवाना करदो ।

वीकाजी भूत का मरोड़ा कर सैल लेने मोती वजार निसर्‍या । राय-आंगण में आय ने विचार कीदो-अठे फेर कद आवांगा ने कद घोड़ा कुदावांगा। के घोड़ा रे दीदी एड़ । घोड़ो कूद्यो । माथा सूं पाग डगी । रतनादे पातर झरोखे वैठी वोली-'खम्मा खम्मां वीकाजी हड़ाऊ आपरी पागने ।' चुगलखोर श्रीजी आगे चुगली कीनी । पृथ्वीनाथ ! वीकाजी ने देस निकालो दियो थको । रतनादे पातर वांने खम्मां गुदराई । दरवार कियो– 'दो लौंडी रे लात । भागा न्हाटा रज-पूत ने खम्मां कस्तर गुदराई ।' वुदरिया खवास काच में वीकाजी ने मूंडो वतायो । वांरे भी दो लात । मोती सो ढाड़ी खम्मा कीदी । वांरे भी दो लात । यां सवां ने वीकाजी रे साथ देस निकालो मल्यो । सेगड़ी पांव झको-ल्या है । मेल्या है छोंगा । हुवा है तलक । भर चोमासे भागा । वठाऊ चाल्या वीकाजी । कोस पचास पे जाय ने पाछो न्हालियो । कोई भाई, वेटो, उमराव मनावा ने आवे । देख्यो तो रतना पातर मली । वीकाजी पूछयो– 'आपने पराछत कणी वात को ?' रतना वोली–'आपरी पाग ने खम्मां कीदो

वणी को ।'

बीकाजी रतना ने साथ लेई ने चाल्या ईडर पोंच्या—

ईडर वागड़ जोधपुर, खट-दिल्ली खूमाण ।
सो अमरावां ऊपरै, घर चकवे राज चूहाण ।।

वठाऊं चाल्या राठौडां रा दरबार में ग्या—

गरड़ खगां लंक गढां, मेर पहाड़ां मोड़ ।
चन्दन वड़ा अतलोक में, राज कुलां राठोड़ ।।

वठाऊं चाल्या पुंवारां के दरबार में पूगा—

त्रण झाला त्रण पुरविया,— चूंडावत भड़ चार ।
दो सगता दो राठोड़, जामें सारंगदेव पूंवारा ।।

वठाऊं चल्या सादड़ी आया—

सादड़ीं राण सुल्तान, वेदले राण विदोत्तर ।
कोठारी फतमल्ल समर्लसिंह सलूमर ।।

वठाऊं चाल्या देवरिये आया—

देवरिये दूरां पड़े पीरा पड़े पुकार ।
वेठा कानसिंह मोहनसिंह सूरा रमें सिकार ।।
पीपा पाप न कीजिये, अलगा रहिये आप ।
जो करसी सो पावसी, कुण वेटा कुण वाप ।।
कड़ कंदोरो हाथ कामड़ी, धाती तणो वो देस।
राड़ी थोड़ी जमें घणी, आछो कांठर देस ।।

वठारा चाल्या जावरे पोंच्या—

जगत विराजे जावरे, अवछर न्हांकी नीम ।
हरीसिंघ घर उपन्या, मोटा राजा श्रीखीम ।।
एकण दसा जारो एकण दसा पन्ना कोट ।
चढ़िया राणा खीमसिंघजी हुई नंगारे चोट ।।

वठाऊं रतलाम आया—

व्रज वन्द धराड़ अजब वण्यो ।
ऊंकारो रायजादी रतलाम सेर सुण्यो॥

वठाऊं चाल्या उज्जैन गया—

उजेणी नगरी सपरा तीरथ ब्रा वांचे वेद ।
नारद मुनि सेवा करे आछा पधारो उमेद ॥

वठाऊं चाल्या मंदसोर आया—

खानपरो खरचीपरो, चन्दरपरो चकोर ।
जाजो कंथा थें मालवे, डावी मेल दसोर ॥

वठाऊं चाल्या सीतामऊ आया—

सीतामऊ सकल कीजे बाजे त्रमंगल वाजा ।
कामण्यां मोहीण्यां वसे हरीसिंघजी राजा ॥

वठाऊं चाल्या रामपुरे आया—

रामपुरो द्रगभाण को देखत भागे भूख ।
घर घर नार पदमणी, आंगण चम्पा रूँख ॥

वठेई वारां की राड़ी में वीकाजी, रतनादे पातर, वुदरियो खवास, तीनां ही सिकार खेलवा गिया जो वठेई कठे लापता वेईग्या जांरो पतोई नी लागो ।

(इतने में वीकाजी व उनकी रानी आ जाते हैं)

वीकाजी : दूंदालो दख पालणों, सदा नवाली वेस ।
सारां पेली समरजो, गवरी नंद गणेस ॥
विघन हरण मंगल करण, होत वुद्धि परकास ।
नाम लेत गणेस को होत सत्रु का नास ॥

राणी : चितौड़ तलेटी वावड़ी, राणी रतनादे पणियार ।
सूतो नगर जगावजे, झांझर के झणकार ॥

वीकाजी : हवे नगारा टांमका, हवे हस्तियां समान ।
रुले नाथ चितौड़, रंग जवानां रान ॥

राणी : हाथी वगसण हठ करण, हवे दान सनमान ।

एकवार फेर पदारजो, जोखां कर राण जवान ।।

वीकाजी : जवान राण जासी नहीं ये वातां अखियात ।
भरत खण्ड जामूं दीप में नज उदियापुर नाथ ।।

राणी : वाजण लागा वायरा, उड़न लागी खेह ।
चालण लागा सायबा, टूटण लागी नेह ।।
जाजे सजना साठ कोस, साठां पर फेर कोस असीह ।
तन फाटा मन उचर्‌या, मोल्या से प्रीत कसीह ।।

वीकाजी : भाटा सीनी वावड़ी, चूने मेली ढोल ।
वणी को पाणी कुणपीवे, जगत मेली भकोल ।

राणी : कमर कटारो वांकड़ो, दीखण को मोट्यार ।
मूं जाणूं जुग ठेरसी, उठ्यो न एकर वार ।।

वीकाजी : थोथो वड़ो जो थोर को, कांटा से भरपूर ।
जासें कपड़ो फाटसी, वांसे रहिये दूर ।।

राणी : चोली खनाऊं पाटकी, वत्तीसी बन्द लगाय ।
भला वाप की वेटी व्हेतो छतियां राख छपाय ।।

वीकाजी : छतियां छपाई ना छपे, लागे गांठ का दाम ।
ऐरा ठेरा छोड़ जव, मुख पर पड़े लगाम ।।

राणी : ओछे पाने आमली, तीखे पान खजूर ।
दूरां सूं दांत्यां करे, लाम्बी पूंछ लंगूर ।।

वीकाजी : चरत गाड़ी में चरत घणा, गंडकां भेल्यो कपास ।
भरे भादवे छाणा ने चाली, कई रांडां को विसास ।।

राणी : आप रिसालू सायवा, थोड़ीक रीस वभाय ।
मां अवला को कई मारवो, थां क्षत्री भूं गाय ।।

वीकानी : काच कटोरा नैण धन, मोती माणक मन्न ।
अतरा फूट्या ना संदे, थूं पेली राख जतन्न ।।

राणी : सूरज के सैंस करण, करण के सूरज एक ।
मां सरीखी मोकली, आप हमारे एक ।।

वीकाजी : तिरिया आगल जात, नर कोई जीत्या नहीं।
नम्यो तरलोकीनाथ, रावा आगे राजिया ॥[1]

भाषा

गुजरातीवेशों में संवाद की भाषा का स्वरूप वहुत ही मिश्रित होता है। निकटवर्ती राज्यों की भाषा के साथ चरित्र के अनुकूल शब्दों का मुक्त उपयोग ध्यान देने योग्य है। उदाहरण के लिए 'कान गोपी' वेश में राधिका अपनी मिलीजुली भाषा में इस प्रकार वोलती है—

...सुनत है सुखानन्दजी, वृन्दावन की कुंज गलन में श्रीकिसन ने रास वनाया। सोल हजार से रंगे रमिया। हमारी हुई तकरार। महाराज रीसा के चला गया है, सो हमको मिला दो।

राधिका का एक और संवाद देखिए—

...सुनत है सुखानन्दजी, हमारा नाम राधिका। ये जाम्वुवती, सतभामा रुक्मिणी हम चार आये हैं। महाराज कुब्जा में लुब्ध हो गया। अब कोई गोकुल मथुरा में जावे तो मैं चन्दनहार दे दऊँगी।

उक्त वेश में नायक सुखानन्द गुजराती में वोलता है। राधिका और गोपियाँ जो गीत गाती हैं वे सभी गुजराती में होते हैं। इसमें कृष्ण मिलीजुली हिन्दी में वोलते हैं। भाषा के प्रति भवाई करने वाले वहुत स्वच्छन्द हैं। उनके समक्ष थोथी साहित्यिकता अथवा स्थानीय भाषा के विशिष्ट आग्रह एवं उसकी विशुद्धता का लक्ष्य कभी नहीं रहा। हिन्दी के पाठकों के लिए यहां, 'जसमा-ओडण' नामक वेश का एक अंश उद्धृत किया जा रहा है—

जशमा ओडणनो वेश

(अप्सराओ हाथ मां वलती काकड़ी धरीने गीत नृत्य शुरू करे छे)

---

1. राजस्थान के भवाई : उद्‌भव और विकास, महेन्द्र भानावत, लोककला; अंक १३, पृ० ५०–५५.

तमे चालो मारी सैयरो
जल भरवाने जइए
जल भरवाने जइए
रुडा घुडुला हाथ लइए...मारी सैयरो

(थोड़ी वार नृत्य चाल्या पछी ऋषि आँख खोले छे अने अेकीट से अप्सराओ सामें जोई रहे छे। पछी स्वागत बोले छे)

ऋषि : अब ये लोग को देखकर हम प्रसन्न हो गये (प्रकाश) अब अच्छे-अच्छे राग और नाच होने दो।

(अप्सराओ गाय छे अने नाचे छे)

अप्पसरा : १

मारा जटाणा जोगी आवो रे
तमने फूलडिये वधावु रे
मरा भमराणाजोगी आवो रे
तमने चंदनीए छंटावु रे
मारा धावलियाणा आवो रे
मारा कामलियाणा आवो रे
तमने भावतां भोजन लावु रे
मारा जटाणा जोगी
भमराणाजोगी आवो रे...

ऋषि : अब दूसरा गीत गाओ। हम तुमारे गीत से परसन हैं।

अप्सरा : २

अलवेला ऋषिराज
रमवा जमवा आविया रे
जटाणा जोगीराज
क्यों थकु तमं लाविया रे
अलवेला ऋषिराज

मारा जटाणा जोगीराज ।
रमवा जमवा आविया रे

(नाच करी त्रणे अप्सराओ एक बाजू पर उभी रही छे । ऋषि उठीने दरेकना मों आगण मशाल धरी तेमने ध्यानथी जुए छे, पहेली अप्पसरा ने प्रश्न करे छे ।)

ऋषि : तेरा नाम क्या ?
अप्सरा १ : हीरापरी ।
ऋषि : ना, ना (बीजीने) तेरा नाम क्या ?
अप्सरा २ : लीलमपरी ।
ऋषि : ऊंहु (त्रीजीने) तेरा ?
अप्सरा ३ : कामकुण्डला ।
ऋषि : तेरेकु भोग देना पड़ेगा ।
अप्सरा १ : हम सब आपकी सेवा बजावेंगे, मैं गीत गाऊंगी, ये लीलमपरी ढोल बजावेगी, महाराज ।
अप्सरा २ : और कामकुण्डला नाचेगी ।
ऋषि : नहीं नहीं, ये कामकुण्डला रहेगी और तमेरा हमकु काम नहीं ।

(गाय छे अने नाचे छे)

कामकुण्डला : तमे आ शुं बोलो छो महाराज !
तपसी शुं लपसी पड़ो छो ?
तमने आवुं शोभे के मुनिराज !
तपसी शुं लपसी पड़ो छो ?
तमारी जटाना सम
ऋषिराज........तपसी शुं लपसी पड़ोछो ?

जुओ महाराज, हुं रूपाणी अेटले तमारो ने मारो मेल नहिं खाय ।
ऋषि : ओ हो, तने अेटलुं अभिमान ? जा पृथ्वी पर जन्म ले अने तारी रूपाणी

नो वर काणोकूवड़ थजो।[1]

भवाई नाटकों की भाषा में हिन्दी का पुट इस बात का प्रमाण है कि गुजरात में सर्वसाधारण व्यक्ति हिन्दी का प्रयोग शताब्दियों से करते रहे हैं। उनके लिये व्यावहारिक भाषा को समझने में तनिक भी कठिनाई अनुभव नहीं की जाती।

गुजरात के भवाई में प्रमुख संचालक, नायक से अपेक्षा की जाती है कि वह न केवल निर्देश ही करे, बल्कि छोटे प्रहसनों की रंगस्थली में एक क्रम भी प्रदान करता रहे। कहीं-कहीं भवाई के आरम्भ में नायकसहित सभी पात्र गर्वी गाते हैं। फिर नायक ही एक परिधि खींच कर अभिनय का स्थल नियत करता है। इसे 'चांचर' या 'पौढ़' कहा जाता है। वादक इसी पौढ़ में बैठते हैं और वहीं बैठकर मां अंबा की समवेत स्तुति करते हैं। मशाल जलाकर नाई अभिनय के हेतु आनेवाले पात्रों का पथ आलोकित करता है। मशाल पात्र के इतने करीब लायी जाती है कि अंधेरे में बैठे दर्शकों को चरित्र की पहचान करने में आसानी हो।

अभिनेता

गुजरात के कई भवाईअभिनेताओं के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। स्त्री का स्वांग लेनेवाले जयशंकरभोजक सुन्दरी, मूलचन्द वल्लभ, लालूभाई, प्राणसुख नायक उल्लेखनीय 'काँचलिया' माने गये हैं। मोतीराम नायक, शामलाल वल्लभ और दुर्लभराव पूरिया ने व्यावसायिक नाटक कम्पनियाँ खुल जाने के बाद भी अपना धंधा नहीं छोड़ा,जबकि इनके बहुतसे साथी नाटक कम्पनियों की नौकरी करने लगे। आजकल विट्ठलदास त्रिभुवनदास नायक (काँचलिया); विष्णुराम नायक, शंकरलाल और अमृतलाल पसारावाला भवाईक्षेत्र में चर्चित व्यक्ति हैं। एक उल्लेखनीय नाम दीना गांधी का भी है। इस महिला ने गुजराती नाटकों

---

1 गुजराती लोकसाहित्यमाला (मणको पहलो सं. १९५७); संग्राहक- सुधा बहन र. देसाई, पृष्ठ ४४१–४३.

में सर्वप्रथम भवाई का उपयोग किया। इसने १६४५ के लगभग एक लोकभवाई की रचना की और उसमें 'रंगली' नामक नये पात्र की सृष्टि की। उसने स्वयं रंगली का अभिनय किया तथा अपनी कृति में वम्वई के जीवन को बहुत ही व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया। रंगलो और रंगली दोनों पतिपत्नी एक गाँव से चलकर वम्बई में आते हैं। वम्वई में इन्हें वस कंडक्टर, चोरवाजार करनेवाला व्यापारी आदि चरित्र अलग-अलग मिलते हैं। कई वेशों में एक शृंखला इस प्रकार संयोजित की जाती है। १६५४ में दीना और सुन्दरी (जयशंकर भोजक) दोनों ने रसिकलाल पारिख के नाटक 'मैनागूजरी' का निर्देशन किया। यह रचना भी भवाई के रंग की थी।

लगभग पाँच सौ वर्षों से भवाई का प्रभाव गुजरात, राजस्थान अथवा मालवा के सीमावर्ती क्षेत्र में वना हुआ है। काठियावाड़ और कच्छ में अथवा राजस्थान के कई भागों में आज भी अनेक भवाई मंडलियाँ वेश प्रदर्शित कर अपनी जीविका चलाती हैं। राजस्थान में भवाई फिर भी अपनी विशेषताओं को स्थानीय 'ख्याल' की तुलना में अधिक उत्कर्ष नहीं दे सका। मगर गुजरात में भवाई ने अवश्य अपना वैशिष्ट्य सम्हाल कर रखा है। इतना ही नहीं उसका परोक्ष प्रभाव भी गुजराती नाटक के विकास पर पड़ा है। यद्यपि एक और अन्य प्रकार का मनोरंजन भी गुजरात में प्रचलित है जिस पर मथुरा के रासों का प्रभाव है। वैष्णवों के प्रभाव से ही उसमें राधा-कृष्ण की लीलाएँ और अम्बामाता की पूजा का प्रचलन हुआ।

१६ वीं शताब्दी के पश्चात् नवीन नाटक जो मंच पर आये उनमें अधिकांश छपे नहीं। भवाई के भाग्य में भी लिपिबद्धता पहले से ही न थी। ऐसी स्थिति में भवाई का स्पष्ट विकास अंकित किया जाना पूर्ण सम्भव नहीं है।

—

जात्रा

डॉ० आशुतोष भट्टाचार्य

वंगाल के शहर और गाँवों में सभी वर्गों के लोगों का सर्वाधिक लोकप्रिय मनोरंजन जात्रा है । अपने सारे आकर्षण के बावजूद आधुनिक थियेटर, सिनेमा और नृत्यनाट्य जात्रा का स्थान लेने में असमर्थ रहे हैं । इससे इसकी लोक-प्रियता दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है । कारण संभवतः यह है कि इसका आधार परम्परा के मूल में निहित हमारे जीवन के सतत परिवर्तनशील ढाँचे के अनुरूप अपने आपको ढाल लेने की अद्भुत क्षमता है । वंगाल में जात्रा की परम्परा लगभग एक हजार वर्ष पुरानी है जो यहाँ के जनजीवन में बहुत गहरी पैठी हुई है ।

लोकनाट्य और शास्त्रीय नाटक

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में प्रधानतः भारतीय शास्त्रीय नाटक की ही

चर्चा की है किन्तु इसमें कहीं–कहीं हमें उस समय सामान्य लोगों के बीच प्रच–लित लोकधर्मी नाटकों का उल्लेख भी देखने को मिलता है । यह निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता कि लोकनाट्य ही आगे चलकर शास्त्रीय नाटकों का रूप धारण करते हैं। यद्यपि कभी–कभी ऐसा होता भी है । ऐसा प्रतीत होता है कि भरत के समय में प्रचलित लोकनाट्य बिना किसी प्रकार के शास्त्रीय संस्कृत नाटक द्वारा प्रभावित हुए स्वतंत्र रूप से विकसित होते रहे । ईसा की लगभग दो शताब्दी पूर्व जब सिकन्दर महान् ने भारत पर आक्रमण किया तब यूनानी–नाटकों के प्रभाव से भारतीय नाटक को नवीन प्रोत्साहन मिला और अन्ततः उसने अपना शास्त्रीय स्वरूप विकसित किया ।

वैदिक साहित्य में नाट्यतत्त्व

नाटक के तत्त्व वैदिक साहित्य तक में देखे जा सकते हैं । उस समय तक उनका कोई शास्त्रीय स्वरूप विकसित नहीं हुआ था किन्तु फिर भी बंगाल और अन्य स्थानों पर मध्यकाल में जैसे लोकनाट्य प्रचलित थे उनसे इनका स्वरूप काफी मिलता है । उदाहरणार्थ जिस प्रकार के संवाद ऋग्वेद में यम और यमी तथा पुरुरवा और उर्वशी के बीच प्रयुक्त होते हैं उनसे यह किंचित् भी बोध नहीं होता कि वे आगे चलकर भारतीय शास्त्रीय नाटक के रूप में विकसित हुए । किन्तु फ़िर भी यह सत्य है कि कालिदास ने पुरुरवा और उर्वशी के संवादों में प्रयुक्त कलेवर का उपयोग अपने नाटकों में किया था ।

लोकनाट्य–परम्परा

लोकनाट्य का विकास पूर्णतः स्वतंत्ररूप से हुआ । शास्त्रीय नाटक ने न तो इसे किसी भाँति प्रभावित किया और न ही वह इसे अपने में मिला सका अथवा इसका स्थान ले सका । जिस समय शास्त्रीय नाटक का विकास अपने चर्मोत्कर्ष पर था उस समय भी भारत के विभिन्न भागों में लोकनाट्य सामान्यवर्ग के लोगों के बीच अपनी स्वतंत्र भूमिका निभा रहा था । वस्तुतः संस्कृत जैसी भाषा में, जो किसी भी काल में इस देश में किसी क्षेत्र की भाषा नहीं रही, भारतीय शास्त्रीय नाटक कालिदास और भवभूति जैसे विद्वान नाटक-

कारों द्वारा लिखा जाकर भी एक छोटे वर्ग तक ही सीमित रह गया। कला का व्यवहृत रूप होने के बजाय इसका स्वरूप परम्परागत शैली में लिखित साहित्य का ही रहा। किन्तु जिस लोकनाट्य का उद्‌भव मानव संस्कृति की किसी अत्यंत आदिम अवस्था में किसी जादूटोने में विश्वास अथवा किसी धार्मिक उत्सव के आयोजन के फलस्वरूप हुआ था उसकी लोकप्रियता अशिक्षितवर्ग में बराबर बनी ही रही। वैसे कई प्रकार के सामाजिक ऐतिहासिक कारणों से भारत के विभिन्न भागों में इन्होंने अपने स्वतंत्र गुण विकसित कर लिए।

कार्यपद में वर्णित नाट्यरूप

बंगाली भाषा के प्राचीनतम नमूनों में, जिन्हें कुछ विद्वानों ने सातवीं तथा नवीं शताब्दी के मध्य के तथा कुछ ने नवीं और बारहवीं शताब्दी के मध्य के बताए हैं, नाटक के जो सूत्र मिलते हैं उनका रूप अवश्य ही लोकनाट्य का रहा होगा। 'कार्यपद' नामक ग्रन्थ में, जिसमें बुद्धधर्म की महायान शाखा के एक लुप्त होते हुए वर्ग द्वारा लिखित कुछ रहस्यात्मक गीत हैं, हम एक 'बुद्ध नाटक' का वर्णन पाते हैं। हमें यह ज्ञात नहीं कि इस नाटक के प्रदर्शन की वास्तविक प्रक्रिया कैसी रही होगी। किन्तु इस अवसर पर प्रयुक्त होनेवाले कुछ वाद्ययंत्रों के वर्णन से यह स्पष्ट होजाता है कि यह एक प्रकार का संगीत नाटक था। इसमें अभिनय के साथ-साथ नृत्य व संगीत चलता था। इसके बाद के बंगाली लोकनाट्य के गुण और स्वरूप का अध्ययन कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कार्यपद में वर्णित नाटक का स्वरूप भी लगभग उनके जैसा ही था। इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारे यहां सातवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच लोकनाट्य का एक निश्चित स्वरूप निर्धारित हो चुका था।

गीतगोविन्द : एक संगीतरूपक

बारहवीं सदी में बंगाल के अन्तिम हिन्दू राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि जयदेव द्वारा एक अन्य महत्वपूर्ण कृति 'गीतगोविन्द' की रचना की गई। यह रचना संस्कृत में है, किन्तु विद्वानों का ऐसा मत है कि मूलतः यह वहां की तत्कालीन बोलचाल की भाषा में लिखी गई थी। परन्तु चूंकि उस समय

राज्याश्रय केवल संस्कृत को ही प्राप्त था, अतः आगे चलकर संभवतः इसका अनुवाद संस्कृत में कर दिया गया। यह रचना संस्कृत की रूढ़ शैली में लिखी प्रतीत नहीं होती। इसका सम्पूर्ण स्वरूप संगीत–नाटकमय है। इसका अभिनय संगीत व नृत्य के साथ किया जाता था जो आज भी बंगाली लोक–नाट्य के मुख्य तत्त्व माने जाते हैं।

'गीतगोविन्द' के संवाद अत्यंत साधारण शैली में लिखे हुए हैं जो सांगीतिक अथवा गीतिकाव्य से लगते हैं। अपने इस गुण में वे कालिदास की संस्कृत शैली से सर्वथा भिन्न हैं। बीच–बीच में संगीत की गतों अथवा गीतों के व्यवधान से इसके कथानक में काफी बिखराव आगया है। उन्नीसवीं शताब्दी तक बंगाली लोकनाट्य की ये ही प्रमुख विशेषताएं थीं। यद्यपि 'कार्यपद' में हमें लोकनाट्य का केवल परोक्ष वर्णन ही मिलता है किन्तु 'गीतगोविन्द' में हमें इसका निश्चित व मूर्तरूप परिलक्षित होता है। इसके बाद के बंगाली लोकनाट्य के साहित्यिक प्रमाण बराबर मिल जाते हैं।

धार्मिक मोड़

'गीतगोविन्द' की सांगीतिक परम्परा के आधार पर लगभग दो शताब्दी बाद पूर्व मध्यकाल की एक महत्त्वपूर्ण बंगाली कृति और है जिसके प्रणेता कवि चण्डीदास थे। 'श्रीकृष्ण कीर्तन' नामक यह रचना लोक स्वरूप के अधिक निकट है। यद्यपि इसमें श्रीमद्‌भागवत (और बहुत अंशों में महाभारत) के नायक श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है किन्तु फिर भी जिन कथाओं को इसका आधार बताया गया है वे रूढ़ हिन्दू–कथाएँ न होकर केवल जन–सामान्य में प्रचलित कथाएँ हैं। इस रचना का सम्पूर्ण कलेवर केवल तीन पात्रों; कृष्ण, उनकी प्रिया राधा और एक कुटनी जिसका नाम वदाई है, के संवादों के रूप में है। श्रीकृष्ण कीर्तन लिखे जाने के एक शताब्दी के भीतर ही बंगाल में चैतन्य का प्रादुर्भाव हुआ जो बंगाली वैष्णव धर्म के प्रणेता थे और जिन्होंने अपने मुख्य आराध्य राधा व कृष्ण का नाम न केवल बंगाल के चारों कोनों तक वरन उसकी सीमाओं के पार भी बहुत दूर–दूर तक फैलाया।

समस्त बंगाल के सामाजिक जीवन पर चैतन्य के नवीन धार्मिक उपदेशों का व्यापक प्रभाव पड़ा। इस काल में लोकनाट्य ने भी इस दिशा में कम महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया क्योंकि उस समय इसका मुख्य कथानक केवल राधा और कृष्ण की लीलाएं ही थीं। चैतन्य के ही एक शिष्य द्वारा लिखित उनके एक जीवनवृत्त में पर्याप्त विस्तार के साथ इस बात का मनोरंजक वर्णन मिलता है कि किस प्रकार एक बार स्वयं उन्होंने एक लोकनाटक में अभिनय किया। यह घटना १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की है जबकि चैतन्य ने संयास नहीं लिया था। इस नाटक में स्वयं चैतन्य ने श्रीकृष्ण की अनुरागिनी भार्या रुक्मिणी की भूमिका अदा की जबकि उनके शिष्यों ने उनकी आयु व उनके रूप की उपयुक्तता के अनुसार विभिन्न पुरुष अथवा नारी पात्रों का अभिनय किया। बंगाल में लोकनाट्य के प्रदर्शन का यह प्रथम साहित्यिक प्रमाण है। यद्यपि सही रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार का अभिनय किस नाम से लोकजीवन में प्रचलित रहा होगा परन्तु अनुमान के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि शायद कृष्ण–कथा–गाथा पर आधारित होने के कारण 'कृष्ण यात्रा' के नाम से इसका प्रचलन रहा हो।

जात्रा : उत्पत्ति और अर्थ

'जात्रा' शब्द की उत्पत्ति के संबंध में कोई यथेष्ट प्रमाण नहीं मिलते। कुछ लोग इसकी उत्पत्ति संस्कृत से मानते हैं। अठारहवीं शताब्दी से ही 'जात्रा' शब्द का प्रयोग लोकनाट्य के अर्थ में होता रहा है। इस युग में कुछ सामाजिक उत्सवों पर संगीत के साथ एक विशिष्ट प्रकार का नृत्य किया जाता था जो 'नाटगीत' के नाम से प्रचलित था। 'नाटगीत' का शाब्दिक अर्थ नृत्य व गीत होता है। किन्तु 'कृष्णयात्रा' में हमें सिर्फ गीत ही मिलते हैं, नृत्य नहीं। इसलिए ऐसा लगता है कि मध्ययुगीन बंगाल का 'नाटगीत' एक दूसरे ही प्रकार का लोकनाट्य था जो अन्ततः या तो 'कृष्णयात्रा' के साथ एकाकार होकर लुप्त होगया अथवा किसी दूसरे ही रूप में केवल लौकिक परम्परा के तौर पर ही जीवित रहा।

विषयवस्तु

यह सही है कि बंगाली वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसार के बाद से बंगाली लोकनाट्य के कथानक केवल राधा और कृष्ण की कथाएँ ही रह गईं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल से बंगाल के जनजीवन पर वैष्णवधर्म का प्रभाव क्षीण होने लगा और कृष्णकथाओं के अतिरिक्त अन्य पौराणिक, लौकिक व रूढ़िमुक्त विषय भी 'जात्रा' के अंग बनने लगे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही हमें महाभारत के एक आख्यान पर आधारित 'नलदमयंती जात्रा' मिल जाती है जिसका कृष्ण व राधा की कथा से कोई संबंध नहीं है। इसी समय एक अन्य लोकनाटक की भी रचना हुई जिसका नाम 'विद्यासुन्दर जात्रा' था। यह न केवल कृष्णकथा से सर्वथा स्वतंत्र था, अपितु सभी अर्थों में पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष भी था। यह एक शास्त्रवर्जित प्रेम-प्रसंग पर आधारित नाटक था और किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक अथवा धार्मिक भक्ति की भावना से शून्य था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से बंगाली 'जात्रा' का प्रवाह धार्मिकता से हटकर लौकिक हो गया। साम्प्रदायिक अवरोध के हटते ही 'जात्रा' अपने स्वरूप, तकनीक और कथानक की दृष्टि से पूर्णतः स्वतंत्र हो गई। अब तो इसमें कई प्रकार के विषयों का समावेश हो गया है।

कथानक

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में तत्कालीन लोगों द्वारा कुछ सामाजिक सुधारों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी और इस हेतु प्राचीन हिन्दू आदर्शों के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया गया। 'जात्रा' ने भी इस अवसर का लाभ उठा पौराणिक कथाओं से कथानक लेकर रूढ़िवादी हिन्दू आदर्शों का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। उसी समय इस देश में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार हुआ और अनेक बंगाली लेखकों द्वारा शेक्सपीयर के दुःखान्त नाटकों की नकल पर वैसे ही दुःखान्त नाटक लिखे गए। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से पूर्व 'जात्रा' में दुःखान्त नाटकों का प्रवेश नहीं हुआ था। हर कथानक का अन्त सुखमय होता था। किन्तु इस समय से 'जात्रा' के कथानक दुःखान्त भी होने लगे। यद्यपि प्रारम्भ

में जात्राप्रेमियों ने इस परिवर्तन का विरोध किया किन्तु थोड़े ही वर्षों में अंग्रेजी शिक्षा के और अधिक प्रसार के साथ-साथ इस नए तत्त्व को भी पचाकर अपना लिया गया।

पौराणिक प्रसंग

इसी काल में भारत के दो प्रसिद्ध महाकाव्यों 'रामायण' व 'महाभारत' तथा कुछ दूसरे छोटे—बड़े पुराणों की कथा पर आधारित एक नई प्रकार की जात्रा का प्रादुर्भाव हुआ जिसे 'पौराणिक जात्रा' कहा जाता था। सन् अठारह सौ बहत्तर में कलकत्ता में एक लोकमंच की स्थापना हुई। इस समय जीवन के उच्च नैतिक व आत्मिक मूल्यों का ज्ञान कराने वाले पौराणिक नाटकों की बड़ी मांग थी और कलकत्ता में ये अक्सर खेले जाते थे। तत्कालीन 'जात्राएँ' साधारणतः कलकत्ता मंच से ही प्रेरणा लेती थीं। अतएव जब वहां पौराणिक नाटक खेले जा रहे थे तब इन 'जात्राओं' ने चल—थियेटर की भूमिका के रूप में वैसे ही कथानकों को आधार बनाना प्रारम्भ कर दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'जात्रा' द्वारा प्रचारित विचारों ने बंगाल के लोगों पर, खास तौर पर ग्रामीण क्षेत्र में बसने वालों पर; व्यापक प्रभाव डाला। परम्परागत शैली के सारे वर्णनात्मक गीत और संगीत 'जात्रा' की तकनीक और शैली के प्रभाव क्षेत्र में आ गये। परिणाम स्वरूप 'रामायण' की पुरातन कथा ने भी बहुत हद तक एक 'जात्रा' का रूप ले लिया और इसे 'राम जात्रा' कहा जाने लगा। दूसरी प्राचीन कथाओं के स्वरूप में भी इसी प्रकार का परिवर्तन हुआ जिसके फलस्वरूप हमें 'चण्डी-जात्रा' के दर्शन होते हैं जो सुप्रसिद्ध देवी चण्डी के कथानक पर आधारित लोकनाट्य है। इसी प्रकार की एक अन्य यात्रा 'भाशान जात्रा' है जो सर्पों की देवी मानसा की कथा पर आधारित है। 'भाशान' का अर्थ बंगाली में नदी के प्रवाह के साथ बहना होता है और चूंकि मानसा की कथा में लखिन्दर की देह के साथ नायिका बेहुला के बहने का वर्णन है, अतः इसे 'भाशान—जात्रा' कहा जाता है।

प्रथमजात्रा

प्रारम्भिक काल की 'कृष्ण जात्रा' का मुख्य गुण यह था कि इसमें किसी

भी प्रकार के नृत्य अथवा गद्य–संवाद नहीं होते थे किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में जब जात्रा ने अपना स्वतंत्र व धर्मनिरपेक्ष रूप विकसित कर लिया तब इसमें नृत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया तथा तत्कालीन नाटक के अनुकरण पर इसमें गद्य अथवा अतुकान्त छन्द में लिखे गए संवाद भी स्थान पाने लगे। 'विद्यासुन्दर जात्रा' जिसका रचनाभिनय उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में हुआ, बंगाल की प्रथम 'जात्रा' थी जिसमें नृत्य का बड़े पैमाने पर उपयोग हुआ था। इसका कथानक जो कि रूढ़िगत किस्म का था, इस 'जात्रा' की पृष्ठभूमि में अस्पष्ट सा ही बना रहता था जब कि पूरा नाटक ऐसे कई नृत्यों व गीतों से भरा था जिनका मूल कथानक से बड़ा क्षीण संबंध था। जात्रा का यह प्रकार बिना धार्मिक व जातीय भेदभाव के हजारों की संख्या में दर्शकों को आकर्षित करने की क्षमता रखता था। इस तकनीक का उपयोग अन्य पौराणिक विषयों में भी किया जाने लगा। इस प्रकार पौराणिक जात्राओं में भी बड़े पैमाने पर नृत्य व गीतों का प्रयोग प्रारंभ हुआ। इन जात्राओं में इन गीतों व नृत्यों का प्रदर्शन आवश्यक रूप से पौराणिक पात्रों के माध्यम से ही न होकर कई बार ऐसे पात्रों द्वारा भी होता था जिनका उस पुराण कथा से काफी दूर का संबंध होता था अथवा कभी–कभी बिलकुल संबंध नहीं होता था।

देशभक्तिपूर्ण कथानक

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में बंगाल में एक प्रबल राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म हुआ जिससे इन बंगाली जात्राओं ने भी प्रेरणा ली। इस दौरान ब्रिटिश दासता के विरुद्ध संघर्ष में सैकड़ों लोगों ने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया। इस संघर्ष को चित्रित करने के लिए तथा इसमें जुटे हुए नर-नारियों के बलिदान का महत्व दर्शाने के लिए 'जात्रा' ने भारतवर्ष के मध्ययुग के इतिहास में उप–युक्त पात्रों व घटनाओं को ढूंढना प्रारंभ किया। मध्यकाल में राजपूतों ने मुगल साम्राज्यवाद का डटकर मुकाबला किया था। इस ऐतिहासिक सत्य ने देशवासियों के बलिदान का महत्व समझाने के लिए पर्याप्त सामग्री देदी। तत्कालीन 'जात्रा' और बंगाली नाटक ने इस घटना का उपयोग देशभक्ति के

ठोस उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए किया । इसके बाद कुछ समय तक बंगाली 'जात्राएँ' देशभक्तिपूर्ण विषयों पर ही लिखी जाती रहीं और उनका यह रूप 'स्वदेशी जात्रा' कहलाया । बीच में एक ऐसा समय भी आया जब इन्होंने ब्रिटिश विरोधी विचारों का तीव्र प्रचार प्रारंभ किया । परिणामस्वरूप इनके प्रदर्शनों पर सरकार द्वारा रोक लगादी गई । सरकारी विरोध के बावजूद इस समय कुछ दल ग्रामीण क्षेत्रों में इन 'जात्राओं' का प्रदर्शन करते फिरते थे । इन दलों ने बंगाल की अशिक्षित जनता में राष्ट्रीय भावना का प्रसार करने में महत्वपूर्ण योग दिया ।

'स्वदेशी जात्रा' के प्रमुख लेखक मुकुन्ददास थे जो ग्रामीण क्षेत्रों में राष्ट्रीय भावनाओं पर आधारित जात्राओं की रचना व उनका प्रदर्शन किया करते थे । प्रेरणादायक संवादों और संगीत के कारण ये 'जात्राएँ' बंगाल के सभी वर्गों में अत्यधिक लोकप्रिय होगईं ।

स्वदेशी आन्दोलन

राष्ट्रीय अथवा 'स्वदेशी जात्रा' अधिक समय तक जीवित नहीं रही क्योंकि उन्नीस सौ पाँच में लार्ड कर्जन द्वारा विभाजित बंगाल के एकीकरण के जिस उद्देश्य को लेकर राष्ट्रीय आन्दोलन की शुरुआत हुई थी उसकी पूर्ति स्वतः ही जनता के दबाव से ही हो गई जिसके फलस्वरूप यह आन्दोलन भी समाप्त हो गया । किन्तु अब अगला कदम देश की ब्रिटिशदासता से मुक्ति था और इस उद्देश्य को लेकर एक अधिक व्यापक आन्दोलन छेड़ने की तैयारियां चल रही थीं। अतः स्वदेशी जात्रा का एकदम अन्त नहीं हो गया अपितु इसने केवल अपना मोर्चा बदल लिया । इस समय तक भारत के महान् राष्ट्रीय नेता गांधी ने अपना असहयोग आन्दोलन छेड़ दिया था और इससे बंगाली 'जात्राओं' को नई प्रेरणा मिली । भारतीय इतिहास और गाथाओं में वर्णित विभिन्न प्रान्तों की सहायता से देश के खातिर त्याग करने और दुःख झेलनेवाले वीरों का दिग्दर्शन कराया गया और उच्चादर्शों से युक्त एक नए ही प्रकार की 'जात्रा' का इस युग में जन्म हुआ । किन्तु यह स्मरण रखा जाना चाहिये कि इस समय तक बंगाली

नाटक अपने साहित्य और कलकत्ता थियेटर की सहायता से काफी आगे निकल चुका था। तत्कालीन 'जात्रा' भी इस प्रगति से सर्वथा मुक्त नहीं रह सकी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि बंगाली नाटक के मंचीय प्रदर्शनों के बीच 'जात्रा' के अस्तित्व का सर्वथा लोप हो जायगा। किन्तु 'जात्रा' के कुछ ऐसे विशिष्ट गुण थे जिनका तत्कालीन मंच के आगे पूर्णतः परित्याग नहीं किया जा सका। अतएव नाटक का व्यापक प्रभाव पड़ने पर भी इसका स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहा और बहुत कुछ अंशों में इसकी विशेषताएँ यथावत बनी रहीं।

सामाजिक परिवेश

इसी बीच देश के सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन होने लगा। महात्मागांधी के अस्पृश्यता निवारण तथा जातिप्रथा के निराकरण संबंधी उपदेशों ने लगभग पूरे भारत के सामाजिक जीवन को बदलना प्रारंभ कर दिया। बंगाल के जनजीवन का यह पहलू भी इस काल की 'जात्राओं' में स्थान पा गया। एक नई किस्म की 'जात्रा' जिसे सामाजिक 'जात्रा' कहा जा सकता है, इस समय रची व खेली गई। पुराण, इतिहास अथवा प्राचीन गाथाओं के बजाय अब 'जात्रा' के कथानक जन सामान्य के जीवन पर आधारित होने लगे।

स्वतंत्रता प्राप्ति और उसके फलस्वरूप सन् उन्नीस सौ सैंतालीस में बंगाल के विभाजन के बाद व्यावसायिक 'जात्रा' दलों को उनकी आय में कमी के कारण भारी धक्का सहना पड़ा। अधिकांश पेशेवर दलों के मुख्यावास कलकत्ता में होते हुए भी उनका मुख्य कार्यक्षेत्र पूर्वी बंगाल था। पश्चिम बंगाल में हिन्दुओं के आगमन से तथा उसके बाद बंगाल के दो भागों के बीच राजनैतिक दीवार खड़ी होजाने से पूर्वी बंगाल में इन 'जात्रा' दलों का व्यावसायिक भविष्य सदा के लिए समाप्त होगया। एक समय ऐसा लगने लगा था कि बंगाल के सांस्कृतिक जीवन से जात्रा अब सदा के लिए विदा हो जायगी। किन्तु जात्रा में जैसी जीवन शक्ति और परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लेने की क्षमता है वैसी अवसर अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। इन दो गुणों की सहा–

यता से 'जात्रा' इस संकट के दौरे में से भी उभर सकने में सफल हो सकी। कुछ ही वर्षों में यह न केवल पुनः प्रतिष्ठित हो गई है अपितु इसके जीवन में एक नवीन युग का आरम्भ हुआ है। आज इसने बंगाल में जैसा स्थान बना लिया है वैसा यह अपने एक हजार वर्ष के जीवनकाल में भी पहले कभी नहीं बना सकी थी।

आधुनिक जात्रा

थियेटर और सिनेमा के दोहरे अभ्याघातों के बीच अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए आधुनिक 'जात्रा' ने अपना स्वरूप और अपने विचार बहुत हद तक बदल दिये हैं किन्तु इसने अपने उन महत्वपूर्ण तत्त्वों को नहीं छोड़ा है जो एक 'जात्रा' को वास्तविक 'जात्रा' बनाते हैं। आज भी 'जात्रा' खुले आकाश के तले किया जाने वाला प्रदर्शन है जिसके लिये किसी प्रकार के मंच अलंकरण की आवश्यकता नहीं होती। अपने इस गुण के कारण 'जात्रा' के किसी दल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में कोई कठिनाई नहीं होती। अब 'जात्रा' ने धार्मिक और ऐतिहासिक कथानकों को छोड़ कर लौकिक, सामाजिक और रुमानी कथानकों को अपना लिया है। आधुनिक राजनैतिक विचार, खास तौर से वे विचार जो समाजवादी सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं, अब 'जात्रा' में स्थान पाने लगे हैं। 'हिटलर' जैसे विषय पर आधारित एक 'जात्रा' जिसकी रचना प्रसिद्ध विदेशी फिल्म 'बर्लिन का पतन' के नमूने पर की गई है और जिसका अभिनय एक पेशेवर दल प्रशंसनीय ढंग से करता है, देहाती क्षेत्रों में भी हजारों की संख्या में दर्शकों को आकर्षित कर रही है। हमें यह स्वीकार करना होगा कि शिक्षा के प्रसार और देश के कोने कोने में शिक्षासंस्थाओं की स्थापना के साथ साथ दर्शकों की कोटि में भी सुधार हुआ है और अब स्वाभाविक रूप से उनके समक्ष किए जानेवाले प्रदर्शनों में अयुक्तिक कथानक स्थान नहीं पा सकते।

अभिनेत्रियों का प्रवेश

आधुनिक जात्रा' के प्रदर्शन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन उनमें अभिनेत्रियों के प्रवेश से हुआ है। प्रारंभ में सभी स्त्री पात्रों का अभिनय पुरुषों को ही करना

ख्याल

डा० महेन्द्र मानावत

राजस्थानी लोकनाट्यों का एक प्रकार ख्याल नाम से जाना जाता है। इनकी गणना मंचीय नाट्यों में की जाती है। इनका इतिहास दोसौ–ढाईसौ वर्ष पुराना है।[1]

---

1. (क) सत्रहवीं शताब्दी में आगरा के निकट ख्यालों की एक लोकधर्मी परम्परा शुरु हुई जिसका दायरा केवल काव्य-रचना तथा किसी ऐतिहासिक तथा पौराणिक व्यक्ति से सम्बन्धित काव्य-रचना की प्रतियोगिता तक ही सीमित था। यही परम्परा प्रथमवार १८वीं शताब्दी में राजस्थान के रंगमंचीय ख्यालों के रूप में परिवर्तित हुई जो आज अनेक रूपों में राजस्थान के जनजीवन को आल्हादित कर रही है। यह 'ख्याल'

नौटंकी : नक्काड़ावादन

होना था । यद्यपि यह अस्वाभाविक लगता था किन्तु इसके कुछ लाभ भी थे। 'जात्रा' का प्रदर्शन बड़ी संख्या में इकट्ठे हुए दर्शकों के सम्मुख होता है जो मंच के चारों ओर बैठे रहते हैं । ऐसी स्थिति में मंच के आखिरी छोर तक पहुँचाने के लिए काफी तेज आवाज की आवश्यकता होती है । स्वभावतः स्त्रियों की आवाज इस उद्देश्य में सफल नहीं हो पाती । पर अन्य बातों को ध्यान में रखकर अधिकांश व्यावसायिक दलों ने इस नई प्रथा को अपना लिया है । कुछ ऐसे रूढ़िवादी दल अब भी हैं जो नारी पात्रों को भी पुरुषों द्वारा अभिनीत करवाते हैं किन्तु इससे उनकी सफलता में कोई अन्तर नहीं आता ।

एकल गीत नृत्यों का अभाव

आधुनिक 'जात्रा' में दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन यह आया है कि इसने एकल अथवा समूह गीतों की संख्या कम से कम करदी है । पहले गीत ही जात्रा के प्रमुख आकर्षण थे । युग की बदलती हुई रुचियों के साथ-साथ 'जूरी' नाम के समूह गीतों को अब इनमें पूरी तरह बन्द कर दिया गया है । आधुनिक 'जात्रा' में किसी अमूर्तभाव को अभिव्यक्त करनेवाले कुछ एकलगान अब किसी पारम्परिक पात्र द्वारा ही गाए जाते हैं । थियेटरों की नकल पर गाये जानेवाले गीतों का स्थान गद्य अथवा अतुकांत छन्दों में कहे जानेवाले संवादों ने ले लिया है । इसी प्रकार 'सखियों' के समूहनृत्यों के स्थान पर अब अकेले अभिनेताओं के 'प्राच्यनृत्य' आ गये हैं । देशी व विदेशी वाद्य-यन्त्रों से युक्त वाद्य-वृन्द अब भी परम्परागत किस्म का है किन्तु सामूहिक वाद्य-संगीत का कार्य भी आधुनिक समय में बदल चुका है । अपने परम्परागत कार्य के अलावा अब इसका उपयोग आधुनिक थियेटरों की भांति सांगीतिक अथवा ध्वनि-प्रभाव उत्पन्न करने के लिये भी किया जाने लगा है ।

विविध विषयों का समावेश

अब जात्रा में कई प्रकार के विषयों का समावेश होने लगा है। पौराणिक अथवा ऐतिहासिक की अपेक्षा राजनैतिक अथवा शैक्षणिक महत्त्व के कथानक अधिक पसंद किये जाते हैं । अभी हाल ही में गत शताब्दी के महान् समाज

सुधारक विद्यासागर के जीवन पर आधारित एक कथानक ने काफी ख्याति अर्जित की है। उन्नीसवीं सदी के महाकवि माइकल मधुसूदनदत्त का जीवनवृत्त भी बड़ी संख्या में दर्शकों को आकर्षित कर रहा है। जैसा मैंने ऊपर उल्लेख किया है, हिटलर के अन्तिम दिनों पर आधारित एक कथानक भी देहातों में काफी लोकप्रिय होरहा है। आजकल सबसे अधिक पसन्द किये जानेवाले कथानकों के दो प्रकार; रुमानी और सामाजिक—राजनैतिक हैं।

—

रासलीला : मनसुखा की माखनचोरी

यहाँ के ख्याल खेल, ख्याल, तमासा, सांग, स्वांग, संगीत, नौटंकी, माच, रमत, रम्मत, रामत, रासधारी आदि अनेक रूप में प्रसिद्ध रहे हैं ।

ख्याल, खेल, तमाशा आदि ख्यालों के नाम हैं । ख्यालों को खेल–तमाशे अथवा ख्याल–तमाशे भी कहते हैं । ख्याल पुस्तकों का नामकरण भी इन्हीं के आधार पर मिलता है । यथा—

(क) ख्याल वीरमसिंह नौटंकी का (चुन्नीलाल), विक्रमराजा और चन्द्रकला का ख्याल (उजीरा तेली).

(ख) खेल राजा केशरसिंह और रानी फूँलादे (पं० शेषदास), मूमल म्हृदरे का खेल (तेज कवि).

(ग) ये विक्रम को नयो तमासो पीरू सोनी कथ कर गाया ।

— (विक्रम और राजा चन्द्रकला का ख्याल; उजीरा तेली, पृ० १)

सांग, स्वांग, संगीत, सांगीत आदि नौटंकी के विविध नाम हैं । कहीं-कहीं नौटंकी के ख्याल को 'नौटंकी का स्वांग' भी कहते हैं । यथा—

(क) संगीत नौटंकी शहजादी उर्फ अय्यारा औरत; (पं० नत्थाराम शर्मा)

(ख) त्वं पद पंकज राखि उर, करूं स्वांग प्रारम्भ

(ग) दास गणेश चिरंजी तो नौटंकी स्वांग बनावें, (वही, पृ० १)

———————

सर्वप्रथम कल्पना और विचारों से उत्पन्न कवित्व रचना का ही दूसरा नाम था परन्तु जब से वह रंगमंच पर खेल तमाशे का रूप धारण करने लगा, यह खेल या ख्याल कहलाया ।

— राजस्थान के ख्याल; देवीलाल सामर, नटरंग, वर्ष १, अंक ३, पृ० ७३ ।

(ख) जनसाधारण में जो मध्यकाल में रास, चर्चरि, फागु आदि रमे व खेले जाते थे, वेही पीछे से रमत, रामत, खेल, ख्याल के रूप में प्रकटित हुए ।

-ख्यालों की पूर्व परम्परा; अगरचन्द नाहटा, लोककला, भाग १, अंक २, पृ० ६४ ।

मंचप्रधान ख्यालों को माच के ख्याल कहते हैं। इन ख्यालों के मंच अपनी कलात्मक आकर्षक सज्जा, विशेष मंचीय बनावट तथा अट्टालीनुमा झरोखों के लिए प्रसिद्ध हैं। राजस्थान में, माच के ख्यालों में, तुर्राकलंगी के ख्याल ही अधिक प्रचलित रहे हैं। जैसलमेर तथा बीकानेर की ओर ख्यालों को **रमत, रम्मत** अथवा **रामत** कहते हैं। मेवाड़ की ओर ख्यालों को **रासधारी** भी कहते हैं। ख्यालों का एक नाम **टप्पा** भी पढ़ने को मिलता है।

प्रकाशित ख्याल-पुस्तकों में इन ख्यालों के नाटिक, ब्यावला, निसानी, लीला, मासिया, लावणी, रसिया, कथा, कीर्तन, शिलोका, धमाल, बहार, चरित्र आदि नाम भी पाये जाते हैं।[2] मंच, वाद्य, कथावाचन, अभिनय, समया

---

2. (क) नाटिक– बालासिसु विवाह नाटिक; शिवकरण रामरतन दरक, प्रकाशक कासीराम बुकसेलर, भीलवाड़ा, सं० १९७०।
   (ख) ब्यावला– रामदेवजी का ब्यावला; (शिवदयाल)।
   (ग) निसानी– नाथूलाल गोविंद को चेलो नल की कहै निसानी।
   —ख्याल राजा नल का; नाथूलाल राणा, प्रका० बाबू कन्हैयालाल बुकसेलर, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर पृ० २।
   (घ) लीला– नानूलाल चिड़ावे वालो नललीला कथ गाई। वही, पृ० ८८।
   (च) मासिया– ख्याल बारहमासिया।
   (छ) लावणी– बारह मासिया की लावणी, लावणी पंचरत्न।
   (ज) रसिया– ब्रज के रसिया, रास विहारी के रसिया।
   (झ) कथा– श्रीरामदेव लीलामृत कथा (लच्छीराम)।
   (ट) कीर्तन– श्री केला कीर्तन (बंशीलाल)।

आदि के अनुसार भी ये ख्याल विशेष सरणियों में विभक्त हुए और होते-होते इनकी कई रंग-शैलियाँ बन गईं। यथा—

(क) मंच के अनुसार-जैसे माच के खेल। ये प्राय: मन्दिर के पास होते हैं। मन्दिर पर चढ़कर सूत्रधार स्तुतिपरक छंद गाता है जिसे अभिनेता मंच पर खड़े दुहराते हैं। इनका प्रचलन झालावाड़ की ओर खूब रहा है। ये वीर, प्रेम और भक्ति परक होते हैं। वीररस के माच में कामरैन का राजा हमीर, प्रेम के अन्तर्गत पचफूला, आभलदे खेमजी, मूनारानी, सदावृक्ष सारंगा, ढोलामारवरण, हीर रांझा तथा भक्तिरस में मोरध्वज, प्रहलाद, रामायण, धनुपयज्ञ, गेंदलीला, नागलीला आदि के माच उल्लेखनीय हैं।

(ख) वाद्य के अनुसार-जैसे कड़ा शैली के ख्याल। वीररस से पूर्ण शैली, जिसमें एक व्यक्ति किसी लोककथा का गायन करता है और पूरा समूह उसकी प्रमुख पंक्तियां दुहराता है। टेक झेलने के लिए नगाड़ों की किड़किड़ाहट देखते ही बनती है। इसी किड़किड़ाहट से नाट्यों की यह शैली आगे जाकर 'कड़ा' नाम धरपाई। यह नौटंकी से बिल्कुल भिन्न होता है। पृथ्वीराज वीर की कथा इस शैली का प्रसिद्ध नाटच है।

(ग) कथावाचन में अकेला कथावाचक अनेक पात्रों की रचना करता है। यह रचना वचन, भावभंगिमा तथा मुद्राओं के विविध रूप लिये होती है। वाचन टुकड़े-टुकड़े करके होता है। इसी कथावाचन की शैली पर संवादात्मक प्रमकथाओं और वीरागाथाओं के रूप में देवनारायण, रामदेव, ढोलामरवण, रतना

(ठ) शिलोका-तेजाजी का शिलोका (पुनमचन्द सिखवाल)।

(ड) धमाल- होली की धमाल (जगदम्बालाल)।

(ढ) वहार- हिंडोला वहार (जयदयालु वर्मा)।

(त) चरित्र- ख्याल संग्रह चरित्र; (नातूराणा), मोरध्वज चरित्र (मनीराम), ध्रुवचरित्र का ख्याल (धन्नालाल)।

रेवारी का महाभारत का मार्मिक पाठ होता है। इनमें घटना वैचित्र्य और प्रेमजन्य आवेश की बहुलता मिलती है। ढोलामारवण इसमें विशेष प्रसिद्ध है।

(घ) अभिनय में अनेक पात्र अनेक रूपों में मंच पर उतरकर आलादर्ज का अभिनय करते हैं। अभिनयात्मक संवादों का एक अलग प्रकार और है। इसके संवाद नौटंकी के आधार पर होते हैं। इनमें तेजाजाट, डूंगजी जुवारजी, गोपीचन्द-भरथरी आदि विशेष प्रचलित हैं।

(च) समया नाटकीय परम्परा रामलीला से मिलती जुलती होती है। इसमें वाद्य, गीत और नृत्य का तीव्र उफान देखने को मिलता है।

स्थान विशेष के अनुसार भी इन ख्यालों ने नामकरण पाया और किसी क्षेत्र-विशेष के ख्याल उसी नाम-विशेष से पुकारे जाने लगे यथा —

(क) स्थान-विशेष के अनुसार—जैसे किशनगढ़ के किशनगढ़ी रंगत के ख्याल तथा नागौर के नागौरीपट्टी के ख्याल।

(ख) क्षेत्र-विशेष के अनुसार—जैसे शेखावाटी प्रदेश में प्रचलित शेखावाटी ख्याल। मारवाड़ के मारवाड़ी तथा मेवाड़ के मेवाड़ी ख्याल। यही नहीं, ख्याल लेखकों की लोकप्रियता के साथ साथ उनके द्वारा रचेजाने वाले ख्याल भी उन्हीं के नाम से चलने लगे।

इस संदर्भ में अलीबक्ष द्वारा लिखित 'अलीबक्षी ख्याल' अलवर की ओर विशेष प्रचलित रहे हैं। उनके नाम पर तो ख्यालों की एक रंगत ही चल पड़ी जो 'अलीबक्षी रंगत' के नाम से लोकप्रिय हुई। अन्य ख्याललेखकों ने भी इस रंगत में अपने ख्याल लिखे।

इस प्रकार ख्यालों की यह चलत कई रंगशैलियों में प्रकटित हुई। शैली, रंगत, बहर, गायकी, छाप, पट्टी, बनावट, बणघट तथा चाल के अनुरूप यहां के ख्याल कई रूपों में देखे, सुने और समझे जाने लगे।

शैलियां

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ख्यालों की यहां कई प्रकार की रंगशैलियां

प्रचलित रही हैं। इनमें प्रमुख ख्यालों के नाम इस प्रकार हैं—
(१) माच ख्याल (२) तुर्राकिलंगी के ख्याल (३) कुचामणी ख्याल (४) शेखावाटी ख्याल (५) चिड़ावी ख्याल (६) नौटंकी ख्याल (७) मेवाड़ी ख्याल (८) अलीबक्षी ख्याल (९) किशनगढ़ी ख्याल (१०) रम्मती ख्याल (११) जयपुरी ख्याल (१२) कठपुतली ख्याल (१३) दांगलिक ख्याल (१४) डोडिया ख्याल (१५) हाथरसी ख्याल (१६) गंधर्वों के ख्याल (१७) नागौरी ख्याल (१८) कड़ा ख्याल (१९) अभिनय प्रधान ख्याल (२०) कथावाचनी ख्याल (२१) चौबोल ख्याल (२२) झाड़शाही ख्याल (२३) दांतारामगढ़ी ख्याल (२४) मारवाड़ी ख्याल (२५) समया ख्याल २६) फगुवा ख्याल आदि आदि।

विशेषताएँ

इन ख्यालों की कई एक विशेषताएँ रही हैं। प्रारम्भ में (तथा अन्त में भी) अखाड़े में फतह पाने के लिए,[3] अपना सवाया मान रखने के लिए,[4] ख्याल को पार उतारने केलिए,[5] दुःखदारिद्र दूर करने के लिए,[6] भूले हुए हरफ पाने के लिए[7],

---

3. चिमनलाल मोती की किरपा फते अखाड़े पाऊं।
—भरतरी पिंगला का मारवाड़ी खेल; पूनमचन्द सिखवाल, प्रकाशक—पं० बंशीधर शर्मा, किशनगढ़, सं० २०१३, पृ० ४।

4. ध्यान धरू गोपाललाल का रखें सवाया मान।
—ख्याल पचफूला रानी या ख्याल आसा डाबी को; धन्नाधन्न, प्रकाशक हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा, पृ० १।

5. मैं छू सेवक आपका साथे ख्याल उतारो पार। वही, पृ० ४।

6. मैं छू सेवक आपका सो करो दुख दालिद्र दूर। —वही, पृष्ठ२-३॥

7. मोहि भूल्योड़ा हरफ बताय दीज्यो जी।
—प्रणवीर राठोड़ पाबूजी का मारवाड़ी खेल; बंशीधर; पृ० १।

दंगल में मंगल के लिए[8], दध अक्षर को टालने के लिये[9], ख्याल मंडली के मुख पर नीर चढ़ा रहने के लिए[10], अच्छी चाल और स्वर-ताल के लिए[11], शुभ अक्षर का बोध प्राप्त करने के लिए[12], दुश्मन का मुंह काला करने के लिए[13], लुच्चे, लंपट, कुकर्मी, हुल्लड़बाज चोर, चकोर और चुटीलों की बुद्धि

---

8. करज्यो दंगल में मंगल । —वही, पृ० १ ।

9. दध अक्षर कूं टाल भवानी शुभ गुण देवो हमेश ।
—ख्याल दयाराम धाड़वी को; प्रह्लादीराम प्रोहित, प्रकाशक—ज्ञानसागर प्रेस, बंबई, सं० १६६१, पृ०१ ।

दग्धाक्षर यह आठ हैं ह, व, ध, र, घ, न, स, म, सोय ।
रूपक में पिंगल कहै, आदि न दीजै कोय ॥

10. तेज मंडली के मुख नीर चड्यो राखे नित, भाखे कवि तेज अर्ज ध्यान धर लीजोजी ॥
—मूमल म्हदरे का खेल; तेज कवि, प्रकाशक—जगन्नाथ हुकनचंद कल्ला, जैसलमेर, पृ० २ ।

11. अच्छी मारवाड़ी चाल ढूंढ अच्छे स्वर ताल, वंशीधर आज खेल पावू को वताऊं हूं ॥
—प्रणवीर राठोड़ पाबूजी का मारवाड़ी खेल; बंशीधर शर्मा, पृ० ५ ।

12. दीज्यो ख्याल सुधार क किरपा कीजिये । सुभ अक्षर को वोध सदा मोय दीजिये ॥
—ख्याल दयाराम धाड़वी को; प्रह्लादीराम प्रोहित, पृ० ३६ ।

13. पूनमचंद के सब शिष्यों का महावीर रखवाला । सेंग हमारे होरी खेले दुश्मण का मुँह काला ॥
—राजा केवाट का मारवाड़ी खेल; पूनमचंद सिखवाल, पृ० ५६ ।

हरने के लिए[14], मंगलाचरण अथवा स्तुति के रूप में गणपति, शारदा, जगदंबा भवानी, कालका, दुर्गा, ब्रम्हा, विष्णु, महेश, काला-गोरा, चौसठ जोगण्यां, बावन वीर, महेश, हनुमान, अल्ला आदि इष्टदेवों का स्मरण कर उनसे कोकिला सा कंठ और सवाई वुद्धि प्राप्त की जाती है।[15] अखाड़े की निर्भय जीत के लिए नुगरों को धिक्कारा जाता है। हल्ला गुल्ला अथवा गुलवा करने वालों को आन दिलाई जाती है और पाप लगने की घोषणा की जाती है।[16] छपे ख्याल और ख्याल की छाप को तोड़ने-भांगनेवालों को स्पष्ट एलान किया जाता है और 'भपजावेजी काली' जैसी भावना व्यक्त कर गौ-घाती और हत्यारा तक बतलाया जाता है।[17] अनन्य श्रद्धा एवं भक्ति से उस्ताद (गुरु) को स्मरण कर मुजरा-

---

14. लुच्चे लंपट और कुकर्मी अथवा हुल्लड़बाज। चोर चकोर चुटीले निन्दक जांय सभा से भाज ॥

—प्रणवीर राठोड़ पाबूजी का मारवाड़ी खेल; बंशीधर शर्मा, पृ० ४।

15. कंठ कोकिला सा कीजै, वुद्धि सवाई दीजै, कारज द्यो सार मोकु बालका सा जानके।

—मालदे हाडीरानी को ख्याल; ऊजीरा तेली, सं० १६५६, पृ० १।

16. (क) हल्लागुल्ला बन्द करो सब अन्जनी सुत की आन।

—बगड़ावत भारत का मारवाड़ी खेल; बंशीधर शर्मा, पृ० ४।

(ख) गुलवा करे ख्याल में जिसको है चित्तोड़ का पाप।

—खेल राजा केशरसिंह रानी फूलादे; पं० शेषदास, प्रकाशक–प० श्रीधर शिवलालजी, किशनगढ़, सं० २०११, पृ० २।

17. (क) छपा ख्याल की तौड़े जिसकूं भषजावेजी काली।

—ख्याल नल राजा का; नानूराणा, पृ० २।

(ख) मत बढ़ावो मती घटावो, मैंने रचा सो ही तुम गावो।
मत नाम काफिया देना, सतधर्म पै कायम रैना।
तोड़े भांगे छाप वो ही नर गौघाती हत्यारो जी।

—भरतरी पिंगला का मारवाड़ी खेल; पूनमचन्द सिलवाल, पृ० १।

सलाम दिया जाता है। छंद गानेवालों का नामोल्लेख किया जाता है।[18] पेश किये जाने वाले ख्याल–तमाशे की उद्घोषणा की जाती है।[19] कभी प्रारम्भ में, कभी अन्त में और कभी प्रारम्भ, मध्य और अन्त में ख्याललेखक अपना परिचय, निवास, जाति आदि के साथ-साथ अपनी छोटी-मोटी वंशावली भी दे देता है।[20] जहां ख्याल जोड़ा गया है उस स्थान के साथ-साथ अंत में रसिये के रूप में कलाकार, गायक, साजिन्दे, टेरिये, जमादार, मददगार, महरवान आदि के नामों की लम्बी गाथा भी जोड़ दी जाती है।[21] कई ख्यालों के प्रारम्भ में टेर

---

18. कह सुखजी नानूँ उस्ताद हुकम फरमावे । कथ लादू जानकी छंद सभा में गावे ।
    —ख्याल पचफूला रानी या ख्याल आसा डावी को; धन्नाधन्न, पृ० १५ ।

19. माता आवो सरस्वती शुभ गरा देवनहार
    शिव सुत राजकंवार को तो नमस्कार हरवार
    नंद गुरु की कृपा से तो हो जाय वेड़ापार
    गोगादेव चौहान का तो खेल सुनो नरनार ।
    —वीर गोगाचौहान का मारवाड़ी ख्याल; ब्रह्मभट्ट कवि अम्बालाल, प्रकाशक–फूलचन्द, बुकसेलर, पुरानी मण्डी, अजमेर, पृ० १ ।

20. संवत उन्नीसे ग्यारह अमरसिंह को ख्याल
    सुभस नग्र इन्दौर में ज्योड़यो मोतीलाल
    मोती सुत है गेंद को सव गुणियन का दास
    सैन वंश में ऊपनो बसे वीकाणे वास ।
    —अमरसिंह राठौड़ का मारवाड़ी खेल; मोतीलाल ।

21. देखरया नरनारी सारा नृप केवाट को ख्याल ।सदा चिरंजी नग्र बसो कहे पूनमचन्द सिखवाल ।। दो हजार आठा वैसाख सुद बुध दिन आखा तीज । पूनम ख्याल लांव्या में जोड्यो सजन गया सब रीज । वड़ायली और लांव्या मेड़ते शिष्य मंडली खेले । आनन्द आवे खुशी

शुरु कर दी जाती है जिसमें आरम्भ होने वाले ख्याल की एक हल्की सी झलक मिल जाती है और उसके बाद स्तुतिपरक छंद दे दिये जाते हैं। यह टेर प्रायः हलकारे की हुआ करती है जो दर्शकों को चुप कर खेल प्रारम्भ कर देता है। यथा—

टेर हलकारे की

आये हलकारा केशरसिंह का चुप रहो सभा में॥[22]

कहने का तात्पर्य यह कि ख्याललेखक अपनी ओर से कोई बात छोड़ता नहीं है। वह छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी बात, जो कहने अथवा नहीं कहने की होती है, उसे भी जी खोलकर कह देता है।

राजदरबार लगनेवाले ख्यालों में सर्वप्रथम महतर, भिश्ती, फर्रास, हलकारा, चोपदार, सिपाही आदि आते हैं और उसके बाद मूल ख्याल प्रारम्भ होता है। महतर झाड़ू लगाता है। भिश्ती पानी का छिड़काव करता है। फर्रास बिछात करता है। तम्बू तानता है। डेरे लगाता है और तख्ते धरता है। हलकारा बादशाह का हुक्म बजाता है। देश विदेश की खबरें सुनाता है और खान उमरावों को हाजिर करता है। चोपदार आगन्तुक महरबानों को मुजरा-सलाम कर उन्हें अपनी-अपनी जगह बिठाता है। सिपाही पहरे पर खड़ा रहता है तथा सूचना मिलते ही बाहर संदेशा पहुँचाने तथा खबर लाने की नौकरी साधता है। उदाहरण लीजिये—

मनावे टेर टेरिया झेले ॥ लांव्या में शिवदयाल सूवा बड़ायली में लालू। शहर मेड़ते मोहनलाल हनुमान शेषमल बालू ॥ पूनमचन्द के सब शिष्यों का महावीर रखवाला। सेंग हमारे होरी खेले दुश्मन का मुंह काला॥

—राजा केवाट का मारवाड़ी खेल; पूनमचन्द सिखवाल, पृ० ५५-५६।

22. खेल राजा केशरसिंह और रानी फूलादे; पं० शेषदास, प्रकाशक—ज्ञानसागर प्रेस, किशनगढ़, सं० २०११, पृ० १।

टेर महतर

आये मेंतर वादस्याहूँ के नोकर शाहजान के ॥ टेर ॥
कल्यापाक बंदगी करते पांच वखत नहीं चूके ।
जूठण खाकर करें गुजारा सीरावण के टूके ॥ आ० ॥
पायखाना और झाड़े जाजरू मेंतर चार हजार ।
मेरी नौकरी खास कचेरी में सबका मुखत्यार ॥ आ० ॥
झाडू मेरी रंगरंगीली लिया टोकरा हाथ ।
एक घड़ी को भगियारी में फेर जात की जात ॥ आ० ॥

टेर भिश्ती

आये भिश्ती बीच कचेरी फजर शाम छिड़काव कर ॥ टेर ॥
कोठी और पखाल वादला मश्क डोलचीं होद भरें ।
हाथी घोड़े बैल पिलावें पानी की हम पेल करें ॥ आ० ॥
भिश्ती से कुछ परदा नाहीं सबके घर में जावे ।
रखे हमारा मान कचेरी जलदी चीठा पावे ॥ आ० ॥

टेर फर्रास

आये फर्रास वादस्याहूं के करें विछायत तख्त धरें ॥ टेर ॥
डेरे और कनात छानणी करूं बिछायत ताजी ।
झटक फटक कर तख्त बिछावें हेर वादस्या राजी ॥ आ० ॥

टेर हलकारे

आये हलकारा वादस्याह के नौकर हैं सहाजान के ॥ टेर ॥
देश देश की खबर सुनावां दरियावां के पार ।
दस हजार हलकारे मेरे सच्चा दें अखवार ॥ आ० ॥
ये भी हुकम है वादस्याहूँ का तुरत कचेरी भरणा ।
सतर खान उमराव वहोतर जलदी हाजर करणा ॥आ० ॥

टेर चोपदार

आये नकीव वादस्याहूं के नौकर हैं सहाजान का ॥ टेर ॥

सत्तर खान उमराव बहोतर सबकी करी सलाम ।
अपनी-अपनी ठौड़ बिठावां यही हमारा काम ॥ आ० ॥

टेर शेरखां पठाण

आये शेरखां मरद सिपाई नौकर हैं सहाजान के ॥ टेर ॥
सरसत माय शारदा सिवरूं पूरे मनके काम ।
मोतीराम उस्ताद हमारा जिसकूं करूं सिलाम ॥ आ० ॥
साहाजान की करें नौकरी तलब उणी से पावें ।
चढ़ घोड़े पर खड़े सामने ज्यां भेजे त्यां जावें । आ० ॥[23]

ख्याल-गीत, नाट्य, नृत्य और वाद्य का सम्मिलित रूप है । परन्तु सभी ख्यालों में इनकी समानता देखने को नहीं मिलती । किन्हीं में किसी विशेष पक्ष की प्रचुरता रहती है तो किन्हीं में किसी अन्य पक्ष का दौर्बल्य । उदाहरण के लिए किशनगढ़ी ख्यालों में जहां गये पक्ष की प्रचुरता मिलती है वहां उसका नृत्य पक्ष थोड़ा दुर्बल पड़ जाता है । शेखावाटी के ख्यालों में उच्चस्तरीय संगीतात्मक गायकी मिलती है । नौटंकी के ख्याल, नक्काड़ों की प्रधानता के कारण, नक्काड़वाजी के ख्यालों में शुमार किये जाते हैं । अत्यधिक कूदाफांदी के कारण माच के ख्यालों को तस्तातोड़ ख्यालों की संज्ञा दी जाती है । कुचामणी ख्यालों को रोवणी धुन के ख्याल कहते हैं । रासधारी के खिलाड़ी जब नृत्य को उतर पड़ते हैं तो जमीन से इतनी धूल उड़ती है कि आसपास का सारा वातावरण धूलिधूसरित हो उठता है ।

विषयवस्तु

विषयवस्तु की दृष्टि से इन ख्यालों को चार भागों में बांटा जा सकता है—(१) ऐतिहासिक ख्याल (२) शृंगारिक ख्याल (३) सामाजिक ख्याल तथा (४) धार्मिक ख्याल ।

---

23. द्रष्टव्य, अमरसिंह राठौड़ का मारवाड़ी खेल; मोतीलाल, प्रकाशक—आर्य ब्रदर्स, अजमेर, सं० २०१३ ।

ऐतिहासिक ख्याल– इन ख्यालों का विषय लोकजीवन के ऐतिहासिक धरातल पर पूर्णतया कसा हुआ होता है। इनके नायक वीर, पराक्रमी, साहसी, दृढ़व्रती तथा शुभचिन्तक होते हैं। वे समाज को अपने साथ लेकर चलते हैं और वक्त आने पर समाज के लिए अपने आप को खपा देते हैं। इनका व्यक्तित्व विराट, व्यवहार निश्छल, आदर्श अनुकरणीय और कार्य चमत्कारिक होते हैं। यही कारण है कि लोकगाथाओं में वर्णित नायक ऐसे ख्यालों के सर्वाधिक प्रिय विषय बन जाते हैं। इनमें राजा विक्रमादित्य, अमरसिंह राठौड़, गोगाजी चौहान, पाबूजी, देवनारायणजी, तेजाजी, रामदेवजी, डूंगजी, जुहारजी, वलजी, डूला धाड़वी, दयाराम धाड़वी आदि के ख्याल विशेष उल्लेखनीय हैं।

शृङ्गारिक ख्याल– लोकजीवन में जो प्रेमाख्यान लोकप्रिय रहे हैं, उन्हीं को आधार मानकर शृंगारिक ख्यालों की रचना प्रारम्भ हुई। इनमें प्रेमी–प्रेमिकाओं की जिन्दादिली अपने जीवंत ध्येय के साथ अपना मार्ग प्रशस्त करती रहती है। एक दूसरे को पाने की बलवती जिज्ञासाएं दृढ़तर होती हुई देखी जाती हैं। कठिन से कठिन घड़ियों में भी वे अपने सात्विक प्रेम की दीपशिखा प्रज्वलित किये निरन्तर गतिमान होते रहते हैं और अंत में उनका ध्येय, उनकी लगन, उनका विश्वास, उनका साहस और उनकी साधना सफलीभूत होती हुई नज़र आती है।

प्रेमी–प्रेमिकाओं की आपसी भेंट की यह प्रक्रिया अधिकतर सूवा और मालिन के सहयोग से ही पूरी होती है। जहां सूवे अड़भोपे बन कर रेखाओं के फल सुनाते हैं,[24] पहेलियों के अर्थ छुड़ाते हैं[25] और अपने प्रेमी के साथ

---

24. कर में मच्छ रेष मस्तक में तिल्ल गाल पर दाड़ै। ये लच्छन पदमनी नार का वेदूं माय वखाड़े। तूं वड़भागन व्याही तिरिया जावै वड़े ठिकाड़े। जागी वड़े ठिकाड़े लिखा इस रेष में। ब्यावै राव रिसालू तुमको सेष में।

—राव रिसालू नोपदे का ख्याल; झालीराम, पृ० ११।

25. कोण सरोवर पाज विना सुवा कोण पेड विना डाल। कोण पखेरू

उनकी सांठगांठ कराते हैं वहां मालिनें अपने 'वाईसाव' के जनाने बाग में उन्हें विश्राम देती हैं[26] और वक्त आने पर उन्हें हार गूंथने वाली अपनी बहू बनाकर ठेठ बाईसाव के पास छोड़ आती हैं।[27] सच्चे प्रेमी अपने प्रेम पर अडिग

पांख विना सुवा कोण मौत निंदा काल ।। नैन सरोवर पाज विना त्रिया धरम मूल विन डाल । जीव पंखेरू पंख विना त्रिया नींद मौत विन काल ।।

जामतड़ी गज तीस की सूवा भर जोबन गज च्यार । बूणी हुयां गज भाठ की सूवा अंत न पार ।। दिन ऊगे गज तीस की, छाया दोपहरां गज च्यार । सांज हुयां गज साठ की दिन छिपे अन्त न पार । वही, पृ॰ ३३।

26. खिड़की खोलो नें मालन वाग की विसराम करण दे ।। टेर ।। बाग जनाना वाईसाव का खिड़की नहीं खोला ।। टेर ।। खिड़की खोलो बाग की र मैं दूर देस से आया । धूप पड़े धरती तपे सजी दिल मेरा घबराया । घुड़ला वांधूं आम के र मैं ऊतरां चम्पा छांया ।। विस॰ ।। मालन जात गंवार की र पण तने नहीं छै तोल । पांच मोहर दी सूं क की र तू जल्दी खिड़की खोल ।। छाने काम वणादे मालन मती बजावे-ढोल ।। विस॰ ।। केशरसिंह महाराज आपका बड़ा अनोखा घोड़ा । बहुत उडीक्या आपने र थे बहुत पधार्‌या मोड़ा ।। उतरो चम्पा बाग में र कोई दिवस रहगया थोड़ा ।।खि॰।।
—खेल राजा केशरसिंह और रानी फूलादे; पं॰ शेषदास, पृ॰ १८-१९।

27. आल्हा ऐसी बहुअर तोय वनाऊं लखिकर हूर परी शरमाय। नौटंकी से हुस्न चौगुना प्यारे तेरा दऊं वनाय।। तुरत न्हिलाकर मैंने कुमर के सिर में अतर दिया छिड़काय । पटियां दोनों पार ज्वान के दोनों माँग सिंदूर भराय ।। बिन्दी लगादई माथे पर नैनन काजर दियो लगाय । नाक में डारी नथ भलकारी अधरन लटकन झोका खाय।।

रहते हैं। कोई भी बन्धन, रिश्ते और मर्यादाएँ उन्हें विलग नहीं कर पातीं। दोनों एक दूसरे के लिए मरमिटते हैं। नौटंकी के पिता ने जब उसके प्रेमी को फांसी का हुक्म दे दिया तो वह दौड़ी-दौड़ी वहां पहुंची। जल्लादों को धक्का देकर दूर किया, प्रेमी को फांसी से हटाया और अपने पिता से कहा—

इसको उतार फांसी से जल्द दीजिये
अब साथ इसके शादी पिता मेरी कीजिये
इसमें करोगे उजर अगर जरा तुम पिदर
तो यह तुम्हारा सर है और यह मेरा खंजर
तुम किसी को तो शादी मेरी करोगे आखिर
इस साथ ही वरदो यही मेरी पसन्द वर
राजी से मानो पिता होय तुम्हारी वाह वाह
नहीं यों भी वाह वाह है और यों भी वाह वाह ॥[28]

इन ख्यालों में सहजादा सुलतान, पद्मावत, वीरमसिंह नौटंकी, भंवर

हंसली हार हमेल गले में मोहन माल दई पहराय। जुगनू बाजू छन्न पछेली जोशन कंकन शोभादार। करनफूल झुमका कानन में पांयन पायल की झनकार॥ सारे गहने सजा अंग पर चोली बाँहन दई चढ़ाय। दामन पहरायौ प्यारे को ऊपर सारी दई उढ़ाय॥ मुख बीड़ा से सजा ज्वान को तब डोला में लियो बिठाय। डोला संग लियो मालिन ने शीश महल में पहुंची जाय॥ सन्मुख नौटंकी के आई मालिन यों रही वचन सुनाय॥ दो–बहू ये मेरी प्यारी। आपकी नजार गुजारी इसी ने गुंथा हार है॥ लाज शरम की भरी हुई मेरी बहुअर होशियार है॥

—सं० नौटंकी शहज़ादी ऊर्फ अय्यारा औरत; पं० नथाराम शर्मा हाथरस, पृ० २७–२८।

28. वही; पृ० ४७।

चमेली रूपरत्न रसफूलां, राजा रिसालू नोपदे, पंचफूला राणी, नौटंकी शहजादी उर्फ अय्यारा औरत, मूमल म्हदरे, हीररांझा, लैला मजनू, मुलतान निहालदे, ढोला मरवण, पन्नावीरमदे, माधवनल कामकंदला, रिसालू वेलादे, बख्तमुकुठ, राजा केशरसिंह और रानी फूलादे आदि लिये जा सकते हैं।

सामाजिक ख्याल— इन ख्यालों में समाज में व्याप्त बुराइयों एवं कुप्रथाओं तथा उनसे उत्पन्न दुष्परिणामों का खुला चिट्ठा वर्णित रहता है। अनमेल विवाह, नाजायज रिश्तेनाते, नशाखोरी, जादूटोने आदि इन ख्यालों के मुख्य विषय हैं। इनमें भरपूर हास्य के साथ तीखा व्यंग्य छिपा रहता है जो दिलपर सीधी चोट करता है। उदाहरण--

टेर मां वेटी के ।। टेर ।। पीयर दिन काढू किणरे आसरे नित भांडू थांनू ।। टेर ।। मोटो हुय जासी जाजे सासरे मत भांडे म्हांनू ।। दोहा धनवंत देख्यो सासरो सदी छोटानें परणाय । सहजां आवे ठिणकतो सयो टांगां में रूल जाय । म्हारो दिल उलटे घणों सहूं व्यांइ करू ये माय । हो नित भांडू ।। १ ।। वेटी चिन्ता मत करे स यो काल वड़ो हुय जासी । सालम मिश्री मूसली सनें कंद विदारी खासी ।। दिन दिन आसी जौर में स कांइ सहजाँ रंग वणासी ।। हो मत ।। तें धन देख्यो मायड़ी स म्हारे वावलिये पिण वोई ।। वेनड़ करी कुसामदी सनें वीर अकल सव खोई ।। सतमास्यो परणाय के स मनें काली धार डुवाई ।। हो नित भांडू ।। ३ ।।[29]

कुछ ख्याल ऐसे भी लिखे गये हैं जो केवल कामवासनाओं को वढ़ावा देकर हल्के दर्जे का मनोरंजन करते हैं। ऐसे ख्यालों में मस्तपरी का ख्याल द्रष्टव्य है—

लावणी परी की

मेरे आया महल फकीर सुनों री गोरी, मेरे आ सपना के वीच

---

29. वाला सिसु विवाह नाटिक, छोटाकंथ; शिवकरण रामरतन दरक, प्रकाशक—रामरतन कासीराम, वुकसेलर, भीलवाड़ा, सं० १९७०, पृ० ७–८ ।

खेल गयो होरी। अंतरा--मैंने सब जड़वाये महल फुलन की क्यारी। क्या फररररररर पवन चले पिचकारी ॥ मेरे घर छतियन पर हाथ लगागयो यारी। क्या थरररररररर कंप उठी तन सारी ॥ × क्या कररररररर आँख खुली है मेरी ॥ क्या शरररररर शरम भगी मेरी ॥ × क्या ततनननननन मांन से गाती ॥ × क्या चरररररर चोरी फटी सब जाती ॥ × क्या घडडडडडडडड घड़क उठी मेरी छतियां ॥ क्या नररररररर नाम लेते दिन रतियां ॥[30]

सामाजिक ख्यालों में बाला सिसु विवाह नाटिक, मस्तपरी, नंने खशम, काकीजेठूत, खटपटिया, छोटाबालम, नशाबाज आदि बहुचर्चित ख्याल हैं।

धार्मिक ख्याल– इन ख्यालों की आत्मा, लोकजीवन में व्याप्त वे धार्मिक प्रसंग होते हैं जिनके प्रति लोगों की अपार श्रद्धा एवं भक्ति निहित रहती है। भक्ति, दान, शील, तप, धर्म, त्याग आदि के कारण समाज जिनके आदर्शों का अनुकरण करता है, उन्हीं उच्चात्माओं की जीवनलीलाओं को लेकर इन ख्यालों का प्रणयन होता है। जनजीवन में ये ही ख्याल विशेष स्वीकारे जाते हैं और यही कारण है कि इनके प्रदर्शन सर्वाधिक रूप में देखने को मिलते हैं। इनमें रुकमणी मंगल, भक्त पूरणमल, राजा हरिश्चन्द्र, सती हेमकुंवर, नल-दमयंती, भक्तसुदामा, भरतरी पिंगला, द्रोपदी स्वयंवर नरसी मेहता, चंदमिलयागिरी, आनन्द गणपति, मीरां मंगल, गोपीचन्द आदि ख्याल उल्लेख्य हैं।

रंगमंच

इन ख्यालों के प्रदर्शन के लिए यहाँ रंगमंच का भी बड़ा सुन्दर विधान रहा है। ख्याल के अनुरूप मंच की सृष्टि कर जहां एक ओर इन ख्यालों की सुन्दरता में चार चाँद लगाये हैं वहां दूसरी ओर इन्हें प्रदर्शन की दृष्टि से भी पूरी पूरी आजादी प्राप्त हुई है। एक ही मंच पर सभी ख्यालों का प्रदर्शन ख्यालों की प्रकृति के प्रतिकूल तो था ही, साथ ही उनकी मूल आत्मा से भी मेल

---

30. मस्तपरी का ख्याल; घनश्याम शर्मा, रामश्याम प्रिंटिंग प्रेस, कटला बाजार, जोधपुर, सं० १९९७, पृ० १८-१९।

खयाल अपने-अपने

गवरी की खेतुड़ी : कहीं नजर न लग जाय

खानेवाला नहीं था। सामान्यतया यहाँ के ख्यालों में ये रंगमंच हमें निम्न रूपों में देखने को मिलते हैं—

(१) सर्वदिशीयमंच (२) त्रिदिशीयमंच (३) मंडपीयमंच तथा (४) अट्टालीमंच

सर्वदिशीयमंच—ये मंच समतल भूमि पर होते हैं और सभी ओर से खुले हुए होते हैं। इनकी रंगस्थली दर्शकों के बीच होती है। इन मंचों की कोई सज्जा नहीं होती। अभिनेता गोलाकार गाते नाचते हैं और अभिनय करते हुए सभी ओर मुखातिब होते रहते हैं। किसी एक ही दिशा की ओर इनका प्रदर्शन संभव भी नहीं रहता। इस प्रकार के मंच मेवाड़ की रासधारियों के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

त्रिदिशीय मंच—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रकार के मंचों में तीन दिशाएं खुली रहती हैं। इनका पृष्ठभाग ढका हुआ रहता है। बाकी तीनों ओर से जनता बड़ी आसानी से इनपर अभिनीत ख्यालों का आनन्द लेती है। ऐसे मंचों में गाँव का कोई चबूतरा ही मंच बना लिया जाता है। दर्शकों का जमाव दाएं, बांए तथा सामने की ओर रहता है। पीछे कपड़ा तान दिया जाता है। ऐसे मंच ख्यालों के लिए बड़े उपयुक्त बैठते हैं।

मंडपीय मंच—ये मंच भी त्रिमुखी अथवा त्रिदिशीय ही होते हैं, पर बांस-बल्लियों की सहायता से इनकी सजावट मण्डप बनाकर की जाती है। ये मंडप बड़े आकर्षक होते हैं। इन्हें फूलपत्तों, रंगबिरंगे कपड़ों तथा कागजों से सजा दिया जाता है। ऐसे मंच मुख्यतः कुचामणी ख्यालों में प्रयुक्त किये जाते हैं।

अट्टाली मंच—माच के ख्यालों के लिए अट्टालीनुमा मंच बनाये जाते हैं। ये मंच सर्वाधिक सज्जा लिये होते हैं। बारह फुट से लेकर बीस-बीस फुट तक की ऊंचाई पर इनमें अट्टालिकाएं बनाई जाती हैं। झरोखों के रूप में अट्टालिकाएं रंगबिरंगी फलियों, कोर-किनारियों तथा कपड़े-लत्तों से सजाई जाती हैं। राजस्थानी स्थापत्यकला का उत्कृष्ट नमूना इनमें देखने को मिलता है। इन अट्टालिकाओं को झरोखा अथवा महल भी कहते हैं। यह स्त्री-पात्र

के लिये बनाई जाती है। इस झरोखे (अट्टाली) के सामने मुख्य मंच बनाया जाता है। यह तख्तों का होता है जो करीब जमीन से पांच फुट की ऊंचाई लिए होता है। इसके पास ही एक छोटा मंच और होता है जो साजिन्दों के बैठने के काम आता है।

लेखक

राजस्थान में ख्याललेखक भी कई हुए हैं। इन ख्यालकारों ने लोकजीवन में प्रचलित कथाआख्यानों पर नाना ख्यालों की रचनाकर इस संपदा को प्रतिष्ठित करने में भागीरथ योग दिया। ख्यालों पर लिखी गई कई पुस्तकें तो प्रकाशित हो चुकी हैं पर सैकड़ों-हजारों की संख्या में अप्रकाशित लावणियां तथा ख्यालबाजियां हस्तलिखित ग्रन्थों खरड़ों में तथा लोकजीवन में मौखिक रूप में देखने-सुनने को मिलती हैं। ज्ञात अज्ञात जिन ख्याललेखकों की जानकारी अब तक मुझे मिलपाई है उनकी नामावली इस प्रकार है—

कुचामण का लच्छीराम, धन्नालाल खेड़ीवाल तथा सागरमल। बेंडा को पूनमचंद दौलतराम सिखवाल। फतहपुर का प्रहलादीराम पुरोहित, झालीराम शर्मा, अणतुराम तथा गंगाधरसिंह। डीग का इन्दरमल, मुरलीधर तथा हरनारायण। चिड़ावा का नानूलाल राणा, उजीरा तथा चुन्नीलाल। सीकर का अकबरमीर। नसीराबाद का किसनलाल। अजमेर का अम्बालाल, छाजूलाल तथा नंदराम। आसोपा का तिलोकचंद। जयपुर का वंशीधर भट्ट। जैसलमेर का तेजकवि तथा वजीरा तैली। हुरड़ा का रामदास। रूपनगर का दबिमतदास। गोन्दियाणा का कल्याणराम जोशी। अलवर का अलीवक्ष। लांबिया का शिवदयाल लखारा। बीकानेर का मोतीलाल, किशनदास, शिवप्रताप, भीखजी जोशी, तुलछीराम, मणिराज, गोकुलचन्द ओझा, फागुमहाराज तथा सूवा महाराज। बलूंदा का वैद्य पुष्पापुरी गोस्वामी। मूंडवा का रामरतन दरक। मेड़ता का बीछूलाल सेवग। जसरापुर का भगवतीप्रसाद दारूका। बांप का रामगोपाल व्यास। किशनगढ़ का महाराजा बहादुरसिंह तथा बंशीधर शर्मा। डीडवाना का श्यामस्वरूप। नवलगढ़ का डालू। उदयपुर का देवीलाल।

किशनगढ़ का सेसदास, सहदेव, कैलाशचंद्र, छीतरजी तथा प्रतापजी। घोसुन्डा का मिर्जा हसनबेग, मिर्जा खाजू तथा इब्राहिम। निम्बाहेड़ा का हगदातखां, मगनीराम, नानालाल, मूलचन्द, नंदलाल, चौथमल (मुनि), हीरालाल तथा गिरधारी जीणगर। चित्तौड़ का सहेदुसिंह, रूपचन्द, छोटूलाल, खेमचन्द, चम्पालाल, मूलचन्द, ख्यालीलाल, गब्बूलाल, भवानीशंकर, हरिशंकर, रामसुखलाल तथा चेनराम।

इन लेखकों के अतिरिक्त अन्य और भी कई लेखक हुए हैं जिनमें धन्नाधन्न, जीणजी, नाथूलाल, वंदराम, छालूलाल, प्रमसुख भोजक, नेतरजी, मुरलीधर, हरनारायण, सागरमल जोतगी, पं० गिरधारीलाल, शालिग्राम आदि ने अपनी सरस्वती वाणी से इस साहित्य को रससिक्त कर आनंदरस की वृष्टि की है।

भाषा

राजस्थानी ख्यालों की भाषा मुख्यतः राजस्थानी ही रही है। राजस्थान में, अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग प्रकार की बोलियां बोली जाती हैं। ख्यालों में इन सभी का प्रयोग देखने को मिलता है। इनमें मेवाड़ी, मारवाड़ी, हाड़ौती, जयपुरी, ढूंढाड़ी आदि मुख्य हैं। इनके अलावा किन्हीं विशेष क्षेत्रों में लिखे गये ख्यालों में वहां की क्षेत्रीय बोली का प्राधान्य मिलता है। इस दृष्टि से कुचामणी, शेखावाटी आदि क्षेत्रों के ख्याल देखे जा सकते हैं। इनके अलावा इन ख्यालों में उर्दू फारसी का भी प्रयोग मिलता है। कलंगीवालों ने, मुसलमान होने के कारण, अपने सारे ही ख्याल उर्दू, फारसी की जबान में लिखे हैं। कहीं--कहीं संस्कृत तथा अंग्रेजी का प्रयोग भी देखा जाता है।

राग तथा रंगत

यहां के ख्याल दोहा, कवित्त, छप्पय, शेर, आल्हा, दौड़, चौपाई, झड़, गजल, झेला, सवैया आदि में लिखे गये हैं। पादपूर्ति के लिए जगह-जगह इन ख्यालों में र, जो, स, सजी, क, सरे, जो, सदी, सनें, तो, ती आदि का प्रयोग मिलता है यथा—

(क) बालाजी महाराज के र में चरना शीश नवाया। ख्याल पचफूला रानी या ख्याल आसाडाबी को। धन्नाधन्न।

(ख) वलदाऊ को इस्ट हमारे रण में फते जो पावाँ ।—ख्याल दयाराम धाड़वी को । प्रहलादीराम पुरोहित ।

(ग) देखी थारी वीरता स जद प्रण कीन्हों मन माय ।

(घ) मैं रेवारी जात रो सजो सांड्या को व्योपार ।

(ङ) कालिमी चिरा चढ़ी थारी क वेंनड़ सुनो वात हमारी ।

(च) मत घवरावें रावता सरे खुशी रहो मन मांय ।—(वगड़ावत भारत का मारवाड़ी खेल; वंशीधर शर्मा).

(छ) घनवंत देख्यो सासरो सदी छोटा ने परणाय ।

(ज) वेनड़ी करी कुसामदी सनें वीर अकल सब खोई ।

(झ) राय चमेली और केतगी सेजां तो करी तयार ।

(ञ) ये चतुर उजीर्यो जात को तेली जिनसेती रंगत पाया ।—(विक्रमादित्य राजा और चन्द्रकला का ख्याल । उजीरा तेली).

ये ख्याल मुख्यतया टोड़ी, लावणी, कालंगड़ा, माढ़, चन्द्रायणी, कव्वाली, झड़, तिझड़ी, रेखता, घूमणी, थियेटर, वराडी, तिपदी, दुलाणी, तिलाणी, चौझड़ी, मारवाड़ी, मेवाती, अलीवक्षी, शेखावाटी, पहाड़, झेला, लंगड़ी, रासड़ो, आरसी, हिंडोली, रतवो, जानकी, कव्वाली, वोझड़ी, खड़ी, पारकी, भैरवी, गजल, कैरवो, चलन, हरियाना, रसिया, झाड़शाही, कड़ी, खेंच, घूमर, सोरठ, वियाग, डेडकड़ी, आसावरी, सोहनी, ठुमरी, दादरा, शकीस्ता, तवील, शकील, द्रोण, विरुदन, विकट विरुदन, दिलवहार, जिगरी, एजन, जुलमार, दिलपसन्द, वशीकरण, पदमावत, सिंगाविलोचन, वहरवील, झिंझोटी, जैजैवंती, भरविलावणी, काफी, देश, घनाश्री, कानड़ो, करनीमारू आदि रागों तथा रंगतों में लिखे मिलते हैं।

इन ख्यालों में भारतीय परम्परा के मूल सिद्धान्तों की पालना देखी जाती है; यद्यपि इनका कथानक उतना सुगठित नहीं होता । चरित्र अपना पूर्ण उत्कर्ष दिखाये बिना ही लुप्त हो जाते हैं । कभी कभी घटनाएं उद्देश्य विहीन

लगती हैं परन्तु फिर भी ये सुखांत होते हैं और अपने पीछे अपना विराट संदेश छोड़ जाते हैं। 'कवियों का कल्पवृक्ष राजा भोज' सत्य पर डटा रहने वाला हठीला हमीर, भरे दरबार में अनुचित सम्बोधन के लिए सलावतखां को समाप्त करने वाला अमरसिंह, बादशाह से बदला चुकाने वाला छोटी सी जागीर का स्वामी दुल्हाधाड़ी, शीश का दान देकर सिद्धराज को झुकाने वाला दानवीर जगदेवपंवार, आचरण को पवित्र रखकर नयन विहीन होने वाला भक्त पूरणमल, अपनी भक्ति के बल से साँवल सेठ की भात भरने के लिये बुलाने वाला नरसी मेहता, राजपाट छोड़कर जोग धारण करने वाला गोपीचन्द[31] आदि ऐसे कितने ही उदाहरण हैं जिनका प्रदर्शन अपनेआप में बहुत बड़ा संदेश, सीख और सत्व देकर दर्शकों के दिलों में पैठ जाता है। इनसे मानवजीवन अपने उच्चादर्शों को प्राप्त करता हुआ भारतीय संस्कृति, समाज, सभ्यता और इतिहास के शाश्वत रूपों को आत्मसात करता है।

प्रकाशक

राजस्थान के बाहर मुख्यतया बम्बई, हाथरस, आगरा, कलकत्ता, मथुरा, उज्जैन, छावनी, धुलिया आदि स्थानों से इन ख्यालों की कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनमें से बम्बई इनका प्रमुख केन्द्र रहा है। सबसे पहले ख्याल पुस्तकें यहीं से छपनी प्रारम्भ हुईं और सर्वाधिक मात्रा में छपीं भी यहीं। राजस्थान में भी कई स्थानों से ख्यालों की पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है। कुछ मुख्य-प्रमुख प्रकाशकों की नामावली इस प्रकार है—

(१) रामरतन कासीराम, बुकसेलर, भीलवाड़ा; (२) नंदलाल डालूका, कुचामण सिटी; (३) चिंतामणीदास जंदाणी, (४) किशोरीलाल तखतमल, (५) जगन्नाथ हुकमचन्द कल्ला, (६) बौरा किशनलाल तथा (७) नवी पुस्तकागर तेजकंपनी, जैसलमेर, (८) खत्री भीकमचन्द, कटला बाजार, जोधपुर;

---

31. राजस्थान के लोकनाटक-ख्याल, मनोहर शर्मा, लोकला, भाग १, अंक १, पृ० ४६।

(९) फुलचन्द, वुकसेलर, पुरानी मंडी, (१०) आर्य ब्रादर्स, वुकसेलर, पुरानी मंडी तथा (११) पं० जगन्नाथ उपाध्याय, कडक्का चौक, अजमेर; (१२) पं० श्रीधर शिवलालजी, (१३) पं० वंशीधर शर्मा, तथा (१४) पं० व्रजमोहन शर्मा, वुकसेलर, किशनगढ़; (१५) वावू कन्हैयालाल, वुकसेलर, त्रिपोलिया वाजार; (१६) पंसारी नन्दराम ईश्वरवाल, वुकसेलर, (१७) ईश्वरलाल, वुकसेलर त्रिपोलिया वाजार, तथा (१८) लोक साहित्य सदन, जयपुर; (१९) पं० दाऊ-दासी नुक्का मंगू वीकानेर; (२०) वंशीधर पुस्तकालय, डीडवाना, तथा (२१) शिवदयाल गंगाविशन, वुकसेलर, लांबिया।

संक्षेप में, राजस्थान की ख्याल-संपदा वड़ी समृद्ध और स्वस्थ रही है। पर क्या आगे भी ख्यालों की यह परम्परा इसी प्रकार रह पायेगी, यह कहना जरा कठिन लग रहा है।

**

यक्षगान

डॉ० श्याम परमार

कर्नाटक और आन्ध्रप्रदेश में प्रचलित यक्षगान बयलाटशैली का उत्स तुळुनाडु क्षेत्र कहा जाता है। तुळुनाडु में आज भी भूतों को प्रसन्न करने के लिए पौरुषप्रधान नृत्यगान प्रचलित हैं। इनमें भूतों की प्रशस्तियाँ गायी जाती हैं, भूतों के विवध स्वांग बनाये जाते हैं तथा तेंवरे (चर्म वाद्य) एवं ताळ (कांस्य वाद्य) के गत्यात्मक वादन की संगति में नृत्यों का शाक्तेय स्वभाव दर्शकों के समक्ष उभर आता है। इसी क्षेत्र के शंखकुल नागों के डमरू और ताळ पर किये जाने वाले नृत्य भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। यह भी द्रष्टव्य है कि तुळुनाडु की राजकीय भाषा बहुत समय तक कन्नड़ रही। उसके प्रभाव स्वरूप यक्षगानशैली को एक बड़े क्षेत्र में विकसित होने का अवसर मिला।

उद्भव एवं आधार

यक्षगान के लिए 'प्राकृतनाटक' शब्द का प्रयोग किया गया है। लगता है कि यह प्रारम्भ से ही ऐसा नाट्य रहा है जिसमें संस्कृत की नाट्यप्रविधियों का निर्वाह विशेष रूप से नहीं किया गया। इसे कुरवंजि नृत्य रूप से भी उद्भावित शैली वताया गया, जबकि इसमें तथ्य की वात इतनी है कि यक्षगान वयलाट में कभी-कभी कुरवं अथवा कोरवं जाति के एक पात्र का समावेश होता है। यों दक्षिण में कथकलि नृत्य की दो भिन्न शैलियों में कुचिपुड़ी के साथ यक्षगान को भी सम्मिलित किया गया है। दोनों शैलियों में कथकलि का प्रदर्शन करने वाली मंडलियाँ गांवों में घूमती हैं। चूंकि उन शैलियों के नृत्य कथापरक होते हैं और वेशभूषा भी कथकलि की भांति भड़कीली होती है, इसलिए उन्हें लोकनाट्य की उस श्रेणी में स्थान प्राप्त है जो पौराणिक कथानकों के आश्रय पर संगीत और नृत्य की सहायता से प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम हैं।

दक्षिण में जक्कु नामक एक जाति है जो आन्ध्रप्रदेश के गुण्टूर और गोदावरी जिलों में वसी हुई है। अन्नतपुरम् में जक्कुलथेरुवु नाम का एक गांव है जो आजकल रेलवे स्टेशन है। इस जाति में जिस गानशैली का प्रचार हुआ वही कालान्तर में 'जक्कुपाट' कहलायी। यक्षगान इसी 'जक्कु पाट' का संस्कार माना जाता है। पन्द्रहवीं शताब्दी के 'क्रीड़ाभिरामामु' ग्रन्थ में 'जक्कुल पुरन्ध्रि' नामक एक गान पद्धति का उल्लेख प्राप्त है। उसी काल में 'सौरभचरित' (चेन्नशौरि) की रचना जिस शैली में की गई वह यक्षगान का आरम्भिक रूप ही है। इसमें एक पात्र वस्तु और कथास्थान के अनुसार भिन्न-भिन्न पात्र की अवतारणा करता था।

जक्कुलु के सम्वन्ध में स्वर्गीय सुरवरम प्रताप रेड्डी ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि जक्कुलु (यक्ष) यक्षी नामक मंगोल जाति के लोग हो सकते हैं। यह जाति युक्षैनप्रदेश के लोगों से निःसृत हुई भी हो सकती है। मगर हमें सम्भावना पर निर्भर रहकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यक्षगान का वर्तमान स्वरूप ही हमारे लिए विचारणीय है।

आज के यक्षगान का रूप नृत्यनाट्यप्रधान है। इसमें गीतवद्ध संवादों का प्रयोग होता है और बीच-बीच में गीतों के विषयों के अनुरूप गद्यवत् बातचीत भी सम्मिलित की जाती है। लम्बे-लम्बे बोल पात्रों को सहज कंठस्थ रहते हैं। इनमें वर्णन का प्राधान्य होता है। कहा जाता है कि प्राचीनकाल में ये नाटक न केवल मनोरंजन के साधन थे अपितु धर्मप्रचार में भी इनका भरसक उपयोग हुआ। ११ वीं और १२ वीं शताब्दी के जैनग्रन्थों में यक्षगान नाटक को 'देशीगीत' (लोकगीत या ग्रामगीत) कहा गया है। काकतीय युग में इसे धर्म के साथ पौराणिक चरित्रों का प्रदर्शन करने का माध्यम बनाया गया। साधारण लोग तो इसमें भाग लेते ही थे, नगर की वेश्याएं भी इसमें सम्मिलित होती थीं। काकतीय प्रतापरुद्र की वेश्या मायलदेवी और 'भीमेश्वरपुराण' में एक नगरवधु 'ईशाणि वेश' धारण करके भिक्षाटन करती थी। संगीत से सम्बन्धित होने के कारण यक्षगान की गान शैली का उल्लेख पालकुरिकि सोमनाथ ने भी किया है।

बारहवीं शताब्दी में दक्षिणभारतीय राजनीति में काफी परिवर्तन हुए। देश में एकता का अभाव और सामन्तवाद का प्रबल होना कला के लिये क्षति का कारण हुआ। परन्तु जनता के मनोरंजन ज्यों के त्यों जारी रहे। नगरों के सभ्य समाज में यक्षगानों का प्रचार क्रमशः बढ़ने लगा था। श्रीनाथ कवि (१४ वीं शताब्दी) ने यक्षगानों की जो प्रशंसा की है, उससे यह विदित होता है कि राजाओं ने इन्हें प्रोत्साहन प्रदान किया। १६ वीं शताब्दी के कवियों ने राजाओं से प्रोत्साहन पाकर अनेक यक्षगानों की रचना की। राजा नृसिंहरायुल (१६ वीं शताब्दी) ने अष्टभाषा कवि को 'चन्नकवि' और 'सौभद्रचरित्र' नामक यक्षगानों पर अतुल धन दिया था।

स्त्रीपात्र

स्त्रियाँ पुरुष-वेश धारण कर यक्षगानों में भाग लेती थीं। पिंगली सूरन्ना नामक स्त्री का उल्लेख प्राप्त हुआ है जो 'प्रभावती प्रद्युम्न' और 'गंगावतार' नाटकों में अभिनय करती थी। रंग जम्भा नामक स्त्री का भी उल्लेख मिलता

है जो 'मन्नूरदास विलास नाटकम्' की लेखिका बतायी जाती है। तंजाऊर के राजाओं को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने यक्षगानों में संस्कृत नाट्य शैली का प्रवेश कराया। रंग जम्भा तंजाऊर के ही राजकुमार विजय राघव की स्त्री थी। बहुत संभव है उसने इस परम्परा को आगे बढ़ाया हो। उसके शासनकाल में मधुरवाणी और रामभद्राम्बा नामक जैसी कवित्रियों को इसी दृष्टि से आश्रय प्रदान किया गया था।

परम्परा

यक्षगानों की यह परम्परा ठेट १७ वीं शताब्दी के अन्त तक साहित्य में अनुप्राणित रही। १७ वीं शताब्दी के पश्चात् लगभग सौ नाटक ऐसे लिखे गये जिन पर यक्षगान का पूरा प्रभाव है।

यक्षगाननाटक की भांति बम्बई और हैदराबाद के निकटवर्ती ग्रामों में कुछ लोकनाट्य 'दोड्ड अट्ट' अर्थात् जनता के नाटक या वयकाट (खुले रंगमंचीय नाटक) तथा 'अट्टडट्ट' (उन्नत मंचीय नाटक) के नाम से प्रचलित हैं, किन्तु उनपर आधुनिकता का पर्याप्त प्रभाव है। यह बात उल्लेखनीय है कि वे लिपिबद्ध नहीं हैं।

इन दोनों नाट्यप्रकारों का प्रचार कर्नाटक में भी है। वस्तुतः वहीं उनकी मूल भूमि है। नृत्य और संगीत इनमें प्रधान रूप से अभिनय के सहायक अंग हैं। हिम्मेला या भागवत द्वारा महाभारत और रामायण की कथाओं अथवा वैदिक गाथाओं का आधार प्रायः इन नाटकों में लिया जाता है। कन्नड़ का आरंभिक साहित्य पद्यबद्ध है। अतः लोकजीवन में नाटकों के कथानकों पर पद्य का प्रभाव होना स्वाभाविक था। 'सतपदी' में ऐसी कितनी ही सामग्री उपलब्ध है जो रंगमंच के लिये उपयोगी कही जा सकती है। स्थानीय वीरों की कथाओं पर आधारित ये नाटक कदाचित् पौराणिक अथवा संस्कृत ग्रन्थों की गाथाओं की अपेक्षा अधिक मौलिक रहे हैं।

कथावस्तु

यक्षगान नाटकों की कथावस्तु यों तो रामायण, महाभारत और भागवत

की पौराणिक एवं लोकप्रिय कथाओं से ली जाती है । तो भी लोकभावों से अनुरंजित होकर अभिनेताओं के कौशल और मुखाग्र संवादों का स्पर्श पाकर यह कथावस्तु अधिकतर लोकपरक हो जाती है। समय–समय पर सामाजिक मान्यताएँ उनमें प्रश्रय पाकर परम्परा का स्वरूप धारण करती गई। अनेक वर्षों के पश्चात् लिंगायत संत अल्माप्रभु का जीवनचरित्र मंच का विषय बनाया गया जो वस्तुतः परम्परागत शैली में प्रयोग कहा जा सकता है।

यक्षगान और कथकलि

कथकलि केरल का नृत्यनाट्य है । कला की दृष्टि से उसकी सूक्ष्म अभिव्यक्ति लोकजीवन की अनेक अंशों में समुचित व्यंजना है । लोकपरक अभिव्यक्ति के साथ शास्त्रीय पक्ष भी कथकलि में समादृत है। पृष्ठभूमि में कथा-पाठ होता है और मंच पर पात्र अपनी मूक मुद्राओं और अभिनय द्वारा नाटकीय तत्त्व की उपलब्धि करते हैं।

यों तो कथकलि की प्राचीनता निःसंदेह मान्य है, तथापि १८ वीं शताब्दी के लगभग इसका विकास हुआ। इसकी उत्पत्ति के विषय में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। दूसरी शताब्दी में रचित तमिळ काव्य 'शिलप्पदिकारम्' में एक चक्कीयार जाति का उल्लेख मिलता है। उसके समय में प्रचलित 'कुट्टीअाट्टम' से कथकलि का संबंध जोड़ा जाता है। किंवदन्ती है कि कालीकट के राजा जमोरिन ने तत्कालीन प्रचलित लोकनृत्य के आधार पर 'कृष्णअट्टम्' नामक एक नाट्यरचना कथकलि शैली में तैयार की। उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली। परिणामतः एक पड़ौसी राजा ने नम्बूदरी ब्राह्मणों की सहायता से 'रामअट्टम्' तैयार किया। 'कथकलि' शब्द का अर्थ है संगीत में निबद्ध कथा। नृत्य होते हुए भी अभिनय प्रसाधन कथकलि में प्रमुख है। साधारण से उन्नत मंच पर 'त्रिशला' (पर्दा) की व्यवस्था, चेहरे लगाना, रूपसज्जा, सभी प्रकार के पात्रों का अभिनय, चेंडके (नगारे), मद्दलम (मृदंग), बांसुरी, मजीरे आदि वाद्यों का मिलाजुला वातावरण नाट्य की सृष्टि ही अधिक करता है। नाट्यों में जिस प्रकार दृश्य योजना होती है, ठीक उसी प्रकार अनेक दृश्यों में एक ही कथा

प्रस्तुत की जाती है ।

प्राय: केरल के कथकलि नृत्य से यक्षगान नाटकों की तुलना की जाती है । जहाँ तक वेशभूषा, भावभंगिमा, मुद्राएँ और नृत्य का प्रश्न है, यक्षगान नाटक कथकलि के काफी निकट है । अन्तर केवल अभिव्यक्ति में है । दोनों के प्रदर्शन और अभिनय का ढंग अलग है । विषयवस्तु के संगठन में अधिक सौन्दर्य यक्षगान नाटक के अन्तर्गत निहित है । यद्यपि लोककलाकारों द्वारा इनका निर्माण होता है तथापि लोकमंच की स्वाभाविक विशेषता एवं सौन्दर्य रचना की भावगरिमा में कहीं भी शैथिल्य नहीं दीख पड़ता । कथकलि का आधार लम्बी रचनाओं में से चुने हुए सुन्दर अंश होते हैं तथा यक्षगान नाटक अपने आप में परिपूर्ण और व्यवस्थित रचना होती है ।

यक्षगान नृत्यनाट्य की कोटि में ही गिने जाते हैं । भरतमुनि ने नाटक को दृश्यकाव्य कहा, यद्यपि उसमें पद्य और गद्य दोनों का समावेश आचार्यों ने स्वीकार किया है । यक्षगान नाटक में गीत और नृत्य का सामंजस्य जनसुलभ रुचि के अनुसार पाया जाता है । संवाद का निर्वाह भी गीतों द्वारा होता है । कथकलि में कथा पद्य के माध्यम से क्रमश: खुलती जाती है । नृत्य के साथ पात्रों का अभिनय प्रदर्शन और संवाद गायन इस ढंग से चलता है कि लोग घंटों बैठे रहते हैं । कैसा ही पात्र क्यों न हो वह पद्य में भाषण करेगा; इससे कहना होगा कि ऐसे लोकनाटकों का अधिकांश आधार लोकगीत है ।

लोकगायकों की परम्परा आन्ध्र और कर्नाटक के ग्रामों में इस कला को सम्हाले रही । खुले मंच पर इन नाटकों का प्रदर्शन समय-समय पर गांवों में होता है । गांव के किसी भी व्यक्ति अथवा कुछ लोगों के मिलेजुले सहयोग से नाटकमंडलियों की आर्थिक कठिनाइयां हल हो जाती हैं । सहयोग देने की यह प्रथा भारतीय ग्रामों में कोई नई बात नहीं है । जातकग्रन्थों में धनीमानी लोगों द्वारा नृत्यनाट्य आदि उत्सवों के आयोजन करने के अनेक उल्लेख मिलते हैं । दर्शकगण भी कलाअभिनय आदि से प्रसन्न होकर सहायता प्रदान करते थे । तमिळ के प्रसिद्ध कवि इलंगू ने अपने काव्यग्रन्थ में चोल की राजधानी

पुहार के मेले का वर्णन किया है। उसमें नृत्य, नाट्य और मनोरंजन प्रभृति का विस्तृत वर्णन है।

वर्तमान यक्षागान नाटक की रक्षा का श्रेय लोकगायकों को है। इन नाटकों के लिये किसी तरह का बन्धन नहीं है। खुला मंच, दर्शकों की कोई सीमा नहीं। कुछ वर्ष पूर्व इस परम्परा को जीवित रखने के हेतु कवि वल्लतोल के केरल कलाकेन्द्र की भांति यक्षगान कलाकेन्द्र स्थापित करके एक समिति की स्थापना की गई है। इस समिति के प्रयत्न से शिक्षित समाज का दृष्टिकोण इस दिशा में उन्मुख होने लगा है।

प्रारम्भ में यक्षगान में किसी क्रमबद्ध कथा का अभिनय नहीं होता था। लगता है, एक या दो पात्र किसी व्यक्ति या देवता की गाथा गाया करते थे। बाद में इसमें नाटकीयता का समावेश हुआ। आज के यक्षगान में पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त कुछ क्षेत्रों में भगवान विष्णु के दशावतारों से सम्बन्धित प्रसंग भी अभिनीत किये जाते हैं। इस कारण यक्षगान का एक नाम 'दशावतार मेळ' भी पड़ गया है। विजयनगर के राजाओं ने १४वीं और १५वीं शताब्दी में इन मेळों को बहुत प्रोत्साहन दिया। राजकीय सम्मान पाने के कारण इस कला का बहुत विकास हुआ।

कालान्तर में यक्षगान की दो पद्धतियाँ बन गईं: तेंकुतिट्टु और बडगुतिट्टु। पहली दक्षिणी पद्धति है और दूसरी उत्तरी। तुळुनाडु में जो कि दक्षिण कन्नड़क्षेत्र है, लगभग बीस यक्षगान मेळ सक्रिय हैं। उत्तर कर्नाटक में आठ दस मेळ से अधिक नहीं हैं। कहा जाता है उत्तर पद्धति के खेल बहुत प्राचीन हैं। उत्तर और दक्षिण दोनों पद्धतियों में अन्तर केवल यक्षगान में प्रयुक्त नृत्यरूप और रूपसज्जा के आधार पर लक्ष्य किया जाता है। दक्षिणी पद्धति पर केरल के कथकलि का प्रभाव है। बडगुतिट्टु (उत्तरी पद्धति) के प्रति विश्वास किया जाता है कि वह शुद्ध विद्या है।

रंगस्थल

यक्षगान बयलाट की मंडलियों के मुखिया को 'वीळय' (पांच पान, एक

सुपारी, कुछ सिक्के) देकर निमंत्रित करने की प्रथा गांवों में आज भी है। मंडलियाँ घूमती रहती हैं। खेल खुले मैदान में होते हैं। घुमन्तु मंडलियों के पास अपने तंबू होते हैं। नारियल के मंडप बनाये जाते हैं तथा कई औपचारिकताएँ की जाती थीं। 'रसिक' पुत्तिगें ने इस सम्बन्ध में बड़ा विस्तृत वर्णन किया है: 'रंगस्थल का आकार सभा लक्षण के अनुसार अर्धचन्द्रकार या चौरस होता है। 'पंचहस्तेन विस्तीर्ण दशहस्तेन चोन्नत' वाली उक्ति के अनुसार रंगस्थल का निर्माण होता था। रंगस्थल का मुख उत्तार या पश्चिम की ओर ही रहता है। चारों ओर चार खम्भे गाड़े जाते हैं जिन पर मंडल का पंदल खड़ा रहता है। खम्भों पर आम के कँवले पत्ते ढंग से बाँवे जाते हैं। नीचे दो हाथ के अंतर पर तीनों तरफ रस्सी या बाँस बाँधा जाता है। अगर कहीं उस दिन चूडामणि प्रसंग हो तो एक ताजा पेड़ ही रंगस्थल के बाजू में गाड़ा जाता है।

वीळय निमंत्रण के निश्चित दिन सुबह ही मेळ की सामग्री लाने के लिए रसोइया आदि गाँव के मुखिया के पास पहुँचते हैं और उनको एक 'बडारदमने' (वसतिगृह) दिखाया जाता है। मेळ के कहार जब सामग्री की पेटी ढोकर गाँव की पगडंडियों से गुजरते हैं तो तभी से लोगों में उत्साह का वातावरण फैलता है । बच्चे तभी से मेळ के लोगों का पीछा करते हैं और प्रसंग पूछते हैं। औरतें काम जल्दी खतम करती हैं। लड़कों को दिन में ही सुलाते हैं रात की तैयारी में।

सूर्यास्त के समय तक आट की खबर गाँव भर में फैल जाती है और उसकी पुष्टि के लिए गाँव के किसी उन्नत टीले पर चंडे, मद्दले, ताळ; जागरे को वीररस की ताल में द्रुत गति से करीब पन्द्रह मिनिट तक बजाते हैं। इस क्रिया को 'केळि' कहते हैं।

मेळ के लोगों को पडि पनियार (खाने पीने की सामग्री) मुखिया से मिलता है। रसोइया ब्राह्मण रहता है। खाना बिना किसी जातिपांति के भेद के सामूहिक होता है । ठीक साढ़े छह बजे भागवत् प्रधान वेशधारी, स्त्री वेशधारी पुरुष, हास्यकार कोडंगी, बालगोपाल—वेशधारण करनेवाले दो छोटे

वालक चौकी में आते हैं । चौकी उस जगह को कहते हैं जहाँ वेशभूषा, साज-सज्जा, पहनावा वगैरह होता है और वहीं पर स्वस्तिका, भगवान का प्रतीक किरीट आदि रहता है । यह रंगस्थल के पास ही रहता है । वहाँ चार-पाँच दीपदान रहते हैं जिनकी रोशनी में ही कलाकार मुखवर्ण लगा लेते हैं ।

एक सेर चावल को केले के दो पत्तों पर डालकर उस पर दो नारियल रखे जाते हैं जो लक्ष्मीनारायण, शिवपार्वती, गणेश गौरी के प्रतीक स्वस्तिक माने जाते हैं । इधर रंगस्थल के सामने और वगलों में लोग जमने लगते हैं और उधर भगवान की पूजा कर भागवत गणेश की स्तुति गाने लगता है– "गजमुख दवगे गवपगे ।" तव रंगस्थल प्रवेश कोडंगी भागवत्, मशाल सहवादकों के साथ होता है । भागवत् रंगस्थल के पीछे खड़े हो कर अनेकों देवी–देवताओं की स्तुति लयवद्ध संगीत स्वर में गाता है । उनकी ताल में कोंडगी नाचता है । कुछ देर तक यही नाचता है, तव तक वालगोपाल (दो छोटे वालकों का वेश) तैयार होता है । यह वेश भी भगवान, ऋषि-मुनियों तथा कलाकारों के स्तुति-गान से प्रदर्शित किया जाता है ।

भागवत के दाहिनी तरफ़ मृदंगवादक और वायीं तरफ़ चंडेवादक रहते हैं । श्रुतिवादक पीछे रहता है । भागवत् के आजूवाजू में प्रवेश–निर्गमन होता है । भागवत् के सामने एक पीठ रहता है जो मौखिक विवरण के आधार पर कभी रथ, कभी सिंहासन, कभी दर्भासन वन जाता है ।

फिर रंगस्थल में किरीट के प्रतीक में गणपति-पूजा होती है । वालगोपाल चले जाते हैं । उनके वाद स्त्रीवेशों का एक जोड़ा आता है । उनका नर्तन होता है । प्राचीनकाल में इस जगह पर देवदासियाँ नाचती थीं, आजकल स्त्रीवेशधारी पुरुष । इन्हीं स्त्री वेशधारियों के नर्तन के वीच उनसे आट खिलाने वाले को गौरव देने के लिए सलामी सुनायी जाती है ।

इनके नर्तन के वाद आट का पूर्वरंग समाप्त हो जाता है । पीठ के प्रकरण व पूर्वरंग के वाद प्रसंग पीठिका शुरू होती है । दूर-दूर के लोग आकर जम जाते हैं । फिर एकवार वीररस के ताल में वाजे वजते हैं । कथारंभ की

सूचना भागवत् गाते हैं । उधर चौकी में प्रारंभिक वेश तैयार हो जाते हैं। करीव–करीव हर वेशधारी को तीन घंटों की तैयारी की आवश्यकता रहती है। अपने–अपने पात्रों के लिए लायक वेशधारण हर पात्रधारी स्वयं कर लेता है।[1]

अभिनय

यक्षगान में पात्र का प्रवेश उल्लेखनीय होता है। पर्दे की आड़ से जव पात्र प्रकट होता है तव वह प्रेक्षकों के समक्ष पीठ करके नृत्य करता है। नृत्य की ताल उस समय जो होती है उसके वोल हैं: "तैंत तैंत धिन्ना कड्तक। धिन्ना घें धिन्ना कड्तक धिन्ना। घें घें कड्तक। धिन्ना कड्तक, घें घें कड्तक। धिन्ना कड्तक। तैंत तैंत धिन्ना धिन्ना कड्तक धिन्ना घें। धिग्धी कड्तक। धिन्ना कड्तक। कड्तक घें, तैंत तरिकिट, कड्तक तैंत धिन्ना।" इस ताल में नृत्य करते हुए पात्र के केवल पैर और मुकुट दिखाई देते हैं। इससे प्रेक्षक के मन में कुतूहल उत्पन्न होता है। फिर ताल परिवर्तित की जाती है और वहुत समय के वाद वह पूर्णतः प्रकट होता है। आगत वेशों में मुख्यवेश आकर मंच के वीचोवीच एक सिंहासन पर आसीन होता है। प्रत्येक अभिनयात्मक अंश के लिए ताल अलग होती है। ध्यान देने पर लगता है कि यक्षगान में एक प्रकार का पौरुषेय ओज है। ताण्डव के लक्षणों का इसमें अनुकरण हुआ जान पड़ता है।

प्रमुख कृतियां

यक्षगान वहुत पुरानी विधा है। कहते हैं सर्वाधिक प्राचीन प्रति ओषय मंत्री कृत 'गुरडाचलम्' है। कन्दुकूरि रुद्रय की रचना 'सुग्रीवविजयम्' भी पुरानी कृति मानी जाती है। कन्दुकूरि कृष्णदेवराय के समय हुए थे। स्वयं कृष्णदेव की पुत्री ने 'मारीचीपरिणय' की रचना की थी। ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि उसके दरवार में 'तालुकोंड' नामक नाटक का प्रदर्शन हुआ करता है। अन्य यक्षगानों में 'वेनुकोंड विराट पर्व नाटक' (वेकटदासुकृत),

---

1. कल्पना, १९६७, पृ० ४८।

'रामदास', 'किराताजुर्नीयम्', 'गंगा गौरी विलासम्', 'एकलवेसंकथ', 'त्रिपुरसंहारम्', 'शिवपारिजात', 'सीताकल्याणम्' आदि प्रसिद्ध हैं।

महाराष्ट्र के शाहजी ने अपने शासनकाल में स्वयं यक्षगानों की रचना की थी। कहते हैं १८ वीं शताब्दी में भी बहुत से यक्षगान लिखे गये। आन्ध्र विश्वविद्यालय ने यक्षगानों के सम्बन्ध में शोधकार्य को प्रोत्साहन दिया है। अब तक अनेक पुरानी कृतियाँ विश्वविद्यालय के माध्यम से प्रकाश में आयी हैं। शाहजी के समय लिखेगये तेलुगु यक्षगानों के अतिरिक्त कुछ ऐसे नृत्यनाट्य भी मिलते हैं जिनकी भाषा सधुक्कड़ी है। तंजाऊर के 'सरस्वतीमहल' ग्रन्थालय में कुछ कृतियाँ इस सन्दर्भ में देखने योग्य हैं। ताड़पत्र पर लिखित इन कृतियों में शाहजी महाराज की रचना 'विश्वातीत विलास नाटकम्' बहुत उल्लेखनीय है। भाषा की जानकारी के उद्देश्य से उसका कुछ अंश हम यहां उद्धृत कर रहे हैं।

नाटक का आरंभ शिववंदना से होता है—

जय पार्वती—रमरण। जय पन्नागाभरण।
जय असुर—संहरण। जय अनंग—हरण।

फिर वसुदेव-नन्दन कृष्ण की स्तुति के बाद सूत्रधार प्रवेश करता है—

सूत्रधार—ऐसे नाट्यारम्भ करे। विश्वातीत विलास नाटक सुकवि विरचित। सो नाटक। इस रंगभूमि बीच गोलरी भाषा भूपित। हम नृत्य करे चाहे। याके सकल विघ्नहरनको कवि इष्ट-देवता स्तुति कर देखो।

गणेश—वन्दनाके बाद सूत्रधार सूचित करता है कि नारदजी ब्रह्मलोक से विष्णुके दर्शन करनेके लिए आये हैं।

शाम (विष्णु)—सुनो नारद महामुनि कहसूं आये? क्या खबर सो कहो।

नारद—स्वामी में तो ब्रह्मलोक सूं आया। वहांके खबर तो ब्रह्माने कहा। आप बड़ा, आप सूं कोई बड़ा नहीं। सब दृष्टि तो संवार मैंने किया। तब निर्माण मैं किया। या सो मों सूं बड़े और कोई नहीं। ऐसे कहे। वा सों मैंने कहा सब सूं बड़े विष्णुजी। ऐसे कहे। विष्णुजी काहेके बड़े। मैंने निर्माण किया तो वे संरछन करेंगे।

यह सुनकर विष्णुकी आज्ञासे नारद मुनि ब्रह्माको बुलाकर लाते हैं।

सूत्रधार–ऐसे आये चतुर्मुख सूं विष्णुजी बोले देखो। विरंचि तू काहे सो बड़ो कहवे। कह दे सब तू मेरे आगे।

नारद–विधिजी तुम काहे कूं बड़ा कहावत है। चौमुखा है इसूं ना जानो, बुढ्ढी दाढ़ी है इससूं बड़ो कहवत है क्या? ये बातें छोड़ देऊ। विष्णुजी के बात सुन लेउ।

ब्रह्मा–सुन मूर्खा, तू क्या जाने उनके एक बात सुन तू भूल गया। ऐसे मूर्ख बाते मत कर एक बात सुन।

नारद–विष्णुजी और तुमें हिमत हो तो होने दो।

इस प्रकार बहुत वादविवाद के बाद नारदजी दोनों को जगदम्बा माता पार्वती के पास ले जाते हैं। ब्रह्मा–विष्णु जगदम्बा पार्वती को नमस्कार कर अपना–अपना बयान देते हैं। पार्वतीजी उन्हें शिवजी की खोज में भेजती हैं। उनके जानेपर विरह–पीड़ित लक्ष्मी–सरस्वती आती हैं। पार्वतीजी उन्हें आश्वस्त करके कुछ देर प्रतीक्षा करने के लिए कहती हैं। भक्तिप्रधान इस नाटक को भी अवसर पाकर नाटककार (लक्ष्मी–सरस्वती की विरह–वेदना का आधार लेकर) विप्रलम्भशृंगार का पुट दे देता है।

इतने में ब्रह्मा–विष्णु हार थककर लौट आते हैं। दोनों पार्वती के सम्मुख परमेश्वर शिव को अपने से बड़ा मानते हैं और स्वीकार करते हैं कि आपने हमारा गर्व दूर कर दिया है। पार्वती से वे परमेश्वर शिव के दर्शन की प्रार्थना करते हैं। पार्वतीजी नवसिद्ध जोगी को भेजकर शिवजी को बुलवाती हैं।

सूत्रधार–ऐसे नवसिद्ध जोगीने जा कहे सो सुन परमेश्वर (शिवजी) आये देखो।

और मंचपर चन्द्रकला, रुद्राक्षमाला, रुण्डमाला, त्रिशूल, वाघांबर, डमरू, धनुष, सर्पभूषण, गंगा, नन्दी आदि सहित परमेश्वर शिव प्रवेश करते हैं। दर्शन से सन्तुष्ट होकर ब्रह्मा–विष्णु उनकी स्तुति करते हैं। शिवजी उनके गर्व और भ्रम को दूर करते हैं।

सूत्रधार–ऐसे बोलो सो परमेश्वर के वचन सुन सब जन आनन्द बधाये

देखो। और शिव-वन्दना—'जय देव जय देव जय देव शम्भो' के साथ नाटक समाप्त होता है।'[2]

कहीं कहीं यक्षगान मंच पर गणेश के कीरीट की पूजा की जाती है, भागवतार भूमिदेवी, अष्ट दिक्पाल आदि विविध देवताओं के पद गाता है। गान सम्पन्न होने पर स्वयं नृत्य करता है और तत्पश्चात् विदूषक से उसका गद्य-संभाषण होता है। नांदी समाप्त होते-होते आधी रात हो जाती है।

आजकल जो 'यक्षगान' उपलब्ध हैं वे तीन चार शताब्दी पुराने हैं। इनमें वृत्त, छंद, षट्पदी आदि का परिस्थिति के अनुकूल प्रयोग हुआ है। राग पद्धति के अनुसार यक्षगान में लगभग चालीस पचास राग तक उपयोग में लाये जाते हैं। कुल गीतों की संख्या सौ से अधिक होती है। कर्नाटक संगीत में प्रचलित रागों के अतिरिक्त कुछ राग हिन्दुस्तानी पद्धति से मिलते हुए भी प्रचलित हैं किन्तु उनके सुनने पर यक्षगान की स्वतन्त्र संगीत शैली का आभास भी हमें मिलता है। त्वरित गति, गान का उदात्त रूप तथा लोकपरक शैली ने मिलकर यक्षगान को निजी रंग प्रदान किया।

यक्षगान को वर्तमान समय के अनुसार अधिक मंचीय और उपयोगी बनाने के लिए शिवरामकारंत ने बहुत उल्लेखनीय कार्य किया है। उनकी कृति 'यक्षगान बैले' को साहित्य अकादमी से पुरस्कृत भी किया गया तथा स्वीडन की अन्तर्राष्ट्रीय नृत्य संस्था ने उन्हें अपनी सेवाओं के लिए सम्मानित भी किया। सन् ६२-६३ के मध्य कारन्त ने अपने द्वारा सम्पादित 'यक्षगान बैले' के चालीस से अधिक प्रदर्शन किये। इस शैली की सम्भावनाएं फिर भी अभी बहुत हैं। प्रयोग के माध्यम से यक्षगान भविष्य में उत्कृष्ट रूप प्राप्त कर सकता है।

---

2. धर्मयुग, २२ मई, १९६६।

कठपुतली

डॉ० महेंद्र भानावत

काठ के घड़वाली, बिना पाँव की वह गुड़िया, जो अपने गोल-चपटे चेहरे, लम्बी-मोटी आँखें, उभरे-ऊँचे कान, फूले हुए नथूने, लटके-खुले ओठ तथा चपटी-चौड़ी कनपटी लिए रंगबिरंगी वेशभूषा में अपनी रूढ़िगत रूपसज्जा एवं आकार-प्रकार के साथ लचक लिये होती है, कठपुतली कहलाती है। इन पुतलियों में 'राजापुतली' लम्बे झग्गे पहने होती है। ये झग्गे रुपहली, सुनहली, चौड़ी तथा पतली कोर से सजे होते हैं। झग्गों के नीचे साधारण कपड़े का पोतिया पहना रहता है। इनके एक हाथ में तलवार तथा दूसरे में ढाल रहती है। ये पुतलियाँ चौदह इंच से सोलह इंच तक लम्बी होती हैं। राजदरबारी तथा अन्य पुतलियाँ अपेक्षाकृत इनसे छोटी होती हैं। वे आठ इंच से दस इंच तक लम्बी होती हैं। कठपुतली नचानेवाला सूत्रधार नट अपने मुँह में एक विशेष प्रकार की सीटी

रखता है, जिससे कठपुतलियों की बोली निःसृत होती है। इसे ढोलक बजाने वाली महिला अपनी बोली में उलथाकर दर्शकों को खेल से परिचित कराती है।

कठपुतली शैलियाँ

भारतीय कठपुतलियों की विवध शैलियों में बंगाल की छड़ीविधि, राजस्थान तथा उड़ीसा की सूत्र-संचालित, उत्तरप्रदेश की गुलाबो-सिताबो, दक्षिण भारत की वम्मलोटम तथा आंध्र की छायापुतली शैलियाँ प्रसिद्ध हैं। राजस्थान में कठपुतलियों की एक ललुआ शैली और प्रचलित है। इसमें ललुए (बच्चे) की शक्ल का काठ का बना एक चेहरा होता है, जिसके दो हाथ तथा दो पाँव अलग–अलग बने होते हैं। इन्हें नचानेवाला अपने दाहिने हाथ की अंगुलियों में धारण करता है और हथेली में एक गुदगुदा कपड़ा डाल कर इन अलग–अलग अंगों को आपस में जुड़े हुए होने का भ्रम पैदा कर नाना करिश्मे दिखाता फिरता है।

इन सभी शैलियों का घुमक्कड़, सरल, सुरम्य तथा कुतूहलप्रधान स्वरूप आज भी विद्यमान है। ये सभी प्रकार अपने–अपने क्षेत्रों के विशिष्ट कठपुतली-परिवारों के पास परम्परा के रूप में उनकी धरोहर बने हुए हैं। इन सभी शैलियों ने अपनी पुरानी रचनाओं में धार्मिक, पौराणिक तथा ऐतिहासिक प्रसंगों के प्रतिपादन में कुतूहलप्रधान तथा विस्मयकारी पात्रों को ही बढ़ावा दिया है जिससे वे दर्शकों में विस्मय उत्पन्न करने में सक्षम हो सकें। पशुपक्षियों, राक्षसों, भूतप्रेतों, वानरों तथा दैत्यों को उनमें विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। इन सब प्रकार के पुतली–प्रदर्शनों में वाचनविधि, गायनविधि तथा नृत्य–नाट्य विधि भी मानवी नाट्य से भिन्न तथा पुतली पात्रों के योग्य रखी गई है। पुतलियों को यांत्रिक बनाने की अपेक्षा उनके चलनेवालों में स्वयं यंत्र बन जाने की प्रवृत्ति इनमें विशेष दिखाई देती है जिससे वे पुतलियों के निर्जीव शरीर में प्राण बनकर संचार करते हैं।[1]

---

1. कठपुतली कला और समस्याएँ; देवीलाल सामर, पृ० २६.

राजस्थानी पुतली

कठपुतलियों की इन विभिन्न शैलियों में राजस्थान की सूत्र-संचालित पुतलियों का अपना विशेष स्थान है। इन पुतलियों की यहाँ बड़ी समृद्ध परम्परा रही है। इस परम्परा के पीछे सैकड़ों पुतलीकारों की प्रतिभाएँ, हजारों पुतलियों के प्रयोग, लाखों उँगलियों का श्रमकौशल और जनताजनार्दन का मनोबल निहित रहा है। पुतलीकार जब मंच पर अपनी पुतलियों का प्रदर्शन करने आता है, तो वह अपनेआप को पुतलियों में लवलीन कर स्वयं एक पुतली बन जाता है। ये पुतलियां स्वयं पात्र नहीं होतीं। वे तो नकल बन कर हमारे सामने आती हैं और असल का आलम देकर चली जाती हैं। नकल को असल के रूप में पेश करने का यह करिश्मा पुतलियों के ही बूते का है। पुतलियों में प्राणप्रतिष्ठा का सबसे बड़ा रहस्य भी यही है।

राजस्थान इन कठपुतलियों की जन्मस्थली कहा जाता है। इस संबंध में यहां कई प्रकार की कथा-किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। यथा—

(१) सेवकराम नामक एक बढ़ई था जो काठ के खिलौने बनाने का कुशल कारीगर था। उसके खिलौने इतने सजीव एवं संजीदा होते थे कि उनमें दर्शकों को असल-नकल का भेद करना कठिन हो जाता था। परन्तु उसे इस बात की चिंता हमेशा सताती रहती थी कि इन खिलौनों के पीछे रात दिन एक करने पर भी ये निर्जीव ही रहते हैं। वह घण्टों उन्हें टुकुर-टुकुर कर देखा करता, विचारों में डूब जाता और कभी-कभी तो उन खिलौनों के साथ स्वयं भी जड़ और अचल बन जाता।

यह बात बहुत पुरानी है। इतनी पुरानी जब पृथ्वी पर दैवी-शक्तियों का प्रवाह उत्कर्ष पर था और तब देवता अपने वाहन पर बैठ कर मृत्युलोक में आया करते थे।

एक दिन शिव-पार्वती भी भ्रमण करते-करते सेवकराम के उधर से गुजर रहे थे कि पार्वती की निगाह सेवकराम और उसके बनाये सुन्दर खुबसूरत खिलौनों पर पड़ी। पार्वती ने शिवजी को कहा-'भगवन्, क्या ही अच्छा हो

यदि ये सजीव होकर उछलने नाचने लगें?' शिवजी ने पार्वती की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया तो पार्वती ने हठ पकड़ लिया। शिवजी ने उसे बहुतेरा समझाया बुझाया पर वह अपनी बात पर दृढ़ रही। अंत में शिवजी को पार्वती की बात मानकर खिलौनों में प्राणप्रतिष्ठा करनी पड़ी। देखते ही देखते सारे खिलौने कूदकने फुदकने और चहचहाने लगे। सेवकराम यह सब चमत्कार देख फूला न समाया। वह उछलते किलकारी मारते खिलौनों को पकड़ने चला मगर यह देखकर स्तब्ध रह गया कि उसके स्पर्श मात्र से सारे खिलौने पुनः निर्जीव हो गये। वह बड़ा हताश एवं खिन्न हुआ। कहते हैं उसी समय आकाशवाणी हुई कि 'सेवकराम, ये खिलौने अब सजीव नहीं हो सकते। यदि तुम चाहो तो धागों के माध्यम से इन्हें चलता फिरता सजीव रूप दे सकते हो।' सेवकराम ने एक--एक कर सभी खिलौनों को धागों के सहारे खड़ा कर दिया और अपनी अंगुलियों की कौशल कारीगरी से उन्हें नचाकर किसी तरह अपना दुखड़ा भुलाया।

यहीं से कठपुतली का उद्‌भव हुआ समझा जाता है। कठपुतली भाट जब कठपुतली का खेल प्रारम्भ करता है तो ढोलक वाली महिला सर्वप्रथम जो स्तुति-परक छंद उगेरती है उसमें भी कठपुतलियों के उद्‌भव का शिवजी का उक्त कथासंकेत परिलक्षित होता है। यथा—

बैल चढै शिवजी मिलै पूरण हो सब काम।
खेल काठपुतली करां लैके हरि का नाम॥

(२) यह भी कहा जाता है कि शिवजी ने पार्वती का दिल बहलाने के लिए भाट की सृष्टि की और उसे एक पुतली देदी ताकि वह उससे पार्वती का भरपूर मनोरंजन कर सके। परन्तु भाट शिवजी की ही प्रशंसा में मशगूल होगया, पार्वती का मनोरंजन करना वह भूल ही गया। इस पर शिवजी बड़े क्रुद्ध हुए फलतः उन्होंने उसे स्पर्श से च्युत कर पृथ्वी पर फेंक दिया। यहाँ उस भाट ने उस पुतली के माध्यम से ग्राम लोगों में मनोरंजन कर अपना उदरपोषण प्रारम्भ कर दिया। उसकी इस कला से कई अन्य लोग प्रभावित हुए। उन्होंने

भी उसके देखादेख पुतली नचाना प्रारंभ कर दिया। आगे जाकर ये ही पुतलीनचैया कठपुतली भाटों के रूप में जाने पहचाने लगे।

(३) एक किवदंती यह भी है कि कठपुतली भाट प्रारंभ में नाचने, गाने, शारीरिक करतव दिखाने तथा नटनाटकवाजी करने के कारण नट कहलाते थे। ब्रह्मा के मुख से इनकी उत्पत्ति हुई और स्वयं ब्रह्मा से ही इन्हें नाचने गाने का वरदान प्राप्त हुआ। राजा विक्रमादित्य के समय में 'सिंहासनवत्तीसी' नामक कठपुतली खेल दिखानेवाले भी ये ही लोग थे। अपनी कठपुतली द्वारा राजा-महाराजाओं को मनोरंजित कर उनसे इनाम इकराम प्राप्तकर ये लोग वाहवाही लूटकर राजदरबार की शोभा वढ़ाते थे परन्तु समय का एक पलटा ऐसा आया जबकि ये लोग दाने-दाने के लिए मोहताज हो गये। सामाजिक और आर्थिक हीनता ने इन्हें बुरीतरह आ दबोचा। फलस्वरूप छोटी-छोटी जातियों के याचक बनकर इन्हें अपना पोषण करना पड़ा। तब ये नट शूद्रजातियों में भाटाई करने के कारण भाट नाम से सम्बोधित हुए।

उपर्युक्त कथा-किवदंतियां कोरी कपोलकल्पित नहीं हैं। कठपुतली कला-विज्ञान के कई बारीक तंत्र-सूत्र इनमें उद्घाटित हुए मिलते हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सबसे पहले कब कौनसा खेल कठपुतलियों के माध्यम से प्रदर्शित किया गया, इस संबंध का इतिहास अब तक मौन ही कहा जा सकता है। कठपुतली भाटों के विविध सूत्रों से यह अवश्य कहा जा सकता है कि किसी समय ये लोग अपनी इस कला में बड़े प्रवीण एवं पारंगत थे। रंगमंचीय साजसज्जा, पुतलियों के परिधान, अलंकरण एवं प्रदर्शन आदि की दृष्टि से आज की तुलना में ये लोग पहले कहीं अधिक उन्नत एवं समृद्ध थे।

प्रसिद्ध है कि विक्रमादित्य के समय तो स्वयं विक्रमादित्य का सिंहासन ही कठपुतलियों द्वारा निर्मित था जो दिन में सम्राट के सिंहासन के रूप में प्रयुक्त होता था और रात्रि को वही कठपुतलियों का रंगमंच बन जाता था। उस सिंहासन में सिंहासनबत्तीसी नामक कठपुतली नाटिका की बत्तीस ही पुतलियां

निवास करती थीं जो रात को क्रियाशील हो जाती थीं । इनके विविध दृश्य उपस्थित करने के लिए कई रंगीन यवनिकाओं का प्रयोग होता था । इनके परिधान अलंकरण आदि भी सच्चे होते थे जो राजा-महाराजा तथा धनिकवर्ग द्वारा भेंट स्वरूप दिये जाते थे। इनमें भी तैलदीपों का प्रयोग होता था जिनसे पुतलियां प्रकाशित तो होती ही थीं पर उनपर एक अद्वितीय आभा के दर्शन भी होते थे । उनके दल में लगभग दस पुतलीकार होते थे जिनमें गायन तथा वाद्यवादन के लिए स्त्रियों का उपयोग होता था। उनके प्रदर्शनों में सौ-सौ, दो-दो सौ पुतलियां काम आती थीं और उनकी लंबाई-ऊँचाई आज की पुतलियों से काफी अधिक होती थी ।[2]

सिंहासनबत्तीसी खेल के पश्चात् पृथ्वीराज-संयोगिता का कथानक इन पुतलियों में अधिक चर्चित रहा और उसके बाद अमरसिंह राठौड़ और शाहजहां की इतिहासप्रसिद्ध घटना पुतली नाटिका की सर्वाधिक लोकप्रिय घटना बनी । राजस्थान में आज भी कठपुतली नचानेवाले सभी भाट अपनी पुतलियों में अमरसिंह राठौड़ की शौर्यगाथा को ही प्रदर्शित करते हुए पाये जाते हैं ।

अमरसिंह राठौड़ की कथा

नागौर के राजा अमरसिंह राठौड़ का शौर्य-कथानक न केवल पुतलियों में, बल्कि राजस्थानी 'ख्यालों' में भी बड़ा लोकप्रिय रहा है । कठपुतलियों के खेल में यह कथानक मुगल दरबार से प्रारम्भ होता है । आगरे के लाल किले में शाहजहाँ का दरबार लगा हुआ है । सात दिन में लौटने का कौल कर अमरसिंह अपनी नवपरिणीता के प्रेम में छः महीने गुजार देता है, तब बादशाह अपने साले सलावतखाँ के सिखाने में आकर अमरसिंह पर खफ़ा हो उठता है और दंड की घोषणा करता है । इसपर अमरसिंह का रजपूती खून उबल पड़ता है । वह दंड की रकम जमा कराने के बहाने दरबार में उपस्थित होता है और बादशाह के पास जाने को उद्यत होता है कि सलावतखां उसे रोक लेता है । दोनों की

---

2. लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ; देवीलाल सामर, पृ० १९१.

आपस में तकरार होती है ।

सलावतखां– सात दिन का कौल किया, छ महीने गुजर गया ।
हाड़ी रानी व्याह के हिन्दू मुजरे तक नहीं आया ।
सात दिन के सात लाख रुपया जुर्माना रखो ।

अमरसिंह– तीन लाख ले लो ।

सलावतखां– नहीं, चौदह लाख ।

अमरसिंह– एक पाई नहीं दूंगा ।

सलावतखां– हटवे हिन्दू गंवार ।

अमरसिंह– आज कहा गंवार, कल देगा गाली ।
यह ले चोट अमरसिंह की, भरी है कि खाली ।।

यह कहते ही अमरसिंह सलावतखां का धड़ उड़ा देता है। इसके वाद वादशाह पर हमला करता है । पर वादशाह वहां से भाग निकलता है । अंत में अमरसिंह का साला अर्जुन गौड़ अमरसिंह को अपने साथ ले जाता है और धोखे से मार गिराता है । इतने में अमरसिंह का भतीजा रामसिंह वहां आ निकलता है जो अर्जुन गौड़ का धड़ उड़ाकर अपने चाचा का वदला चुकाता है ।

विशेषताएं

राजा-महाराजाओं के अतिरिक्त अमरसिंह के इस खेल में डुगडुगी वालों का 'और वजेगी, थोड़ी सी और वजेगी' कहकर जोर–जोर से डुगडुगी वजाना, चोवदार का 'जो आज्ञा' कहकर तनमस्तक होना, पहरेदार का 'नजर महरवान' कहकर राजा-महाराजाओं का स्वागत करना, पट्टेवाज का 'लाहौर का तेगा और विलायत की तलवार' चलाना, एक ही पुतली का जनाना तथा मर्दाना स्वांग भरना अथवा आगरे का देवर तथा दिल्ली की भौजाई का रूप धारण करना, वेश्याओं का 'दुपट्टा मेरा वेंगनी रंगवा दो' तथा 'सैंया तेरी गोदी में गेंदा वन जाऊंगी' गीत पर नाच की वारीकियां भरना, मालिन का 'गेंदा हजारी का फूल' वेचना, ऊंट का 'मारूजी ढोला' से 'मिरगानैणी' के देश पधारने की अरजी करना तथा नखराले गोरवंद पर लट्टू होना, घोड़े वाले जवान के वरछी

मारने पर किसी मनचली का तिरछी होना, घोड़े का 'घुड़लो कियां पलाण्यो राज' के रूप में अपनी पूंछ हिलाना, मगर का मुंह फाड़ना, धोबी के गधे का चिल्लाना तथा फूलों की झोली में होली का आह्वान करने वाले बहुरूपियों के स्वांग भरना; ये सारे कला-करिश्मे, कठपुतली के खेल में हंसी का साम्राज्य फैला कर दर्शकों को लोट पोट कर देते हैं।

घर, मन्दिर, चौपाल, चौराहा, चौक, गुवाड़ी, नोहरा, मेला-ठेला जहां कहीं भी कठपुतली-प्रदर्शन होता है, चारपाई खड़ी कर उसीका साधारण सा मंच बना लिया जाता है। इसके ऊपर एक कोने में चांद तथा दूसरे में सूरज लगी कपड़े की तिवारी लगा दी जाती है। कठपुतली भाट इस मंच को 'ताज-महल' कहते हैं। यह मंच बिना चँदोवे का होता है। यहीं से पुतलियाँ परियों की तरह उतरकर अपने कौतुक के लिए मंचस्थ होती हैं। इन पुतलियों में डुगडुगी वाला खेल में आदि से अंत तक दरबार के एक ओर दरीखाने पर बैठा रहता है। कठपुतली खेल के बीच-बीच इसकी डुगडुगी का करिश्मा संपूर्ण खेल को ताजगी प्रदान करता है।

कठपुतलियों के संबंध में प्रायः यह ठीक ही कहा जाता है कि वे मानव की अनुकृति नहीं हैं और न इस लोक की ही उपज हैं। वे किसी अन्य लोक से यहां अवतरित हुई हैं। इसीलिए उनकी संरचना, क्रियाकलाप, बातचीत, हावभाव एवं तौरतरीके मानवजीवी नहीं होकर किसी विशिष्ट जीवधारी से प्रतीत होते हैं। पुतलियों की ये अनुकृतियां असल नहीं हैं, नकल हैं और नकल में असल की प्रतिच्छाया दर्शाती हैं। यह प्रतिच्छाया इतनी पैनी और पैठी हुई होती है कि असल को भी मात करती है। असल की 'असल नकल' करने में जितनी कार-गर ये पुतलियां सिद्ध हुई हैं उतनी अन्य कोई सजीव वस्तु भी नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि ये पुतलियां जितनी जड़ लगती हैं उससे कहीं अधिक चैतन्य स्वरूप हैं। दिखने दिखाने में वैसे इनका जड़रूप भी चैतन्य ही लगता है और फिर जब ये मंच पर आती हैं तो इन्हें संचालित करने वाला अदृश्य सूत्रधार मानव स्वयं पुतली बनकर अपना शिल्पतंत्र उड़ेल देता है और तब ऐसा लगता

है कि हम किसी अन्यलोक में पहुँचकर वहां के विचित्र प्राणियों का तमाशा देख रहे हैं।

अभिव्यंजना शक्ति

कठपुतलियों का प्रयोजन मानवीय क्रिया–व्यापारों का अनुकरण करना कदापि नहीं रहा है। प्रत्यक्ष में यद्यपि ऐसा ही प्रतीत होता है परन्तु क्रिया–कौशल, अंगसंचालन, वाणीव्यवहार, तथा इनकी रचना–प्रक्रिया एवं पहनावा आदि किसी में भी ऐसा संकेत नहीं मिलता। यद्यपि कठपुतली भाट को इनके नाक, कान, आँख, मुँह, होंठ, ठुड्डी आदि को तरासने खोदने की कोई शिक्षा नहीं दी जाती है और न उसे उनके शरीर–विज्ञान का ही ज्ञान होता है परन्तु फिर भी उसके पीछे एक सुनियोजित वैज्ञानिक परम्परा अवश्य रही है जिसको अज्ञात–अजान रूप में ही वह पालन करता आ रहा है। कम से कम साधन–सुविधाओं तथा सूत्र-सूत्रधारों से, अधिकाधिक प्रभाव पैदा करने के पीछे निश्चय ही एक विशिष्ट नियमावली अथवा मोड़ रहा है। इन पारलौकिक पुतलियों के उछलने, कूदने, बैठने, खाने, आनेजाने, सोने, उठने तथा बोलने हँसने रोने के लहजे अपने अलग ही होते हैं। इनकी बोली अपनी जुदी होती है। ये केवल चहचहाती कहकहाती हैं, संकेत देती हैं, कानाफूँसी करती हैं। न मनुष्य की तरह बोलती हैं न जानवरों की तरह रिंगियाती हैं।

इनकी अभिव्यंना शक्ति बड़ी जबर्दस्त रही है। इसी अभिव्यंजना शक्ति के कारण ये सामाजिकों पर अपना विशिष्ट प्रभाव छोड़कर उनका शिष्ट मनोरंजन करती हैं। इनकी अभिव्यंजनाओं के कई रूप रहे हैं। किसी की कही हुई बात पर अपनी स्वीकृति देने के लिए नीचे मुँह कर हिलाना, अस्वीकृति के लिए सारी पुतली को दायें बायें हिलाना; हँसने अथवा मनोविनोद प्रकट करने के लिए ऊपर से पुतली हिलाना व सूत्रधार का सीटी-आवाज में खिलखिलाकर हँसपड़ना, गुत्थमगुत्था होने के लिए स्थित्यनुकूल पुतलियां हिलाना तथा वाचन द्वारा प्रभाव पैदा करना; मजलिस में बैठी पुतलियों को एक साथ किसी के स्वागत, अभिवादन अथवा स्वीकृति के लिए पूरी की पूरी वह लकड़ी ही हिला दी जाती है जिसपर

सारी पुतलियां लटकी हुई होती हैं । इसी प्रकार एक दूसरे से सवाल जवाब के लिए उनके हाथ हिलाना, रूठने के लिए कमर के बल पुतली झुकाकर घुमाना, रणक्षेत्र में युद्ध करने पर क्षिप्रगति से पुतलियों के हाथ हिलाने और पूरी पुतली को मंच पर घुमाना, किसी पर टूट पड़ने पर जोर से पुतली को उस पर गिराना तथा सूत्रधार का अपना पाँव पटकना; किसी को धुत्कारने पर पुतली के पीछे-पीछे झग्गे को हिलाते हुए चलना आदि ऐसी एक नहीं अनेक अभिव्यंजनाएँ हैं जिनके आधार पर पुतलियां रंग बरसाती हैं और अपने विलक्षण तंत्र का परिचय देती हैं ।

कठपुतली शिक्षण

कठपुतली भाट अपने बच्चों को सर्वप्रथम ललुआ पुतली चलाना सिखाते हैं ताकि उनकी अंगुलियाँ पहले उस पुतली को चलाने का कौशल प्राप्त करलें और जब वे ललुआ चलाने में दक्ष हो जाते हैं तो उन्हें धागे की पुतली पकड़ा दी जाती हैं ।

अपनी पुतलियों को ये भाट बड़ी श्रद्धा और आस्था की नजरों से देखते भालते हैं । इनमें ये देवी का वास मानते हैं और इनकी देख भाल भी उसी श्रद्धा आस्थापूर्वक करते हैं । यही कारण है कि ये पुतलियाँ वे स्वयं ही तैयार करते हैं । लकड़ी पर तरासने से लेकर इन्हें वेशभूषा पहिनाने तक के सारे कार्यों में ये लोग प्रवीण होते हैं । अपनी पुतलियों के प्रति ऊंच नीच और छुआछूत का भी ये लोग बहुत ध्यान रखते हैं ।

जब कोई भाट कठपुतलियाँ नचाने के धंधे में उतरना प्रारंभ करता है तो सर्वप्रथम वह अपनी सारी बिरादरी को दावत देता है। जुतार के अवसर पर कठपुतलियों की पूजा भी होती है । पुतलियों के सामने जोगमाया का ध्यान करके एक बकरे की बलि दे दी जाती है । उस बकरे के रक्त का टीका, धंधे में उतरने वाला नया कलाकार अपने सभी पुतलियों के लगा देता है । टीका करने के बाद वह देवी के समक्ष प्रतिज्ञा करता है कि "हे जोग माया, ममध्यां, मावलियां, चामुन्डा, पुतली मैया, मैं सदैव तेरी पूजा करता रहूंगा ।

मुझे तू रोटी-रुर्जक देना, बाहर देश-परदेश में खतरे जोखिम से बचाना, मेरा साथ देना।"[3] इस रस्म के पूर्ण होजाने के बाद बिरादरी वाले भोजन करते हैं और उत्सव पूरा हुआ समझ लिया जाता है।

शैक्षिक प्रयोग

अब तक कठपुतलियां मात्र मनोरंजन प्रदान करने वाली ही समझी जाती रही हैं। परन्तु पिछले कुछेक वर्षों में इस ओर बड़ी गहराई से सोचा समझा जा रहा है कि अन्य क्षेत्रों में भी क्या ये पुतलियां महत्वपूर्ण भूमिकाएँ अदा कर सकती हैं। विदेशों में तो इन पुतलियों के बड़े-बड़े पीठ स्थापित हुए हैं जहाँ चोटी के पुतलीमर्मज्ञ नाना प्रकार के प्रयोग-परीक्षण में लगे हुए हैं। अब तक के प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि शिक्षाजगत में इन पुतलियों का उपयोग सर्वाधिक मूल्यवान है। पुतलियों के माध्यम से भाषा, इतिहास, भूगोल, संगीत, नृत्य, चित्रकला, दस्तकारी, गणित अंग्रेजी, मनोविज्ञान आदि कोई भी विषय चाहे वह कितना भी जटिल क्यों न हो, अत्यंत सरल एवं दिलचस्पी से पढ़ाया जा सकता है। यही नहीं मंद और कुंद बुद्धिवाले, हकलाने, कुकलाने एवं समस्यामूलक, बिगड़ेल, आवारा तथा अविकसित अंगों वाले बच्चों के लिए तो ये पुतलियां रामबाण सिद्ध हुई पाई गई हैं। कई प्रकार के मानसिक रोगोपचार में भी इनका उपयोग-प्रयोग बड़ा क्रान्तदर्शी रहा है। राजस्थान के सुप्रसिद्ध पुतलीमर्मज्ञ श्री देवीलाल सामर ने उपर्युक्त सभी प्रकार के प्रयोग अपने सुप्रसिद्ध कलासंस्थान-भारतीय लोककलामंडल-में 'गोविंद कठपुतली प्रशिक्षण केन्द्र' के अंतर्गत किये हैं। शैक्षणिक कठपुतलियों के प्रशिक्षण का यह महत्वपूर्ण केन्द्र है जहाँ विविध राज्यों के प्राइमरी से लगाकर हायर-सेकन्डरी तक के शिक्षक-शिक्षार्थियों के प्रशिक्षण की सुव्यवस्था है।

---

3. किस्से कठपुतलियों के; गणेश मंत्री, धर्मयुग, २ फरवरी १९६४, पृ० ४६.

कीर्तिमान

यह प्रसन्नता की बात है कि गत दशाब्दी से हेय और हीन समझी जाने वाली इस कठपुतली कला के उन्नयन की ओर फिर से हमारा ध्यान गया है। इसमें सर्वाधिक पहल एवं पहुँच भारतीय लोककलामंडल की रही है। इस संस्था के संस्थापक संचालक पद्मश्री देवीलाल सामर ने अन्य लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाओं के साथ-साथ इस कला के सर्वाङ्गीण विकास का भी बीड़ा उठाया और न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी इस क्षेत्र में नये कीर्तिमान स्थापित किये। सितंबर सन् १९६५ में रूमानिया में होनेवाले तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय कठपुतली समारोह में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में भाग लेकर कलामंडल के कठपुतली दल ने परम्परागत कठपुतलियों का प्रथम पुरस्कार प्राप्त कर भारतीय कठपुतली इतिहास में एक अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया है।

ललित

डॉ० श्याम परमार

ललित महाराष्ट्र का मध्ययुगीन लोकमंच है। संत तुकाराम के एक अभंग में ललित का उल्लेख इस प्रकार आया है:—

गलित झाली काया ।
हैचि ललित पंढरिराया ।।

'महाराष्ट्र शब्दकोष' में ललित की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"नव-रात्र इत्यादि उत्सवाच्या शेवट या दिवशीं रात्रीं उत्सव देवता सिंहासनारूढ झाली, उसे कल्पून वासुदेव दंडीगाषा इत्यादि ईश्वर भक्तीं सोगें आणून त्या सोंगोनी स्वसंप्रदायानुरूप देवतेस प्रसाद मागून सभासदास वाटव्याचा विशि सभारंभ। नवरात्रि इत्यादि इत्सवों के अन्तिम दिन रात्रि में उत्सव-देवता सिंहा-सन पर बैठते हैं, यह मान कर कतिपय स्वांग किये जाते हैं तथा अपने-अपने

सम्प्रदायों के अनुरूप देवता से प्रसाद प्राप्त करने का अभिनयकर उस प्रसाद को दर्शकों में वितरित किया जाता है। यही समारम्भ ललित है। मराठी के पुराने शास्त्रीय कोष (१८२९ ई०) में जो अर्थ उपलब्ध है उसके अनुसार इस तरह के ललित उत्सवों के अवसर पर नाटकों के सदृश स्वांग धारण कर किये जानेवाले खेल ही ललित नाटक हैं।

व्युत्पत्ति एवं व्याख्या

इस दृष्टि से तुकाराम के उक्त अभंग चरण का अर्थ बिलकुल भिन्न है। आनन्दकुमार स्वामी ललित की व्युत्पत्ति लीला शब्द से मानते हैं। मध्ययुगीन भारत में अवतारों के स्वांग धारणकर उनके जीवनप्रसंगों को अभिनय और संगीत के सहारे मंच पर प्रस्तुत करने की परम्परा सी रही है। बौद्धग्रन्थ 'ललितविस्तार' में जिन यात्रा नाटकों का उल्लेख मिलता है, वे अधिकांश रूप से कृष्णलीला नाटकों के आरम्भिक रूप रहे होंगे। गीतगोविन्द, श्रीमद्‌भागवत और चन्डीदास आदि कवियों की रचनाओं पर आधृत लीलाएँ प्रायः संवादात्मक होती थीं। रासलीला ने वैष्णवों और जैनमन्दिरों से सम्बद्ध होकर लोकमानस में अपनी छवि स्थायी बना ली। 'भावाश्रयं नृत्यम्' नृत्य में भाव-दर्शन, गात्र-विक्षेप के साथ अभिनय और संगीत का साहचर्य इन लोकपरक नाट्यरूपों का वैशिष्ट्य रहा है। पद्मावत में जायसी ने जिन खेल-तमाशों का उल्लेख किया है, वे वस्तुतः बहुरंग नाट्य थे। इनमें घुमन्तु कथागायकों, नाटकीय पाठ करने वाले मागध, भाट, चारण और बन्दीजनों का भी योग रहा। अतः सम्पूर्ण देश में भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित लोकोन्मुखी संगीतपरक नाट्यशैली लोगों को मनोरंजन के साथ-साथ धार्मिक परितोष देती रही। इस नाते लीला शब्द के व्यापकत्व में ललित से उसका सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है।

इससे भिन्न एक और दृष्टिकोण है जिसके अनुसार ललित की व्युत्पत्ति मराठी के भारूड़ नामक काव्यप्रकार से बताई जाती है। यह काव्यशैली उलझी हुई; कथावृत्त से गुम्फित एवं रूपकपरक है। इसके माध्यम से मराठी संतों ने लोगों को आध्यात्मिक जीवन का अर्थ बताया। संतों द्वारा प्रयुक्त इस विधा

में लोकजीवन के सीधे-सीधे अनेक दृष्टान्त ग्रहण किये गए और कठिन बात को भी सहज ढंग से समझाया गया। इन रचनाओं को केवल गाया ही नहीं जाता है, बल्कि बीच-बीच में क्लिष्ट प्रसंगों की विशिष्ट शैली में पंक्तिवार व्याख्या की जाती है। व्याख्या का यह ढंग महाराष्ट्र में 'संपादणी' कहलाता है। अर्थाना अथवा संपादन करना एक ही बात है। भारूड़ शैली पर्याप्त व्यापक और लोकप्रिय रही। आज भी अनेक प्राचीन भारूड़ रूढ़ हैं—बहुरूढ़ हैं। कदाचित उनकी लोकप्रियता के कारण ही बहुरूढ़ शब्द से भारूड़ का संयोग मराठी के विद्वान ल० रा० पंगारकर ने बताया है।

आधारभूमि

ललित की आधारभूमि भारूड़ है। इस मत की पुष्टि केवल दो कारणों से की जा सकती है : (क) ललित नाटकों में भारूड़ का प्रवेश तथा (ख) संपादणी करने में नाटकीय अभिनय की परम्परा।

मराठी संतों ने जीवन के विविध विषयों को भारूड़ में स्थान दिया। यही कारण है कि ललित में यत्रतत्र भारूड़ शैली का प्रयोग सम्भव हो सका। कई लोकप्रिय भारूड़ पदों को पूरी आस्था के साथ ललित में स्थान मिला। यों कह लें कि भारूड़ों ने ही ललित का रूप संवारा। सन् १८६२ में गोविन्द मोरोबा कार्लेकर ने एक भारूड़ संग्रह तैयार किया जिसका शीर्षक ही इस बात का द्योतक है। संग्रह का शीर्षक है—'नाना नाना रूपी खेल'। भारूड़ कालान्तर में केवल गेय और व्याख्या पद न रहकर नाट्यरूपों के विषय बन गए थे।

भारूड़ गाकर सम्पादणी करनेवाले लोग आजकल दुर्लभ हैं। यह शैली भी लुप्त हो रही है। समरस होकर नाटकीय ढंग से व्याख्या करने की धज खत्म हो गई सी लगती है। ऐसी स्थिति में आरम्भिक ललित किस प्रकार खेले जाते थे, यह समझाना कठिन है। कोई जानकारी भी उपलब्ध नहीं। पिछले वर्षों में अनेक ललित मंडलियां बन्द हो गईं। कुछ समय पहले तक कीर्तन के अन्तर्गत ललित का आयोजन किया जाता था। अब तो कीर्तनों में भी स्वांग करने की प्रथा समाप्त हो गई है। इस पर भी यह कहना शायद ठीक नहीं होगा कि

ललितशैली पूर्णरूपेण महाराष्ट्र में लुप्त हो गई, क्योंकि आधुनिक काल में ललित को नया स्पर्श देने के उद्देश्य से कुछ मण्डलियां आगे आयीं। सन् १९५३ के आसपास पूना में कुछ जानदार ललित मण्डलियां थीं। उनके खेल भी बहुत लोकप्रिय थे। लोकप्रियता के कारण इन मण्डलियों में व्यावसायिकता आ चली। परिणामतः मनोरंजन और शृंगारप्रसंगों का अधिक एवं अनावश्यक प्रसाधन तथा नाटचविकृतियां उनके खेलों में उभरने लगीं। हिन्दी नाटकों का जो आरम्भिक रूप उत्तर में देखने को मिला तथा नक्काल और भांड–भड़ैती के फुटकर खेलों का जो स्वरूप था, उसी से मिलता–जुलता रूप ललित में आने लगा। बीच–बीच में संगीत का प्रयोग, (जैसा कि हम नौटंकी में पाते हैं) तथा संवाद में अतिनाटकीयता एवं मनोरंजन के लिये चुटीले संवाद इनमें विकसित होते गये। ललित का धार्मिक परिवेश यों भी समाप्त हो गया था। सस्ते आयामों में कथावृत्त टूटते गए। लीला का आध्यात्मिक गौरव और मराठी संतों द्वारा प्रयुक्त रूपकों की गरिमा तिरोहित हो गई। हिन्दी में नेवाज कवि कृत शकुन्तला अथवा ब्रजवासीदास के प्रबोधचन्द्रोदय अथवा भारतेन्दु द्वारा रचित कतिपय गीतिनाट्यों जैसा स्वरूप भी ललित में स्थित नहीं रहा।

ललित खेल

ललित का खेल इस प्रकार शुरू होता है—

आरम्भ में लड़के ध्रुपद गाते हैं। ध्रुपद समाप्त होते ही सूत्रधार आकर गणपति की वंदना करता है (धरितो चरण, पूजन, देव तूं गजानन), इस बीच विदूषक मंच पर आकर सूत्रधार के साथ हंसीमजाक करता है। सूत्रधार फिर एक और पद गाता है और तभी उसकी पत्नी आकर वातावरण बदल देती है। सूत्रधार उससे आग्रह करता है कि ललित के आरम्भ में वह सहायता दे। फिर दोनों गाते हैं। सूत्रधार एकबार फिर गणेश का स्मरण करता है। इस भूमिका के पश्चात् ललित की वास्तविक कथा खुलती है।

परम्परा

ललित की परम्परा महाराष्ट्र के नाट्य साहित्य के इतिहास में उल्लेखनीय

है। हाथ सवा हाथ ऊंचे मंच पर बिना किसी साजसज्जा के किसी समय ललित के अंत में मनोरंजक प्रसंगों की अवतारणा की जाती थी। देवताओं के स्वांग रूप में दशावतार के अंश भी प्रदर्शित किये जाते थे। १९वीं शताब्दी के लगभग विष्णुदास भवे द्वारा प्रचलित नाटकों का ललित से पर्याप्त साम्य प्रतीत होता है। इस साम्य का प्रबल सूत्र सांगीतिकता है जो मराठी नाट्यजगत में कई वर्षों तक प्रिय रही।

भाषा

पुराने ललितों के अनेक अंश जो आज प्राप्य हैं, भाषा की दृष्टि से अध्ययन की वस्तु हैं। उनका स्वरूप, शैली और प्रवाह तत्कालीन नाट्यशैलियों के सन्दर्भ में द्रष्टव्य है। ललित की भाषाशैली से ज्ञात होता है कि वह उत्तरभारत से काफी प्रभावित रही। चोपदार और पाटिल नामक ललित के पात्र पुरानी लोकपरक रचनाओं में परम्परानुसार हिन्दी में बात करते हैं। गाँव-भाट और राजभाट खासी अच्छी हिन्दी बोलते हैं। मच्छिद्राख्यान में मच्छिन्दर और गोरख के संवाद हिन्दी में प्रचलित रहे हैं। इसी प्रकार बीच-बीच में कटाव (छंद विशेष) आरती और पदों की भाषा सधुक्कड़ी रही। हिन्दी का, आज की तरह, जब प्रचार नहीं था, ये संवाद लोगों द्वारा समझे जाते थे, यह बात ध्यान देने योग्य है। ललित के कुछ आख्यान हिन्दी में हैं। अभंग, दोहे और भारूड़ पदों की भाषा में भी हिन्दी है। इससे प्रतीत होता है कि ये स्वांग दूसरे प्रान्तों से विशेषकर उत्तर हिन्दुस्तान से दक्षिण क्षेत्र में आए होंगे और सुविधा की दृष्टि से ही जो संवाद एक बार हिंदी में अपना लिये गये वे कदाचित उसी रूप में रहने दिये गये होंगे। यह मत है मराठी के विद्वान विनायक कृष्ण जोशी का। हिन्दी पाठकों के लिये ललित के कुछ हिन्दी अंश यहां उद्धृत करना उचित होगा—

चोपदार—दौलत जादा दशरथनन्दन, रामचन्द्र महाराज साहेब, गरीब निवाज पर निगा रखो। सब सरदार, मानकरी, मुकादम, पटेल, पटवारी, हाली, मोहाळी, देशमुख, देसाई सब रय्यत पर निगा रखो। मेहरबान

सलाम, रामराजे के भजन से दौलत वढ़ती रहे।

पाटिल— तुम कौन हो ?

चो०— हम तो चोपदार, हमारे ऊपर शिवशंकर का प्यार, मैं पार्वती के गले का हार, छड़ी रूपे की गुलजार, मुख में बीड़ा मसालेदार, तोड़े मकोड़े से तयार, खड़े रामराज के दरबार......हम रामचन्द्र महाराज के जुग–जुग के नौकर कहलाते हैं।

पा०— रामचन्द्रजी सिंहासन पर वैठे तव प्रसाद मांगने कू कौन-कौन आये थे।

चो०— (काटव) श्री राजाराम की सभा धनदाट, मजलस थाट, भरपूर भरी है। ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, चन्द्र, सूरज, दुरुवासा ऋषी आए हैं। इन्द्र सिंहासन वैठे, अरुण–वरुण ऋदि–सिदि हैं।......पवन चौकीदार खड़े सब याचक प्रसाद मांगने कू आवे। तरह-तरह के नृत्य गावे–वजावे, चरण भजावे। अनन्त मजलस मों लोक प्रेमभरित चरण भेजावे। तनन धीकट–धीकट धीमताल मृदंग भजावे। कहे प्रेमलदास करो गुरुचरन की आस। सुनो सुजन आमद से कदम चोपदार ललकारे। वडिजाव महाराज।

पा०— तुम नौकरी करोगे ?

चो०— नौकरी करेंगे।

पा०— क्या दरमाह लेवोगे ?

चो०— तुम क्या देवोगे ?

पा०— सौ देएंगे।

चो०— सौ के तो पान लगते हैं।

पा०— दो सौ देंगे।

चो०— दो सौ की सुपारी लगती है।

पा०— फिर आप क्या लेओगें ?

चो०— किस लंडी ने क्या देना और किस लंडी ने क्या लेना। हम भगवान के पांव के पास नौकरी करेंगे।

(चोपदार यहां तीन पद गाता है। उनमें से एक यहां प्रस्तुत है)

डालीवंद नौकर तेरा, विठूजी, मैं डालीवंद नौकर तेरा।
हरदम मुजरा मेरा ॥
पाचु हतियार एकदम बांधू । थाटमाट वहु मेरा ॥
राम-नाम की समसेर बांधू। राखूं दरवाजा तेरा ॥
सुनतनुरत का को वनावूं । ये ही चाकर तेरा ॥
कहत कवीरा सुन मेरे लाला । हरदम मुजरा मेरा ॥

× × ×

मच्छिद्राख्यान का एक अंश—

मच्छिंदर—वच्चा गोरख, ये मेरी प्यारी तेरी विनती करती है तो तू थोड़े दिन यहां रह जा। फिर हम तुम दोनों ही जने वरोवर जायेंगे ।

गोरख— अच्छा गुरुमहाराज, आपकी इच्छा है तो रहता हूँ, परन्तु आपको लिए विना मैं जाने का नहीं ।

पत्नी— गोरखनाथ, ह्या स्वरूपवती स्त्रियातून आपल्या मनाला येईल तिच्या वरोवर आपणहि कांही दिवस सुख भोगावें ।

गोरख— नहीं, नहीं हम चाहते । इस वात में हमको तुम मत सताव । मैं फकत गुरुमहाराज की सेवा करके रहूँगा ।

× × ×

गोरख— गुरुमहाराज, दयानिधे मेरी गरदन आपके आगे कर दिया है ।

पद—(अर्थाचिया कलिमाजी जना की तर्ज पर)

गुरु राज दयाल, करो जल्दी मुझे मारनेकु, काहे कु देरी लगाया ।
शस्त्र उठाव, कटाव करो शीस, जान की आस नहीं गुरुराया ।
मानत मैं गुरुनाथ यही पद तीरथ में जो जान गमाया ।
अंती अति सुगती मझे पाई, जानव मे सव अर्थ कमाया ।

मच्छिंदर—वेटा गोरखनाथ, मेरा चेला होके अभी तूने मुझे ग्यान सिखाया ।

गोरख— गुरु महाराज, चलो । अब जंगल में जाके भगवान का ध्यान करेंगे । जोगी होके औरतों के साथ विलास करना ये बात आपको शरमाती है ।......

डा० विनयमोहन शर्मा ने ललित संग्रह (सं०–वालकृष्ण लक्ष्मण पाठक) के कतिपय उद्धरण पढ़कर इस विषय में बहुत पहले आश्चर्य प्रकट किया था। महाराष्ट्र में हिन्दी नाटकों के विकास के पूर्व हिन्दी गद्य का गहरा प्रभाव इन ललितों पर पड़ चुका था । उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि दो–तीन शताब्दी पूर्व दक्षिणी हिन्दी शाखा ने उत्तर की ऐसी पर्याप्त नाटक सम्बन्धी विशेषताएँ ग्रहण कर ली थीं । पदों का रूप तो इससे भी पहले हिन्दी अथवा सुधक्कड़ी हिन्दी रहा है । अब यह बात किसी से छिपी नहीं कि मराठी के कुछ संतों एवं शाहिर कवियों ने हिन्दी में रचनाएँ कीं । यह बात विस्मृत नहीं की जा सकती और जैसी कि मान्यता है ललित धार्मिक मंच रहा है, तब निश्चय ही इस तरह की अटपटी बंदिशें मुक्त हृदय से महाराष्ट्र में स्वीकार की गई होंगी ।

एक स्वांग (सोंग) में मुकुंदगीर शहीर का हिन्दी पद इस रूप में उपलब्ध है:—

भंडार की लूट भई । आलम देख भूल रही ।
भंडार की लूट भई ।।१।।
मन मक्का दिल–दिल । बिच में बहती हायकर गंगा ।।२।।
मेहरबान मलुखान । लूट दई पहाड़ सुने की खाण ।।३।।
ओढ़े शाल दुशाला । दिनकू दरबार में जलती मशाला ।।४।।
कहे मुकुंदगीर शईर । बापू बोले कि वमोरे बाई ।।५।।

गांवभाट और राजभट के स्वांग में गेय एक पद का हिन्दी रूप—

छोटे–छोटे बाल, गोविन्द कन्हैया
छोटे–छोटे हात, छोटे–छोटे पांव ।
नाग फनाफन झुल रही ।
पगरी पर को मुख चुंबन लियो ।

तेल फुलेल, हमेल बनोले
ऊंगली पर टेंक नचावत माय
पुनीत जेस्वदा माता कू
ध्रिक्ट धा ध्रिक्ट धा, नाचत कन्हैया ॥

विभिन्नप्रभाव

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बम्बई निवासी दादापंत नामक मराठी ने ललित के अभिनय को नया स्पर्श दिया। दादापंत ने पूना के प्रख्यात सावजी मल्लपा, बड़ौदा के बाबोजी बुवा और बम्बई के पाटल बुवा को अपने दल संगठित करने की प्रेरणा दी। इतना ही नहीं, तीनों व्यक्ति दादापंत के पास बहुत दिनों तक रहे और ललित का अभिनय सीखा। मराठी के विद्वानों का स्पष्ट मत है कि ललित ने पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों को जन्म दिया, क्योंकि उत्तर–मध्यकालीन युग में ललित ही ऐसा प्रदर्शन था जिसमें पौराणिक एवं लोकप्रचलित अथवा अर्द्ध ऐतिहासिक धर्मोन्मुखी कथाएं नाटक का आधार बन सकीं। तंजोर के नाटकों का प्रभाव ललित पर बताया जाता है। कहते हैं नवरात्रि के पश्चात् जो लोकनाट्य तंजोर में खेले जाते थे, वे प्रायः इसी कोटि के होते थे। मुख्यतः दक्षिण तंजोर में जहां मराठा शासक थे, मराठी नाटक को प्रश्रय मिला। कन्नड़क्षेत्र एवं गोआ में पुराने ढंग के नाटक हुआ करते थे। मामा वरेरकर के शब्दों में गोवा के तटवर्ती प्रदेश और उससे मिले हुए कोंकण के ब्रिटिश अधीन प्रदेश में जो नाटक खेले जाते थे उनका बंगाल के जात्रा नाटकों से अद्भुत साम्य था। वास्तविकता तो यह है कि मराठीप्रदेश में भी नाटकोत्सव जात्रा के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। इसका लोकप्रिय रूप दशावतारी खेल कहलाता है।

महाराष्ट्र में लिखित नाटकों का आरम्भ १८७०-७५ ई० के लगभग हुआ। यद्यपि १९४३ में आयोजित समारोह में मराठी रंगमंच की जन्मतिथि १८९३ ई० मानी गई। यह वह समय था जब महाराष्ट्र में ललित ढंग के नाटकों का जोर था। निकटवर्ती क्षेत्र की नाट्यशैलियों का प्रभाव, भाषा–वैशिष्ट्य और संगीतपरक ढंग एक दूसरे के निकट आये। यों तो ललित सदियों से प्रचलित

रहे पर अठारहवीं शताब्दी के अंत में उनका स्वरूप इस स्तर का हो चला था, जैसा आज हमें कुछ उदाहरणों द्वारा ज्ञात होता है ।

ललित का मूल सम्बन्ध भारूढ़ काव्यशैली से है। मराठी संत एकनाथ ने मुख्यतः एक सौ पच्चीस विषयों पर लगभग तीन सौ भारूढ़ रचे। इनमें से अनेक ललित में प्रयुक्त रहे हैं। दशावतारी अथवा भागवत नाटकों में इन रचनाओं का सहज समावेश हुआ । भारूढ़ कथन की नाटकीय शैली लोगों को वर्षों तक रिझाती रही । शैली की रंगत के अलावा विविध विषयों का समावेश इन रचनाओं का लक्ष्य रहा । जीवन के घरेलू प्रसंग और दैनंदिन उदाहरणों से लोग प्रभावित होते रहे । ये भारूढ़ विविध पेशों, जातियों, संगीतवाद्यों, खेलों, पशुपक्षियों, दरवेश, मलंग, बहुरूपी, भाट, वैद, गोंधली, बाजीगर आदि विषयों से सम्बन्धित रूपकवत् रचनाएँ, कूटपद और अध्यात्मपरक कृतित्व हैं। मध्यकालीन अक्खड़ साधुओं, तथा कबीरपंथी परम्परा की ध्वनि इनमें लक्ष्य की जा सकती है । यही कारण है कि इनकी भाषा कहीं हिन्दी, कहीं मराठी, कहीं मिश्रित और कहीं एकदम लोकगीतों सी है ।

वेशभूषा

ललित के पात्रों की वेशभूषा विशेष भड़कीली नहीं होती है। चोपदार लाल अंगरखा, लाल सलवार, सिर पर कपड़ा, गले में दुपट्टा, हाथ में छड़ी, कमरपट्टा आदि पहने नजर आते हैं । पाटील सफेद अंगा, पजामा, सिर पर पगड़ी और कंधे पर दुपट्टा धारण करता है। विदूषक पैरों में घूंघरू, सिर पर ऊंची टोपी सलवार और कपाल पर बड़ा सा टीका लगाकर अद्भुत वेश करता है। चूंकि ललित के अनेक आख्यान विनोद प्रकृति के हैं, जैसे—काशी कपाड़ी, जंगम, पूजा करने वाला ब्राह्मण आदि । अतः स्वांग के अनुरूप बाना बनाकर पात्र मंच पर आते हैं । अध्यात्मपरक आख्यान भी विशेष हल्के-फुल्के तरीके से खेले जाते हैं। संपादणी करते समय हास्य में से ही गूढ़ बात प्रकट होती है। वाघ्य-मुरली नामक स्वांग ललित में विशेष उल्लेखनीय है । वाघ्या पुरुष पात्र है और मुरली स्त्री। दोनों ही अपने स्वांग नाच-गाकर करते हैं। ये दोनों

पात्र मल्हारी मार्तण्ड के भक्त कहे जाते हैं। गांव का पटेल इन्हें वीच-वीच में पद गाने के लिए आग्रह करता है। क्रमशः संवाद के वीच-वीच पद मुखरित होते जाते हैं।

मच्छिन्द्राख्यान का उल्लेख हमने पहले किया है। सन् १८९२ में गोविन्द मोरोवा कार्लेकर ने इसे छपवाया था। वाद में और फुटकर संग्रह प्रकाश में आये। अध्यवर्ती भारत में प्रचलित धार्मिक नाटकों के तो कई रूप इन संग्रहों में वार वार छपते रहे। वम्बई में उन दिनों इन खेलों की धूम थी।

उत्तारभारत में प्रचलित हंसी मजाक के स्वांगों से ललित की अनेक वातों में साम्य है। ऐसा लगता है घुमन्तु नक्कालों, कीर्तनकारों और स्वांगियों द्वारा ये चीजें लोगों के वीच तेजी से पहुँचती रही। मंदिरों और चौपालों में इन्हें प्रश्रय मिला। छोटे छोटे ठिकानों, जागीरों और रियासतों में इनके द्वारा मनोरंजन की सामग्री उपलव्ध की गई।

ललित में स्वाँगों की एक न टूटनेवाली कड़ी मिलती है। यदि उसे स्वाँगों का मिलाजुला सिलसिला भी कहें तो अनुपयुक्त न होगा। एक रात में पचास–साठ स्वांग किये जाते रहे हैं। मराठी की एक कहावत है–रात्र थेड़ी नि सोगे फर (रात्रि थोड़ी और स्वांग वहुत) जो ललित की इसी स्वांग वहुलता की ओर लक्ष्य करती है।

❊❊

किया जाता था। दंगल में अधिकतर नगाड़ा, हारमोनियम, वेली, ढोलक तथा तवलों का प्रयोग किया जाता है।

दंगल का प्रारंभ

पूजन के पश्चात् अखाड़े के सब सदस्य मंच की ओर आ जाते हैं। तब तक अखाड़े के सब प्रतियोगी आ जाते हैं। पंचों की ओर से दंगल प्रारम्भ होने की घोषणा की जाती है। सर्वप्रथम नियोजनकर्ता अखाड़े के गायक सरस्वती-वन्दना का गायन प्रारम्भ करते हैं। वाद्यकार भी अपना आसन ग्रहण करते हैं। वे आसन ग्रहण करने से पूर्व पंचों से आसन ग्रहण की आज्ञा प्राप्त करते हैं। आज्ञा मिलने पर वे अपना दायां हाथ वाद्यों से स्पर्श कर दोनों कान और मस्तक से लगाते हैं। इस प्रकार वाद्यों के प्रति आदर प्रकट करके वे सरस्वती के गायन के साथ वाद्यों को वजाना प्रारम्भ करते हैं। सरस्वती की महिमा का काफी समय तक गायन होता है। इसी बीच प्रत्येक प्रतियोगी जो दंगल में भाग लेना चाहता है, अपना नाम पंचों को लिखा देता है। साधारणतः नियम यह है कि प्रत्येक अखाड़े के प्रत्येक अध्यक्ष की ओर से एक प्रतियोगी भाग ले। परन्तु समयाभाव के कारण साधारणतः प्रति अखाड़े की ओर से एक प्रतियोगी भाग ले सकता है।

पंच लोग गायन की सीमा एवं अन्य नियमों का निर्देश दंगल के प्रारम्भ में कर देते हैं।[4] तब प्रत्येक प्रतियोगी की पुकार होती है। जो अपने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर उनके चरण छूकर मंच पर आता है। तब वह पंचों से गायन प्रारम्भ की आज्ञा मांगता है। आज्ञा मिलने पर वह भी वाद्यों को दांये हाथ से स्पर्श करके कान और मस्तक से लगाता है। कोई-कोई प्रतियोगी मंच पर

---

4. गायन की सीमा से तात्पर्य है कि प्रत्येक प्रतियोगी एक दोहा व एक चौवोला जिसमें निश्चित संख्या के चौक हों, उन्हें ही गा सकता है। निश्चित संख्या के चौकों के अतिरिक्त चौक आदि वे नहीं गा सकते। प्रारम्भ में ये नियम उन्हें बता दिए जाते हैं।
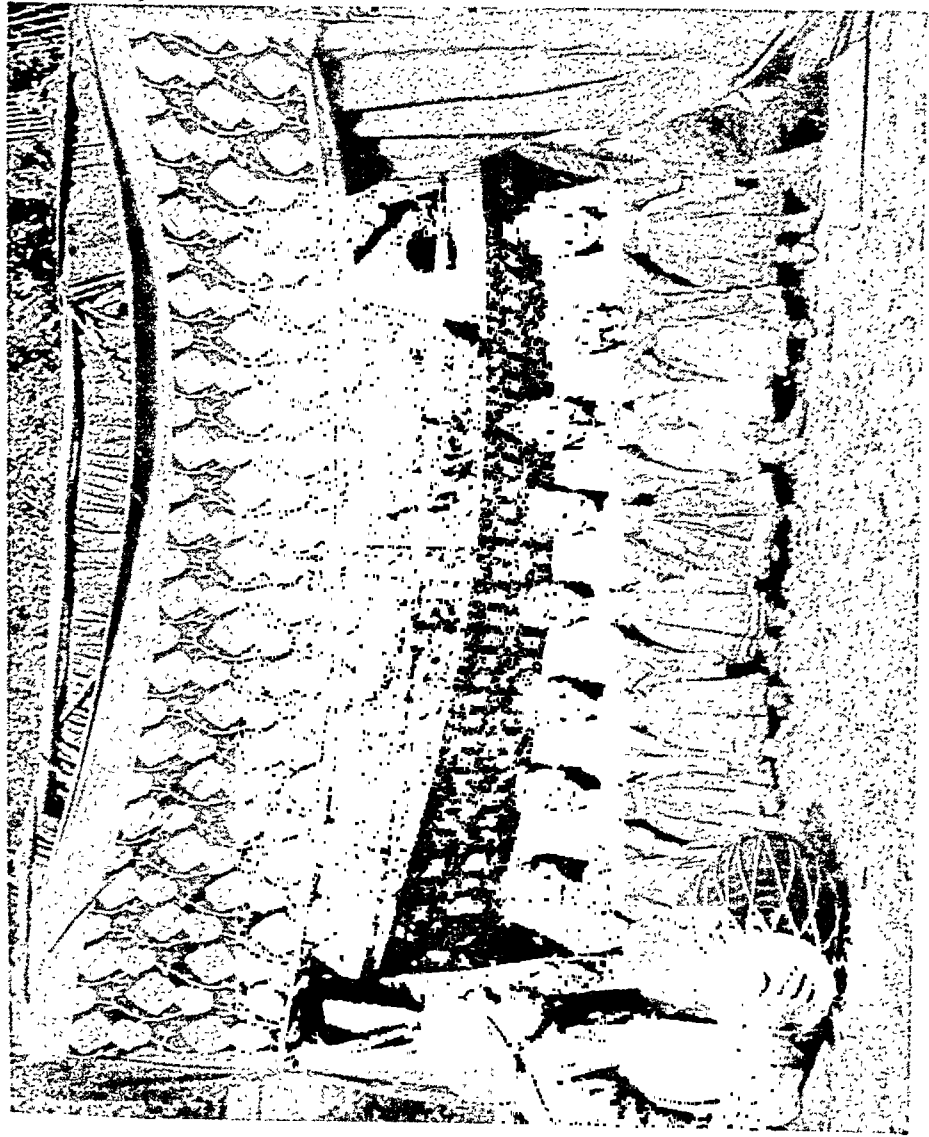
कठपुतलियाँ : अमरसिंह राठौड़ के खेल में

राय से मिलकर मोतीकटरा में एक अखाड़ा स्थापित किया जिसका गुरुभार जौहरीराय ने ग्रहण किया। ये संगीत के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने अपने शिष्यों को एकत्र कर उन्हें रूपवसन्त नामक भगतस्वांग का अभ्यास कराया।

उन दिनों आगरा की एक बस्ती गोकुलपुरा में प्रतिवर्ष गणगौर का मेला भरता था जिसमें शिव-पार्वती की बड़ी कलात्मक सवारी निकाली जाती थी। कहते हैं, एक समय मोतीकटरा वालों ने गोकुलपुरा वालों की गणगौर का वलपूर्वक अपहरण किया। फलस्वरूप इस विजयोल्लास में प्रथमवार मोतीकटरा में भगत का प्रदर्शन किया गया। इस अवसर पर शहर की विभिन्न वस्तियों के संगीतज्ञ और शायर भी उपस्थित थे। यह प्रदर्शन अत्यंत सफल रहा, जिससे प्रभावित होकर आगरा की अन्य वस्तियों में भी भगत के अखाड़े प्रारम्भ हुए। अखाड़े के किसी सदस्य को उसके गायन, अभिनय और प्रवन्धकौशल से प्रभावित होकर जब गुरु उसे अध्यक्ष का पद देना चाहता तो दंगल का आयोजन किया जाता और उसमें सार्वजनिक रूप से शिष्य को पगड़ी वांधकर उक्त सम्मानित पद दिया जाता था।

दंगल प्रारम्भ होने से पूर्व गुरु व शिष्यगण मिलकर अपने इष्ट का पूजन करते हैं। यहां पर सर्वप्रथम शुद्ध घृत में सिंदूर घोल कर स्वस्तिक या त्रिशूल का चिह्न वनाया जाता है, जिसपर माला पहना कर पूजन किया जाता है। अखंड ज्योति भी इसी अवसर पर प्रज्वलित की जाती है। गुरु और शिष्य मिलकर सामूहिक रूप से अपने इष्ट व देवी सरस्वती की महिमा का गायन करते हैं।

मंच

दंगल का मंच साधारण होता है। साधारणत: चार तख्तों को मिला कर मंच तैयार किया जाता है। यह मंच चारों ओर से खुला रहता है। शीत ऋतु में ओस से वचने के लिए ऊपर एक चादर तान ली जाती है। मंच को विद्युत वल्वों, रोड़ों आदि से सुसज्जित कर लेते हैं। जब विजली नहीं थी तब प्रकाश के लिए मशालों एवं पैट्रोमेक्स का प्रवन्ध
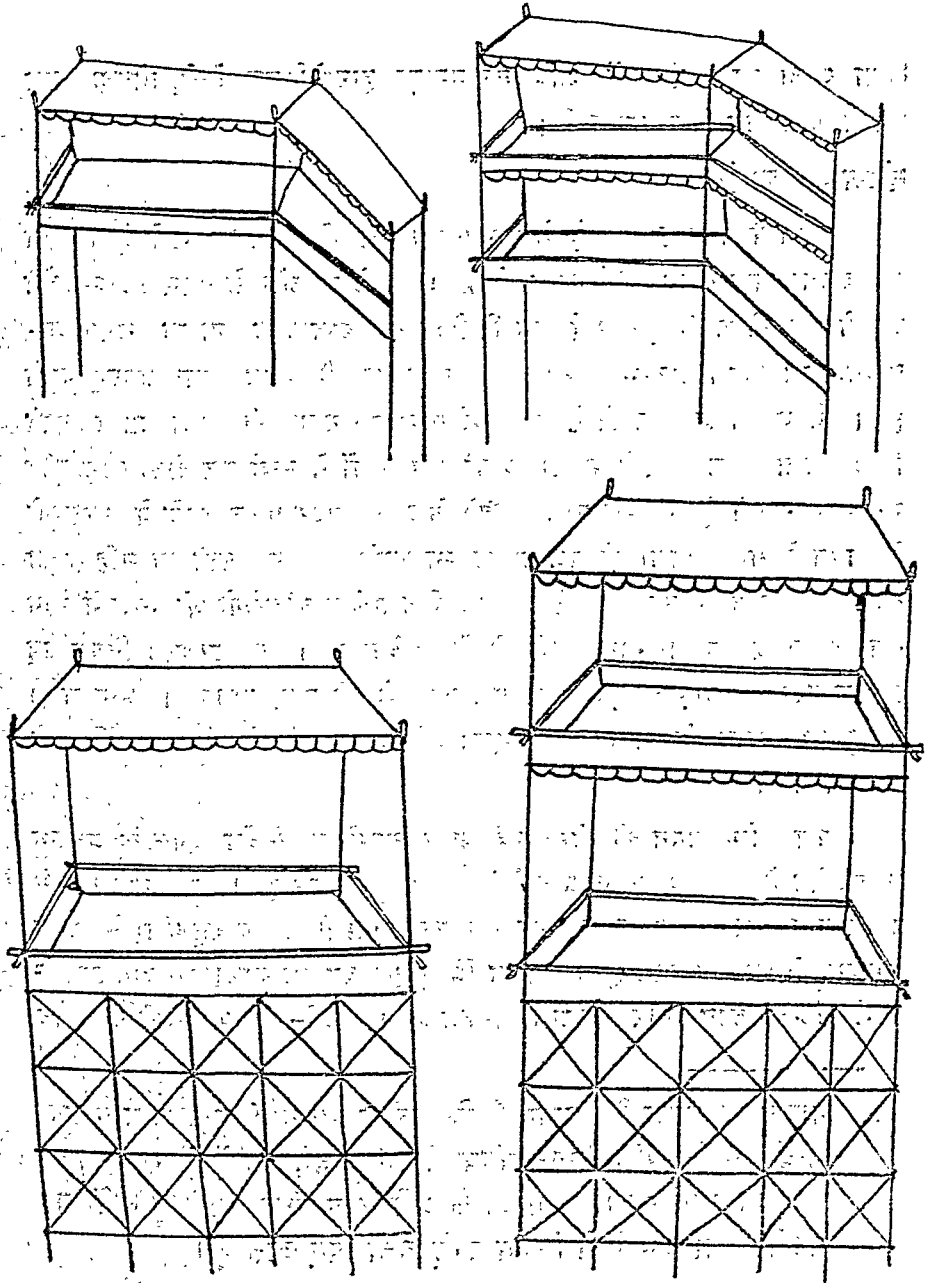
भगत मंच— ऊपर : एकरुखी एक तथा दो मंजिला मंच
नीचे : दोरुखी एक तथा दो मंजिला मंच

भक्ति-भागीरथी रामलीला की एक भूमिका

चढ़ने से पूर्व मंच को दायें हाथ से स्पर्श कर कान और मस्तक से स्पर्श करते हैं, तब वे सुर मिलाकर गायन प्रारम्भ करते हैं । वाद्यों की धुन से गायन को बड़ा बल मिलता है । ये गायन को सुमधुर और सरस बना देते हैं । गायन समाप्त करने पर प्रत्येक प्रतियोगी 'ता, थेइ, था' का उच्चारण करता है, जो उसके गायन की समाप्ति का सूचक होता है ।

गायन के मध्य में जनता की ओर से सुन्दर व सरस गायन पर गायक को रुपये भेंट किए जाते हैं, कुछ लोग गायक के ऊपर रुपये न्यौछावर भी करते हैं। न्यौछावर के ये रुपये गायक को न मिलकर वाद्यकारों को मिलते हैं।

सब प्रतियोगी जब गायन समाप्त कर लेते हैं, तब पंच दौने [5] व पगड़ी लाने की आज्ञा देते हैं। सबसे पहले गुरु के सरपर पगड़ी बाँधी जाती है। शिष्यगण गुरु के चरण स्पर्श करते हैं। गुरु उनको आशीर्वाद देते हैं। गुरु को एक दौना दिया जाता है। बाद में उसी अखाड़े के अन्य अध्यक्षों के पगड़ी बांधी जाती है और दौना दिया जाता है। पगड़ी बांधने से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति पंचों से पगड़ी बांधने की आज्ञा प्राप्त करता है । बाद में उस सदस्य को, जिसे अध्यक्ष बनाना है, बुलाया जाता है। पंचों के सामने उसका परिचय दिया जाता है और उसे अध्यक्ष की पगड़ी प्रदान करने की आज्ञा माँगी जाती है। आज्ञा प्राप्त कर उसके पगड़ी बांधी जाती है और मुंह में घी शक्कर या लड्डू भर कर मुँह मीठा कराया जाता है । नया अध्यक्ष गुरु और पंचों के चरण स्पर्श करता है। इसी अवसर पर सहायक अध्यक्ष भी बनाने की प्रथा चल पड़ी है। बाद में प्रत्येक अखाड़े के प्रत्येक अध्यक्ष को एक दौना

---

5. प्राचीन काल में पत्तों के 'दौनों' में रखकर लड्डू आदि का वितरण कियाजाता था। इसी कारण इस प्रथा का नाम 'दौंना बांटना' हो गया। आजकल प्रथा का नाम तो वही है पर 'दौनों' के स्थान पर अब कागज के थैलों में या कपड़े के थैलों में देने की प्रथा प्रचलित हो गई है।

पगड़ी आदि प्रदान किए जाते हैं । अन्य लोगों को प्रसाद वितरण किया जाता है । गुरु अतिथियों को आयोजन को सफल बनाने के लिए धन्यवाद देते हैं और शिष्यों को आशीर्वाद । इसके उपरांत दंगल समाप्ति की घोषणा करते हैं ।

प्याला

दंगल का आयोजन तो अध्यक्ष बनाने के लिए किया जाता है । प्याला दंगल के समान ही होता है परन्तु इसमें अध्यक्ष की पगड़ी न बंध कर, गुरु की मृत्यु हो जाने पर, गुरु की पगड़ी उसके उत्तराधिकारी के बंधती है । अखाड़े के सभी शिष्य उन्हें अपना गुरु स्वीकार करते हैं । शेष सारे आयोजन दंगल के समान होते हैं ।

भगत के प्रकार

ब्रज में दो प्रकार की भगत मिलती हैं । एक हाथरस की भगत, जिसका प्रचार प्रसिद्ध लोकसंगीतज्ञ नत्थाराम द्वारा किया गया था । इसमें साधारणतः छोटी तान के चौबोले मिलते हैं । यह एक प्रकार का व्यवसायी लोकरंगमंच है ।

दूसरी प्रकार की भगत आगरा की भगत है । यह आगरा के विभिन्न अखाड़ों में आयोजित की जाती है । इसमें लम्बी तान के चौबोले होते हैं । यह अव्यवसायी रंगमंच है । इसके प्रदर्शन अखाड़ों में ही होते हैं ।

आगरा में भगत के कई अखाड़े हैं, जिनके द्वारा समय-समय पर भगत प्रदर्शन का आयोजन कर जनसामान्य का मनोरंजन किया जाता है । भगत-प्रदर्शन का क्रम इस प्रकार रहता है:-

तालीम

भगत प्रदर्शन से कई मास पूर्व अखाड़े में अभ्यास प्रारम्भ हो जाता है । किसी शुभ दिन, शुभ मुहूर्त में गुरु (मुख्य संचालक) शिष्यों को पर्ची बांट कर तालीम का श्रीगणेश करते हैं । पर्ची पाकर प्रत्येक गायक व अभिनेता अपने-अपने संवाद को याद करता है । याद हो जाने पर गायन का अभ्यास प्रारम्भ होता है । गुरु (खलीफा) व अन्य अनुभवी लोग गायन और अभिनय में निर्देश देकर अभ्यास

प्रारम्भ कराते हैं । पहले प्रति आठवें दिन अभ्यास कराया जाता है। कुछ काल तक प्रति आठवें दिन कराके फिर चौथे दिन अभ्यास कराने का क्रम बांधा जाता है। लगभग एक मास तक प्रति चौथे दिन अभ्यास कराया जाता है। तब प्रायः २० दिन तक प्रति दूसरे दिन अभ्यास का क्रम रखा जाता है । प्रारम्भ में अभ्यास एकान्त में कराया जाता है । इसमें वाद्यों का साथ नहीं रहता। भगत-प्रदर्शन की तिथि से लगभग आठ दिन पूर्व यह अभ्यास वाद्यों के साथ सार्वजनिक स्थान पर किया जाता है। इससे अभिनेताओं की झिझक खुल जाती है। अभ्यास में गुरु व अनुभवी सज्जनगण गायन और अभिनय की त्रुटियां बताकर तत्संबंधी सही निर्देश देते रहते हैं । जब अभ्यास से गुरु को सन्तोष हो जाता है तब वे भगत प्रदर्शन के लिए अन्तिम रूप से कोई शुभ तिथि घोषित कर देते हैं ।

कड़ी स्थापना

भगत प्रदर्शन से कुछ दिन पूर्व मंच निर्माण के लिए, किसी शुभ दिन शुभ मुहूर्त में कड़ी (लकड़ी अथवा बल्ली का लट्ठा) की स्थापना की जाती है । मंच निर्माण के लिए किसी एसे स्थान को चुना जाता है जहां अधिक से अधिक जनता सुविधापूर्वक बैठकर अभिनेताओं के करतब देख सके । कड़ी की स्थापना एक छोटे से समारोह के साथ की जाती है । कड़ी का पूजन किया जाता है। उसके एक कोने पर हल्दी या रोली से स्वस्तिक अथवा त्रिशूल बनाया जाता है। पांच तांबे के पैसे, हल्दी की एक गांठ, पांच साबित सुपारी तथा चावल आदि गड्ढे में डालकर कड़ी को गड्ढे में स्थापित कर दिया जाता है । यह कार्य गुरु द्वारा सम्पन्न किया जाता है । इस समय अधिक से अधिक शिष्य उपस्थित रहते हैं । श्रद्धानुसार प्रसाद का वितरण किया जाता है । कड़ी स्थापना की यह परिपाटी, भरत द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र में उल्लिखित मंच निर्माण से पूर्व स्तम्भ की स्थापना का ही एक रूप है । लोकनाटकों में इन अनुष्ठानों का विधान इस बात का सूचक है कि प्राचीन संस्कृत नाटकों ने लोकनाटकों से अनेक अंशों में प्रवृत्तियों, लक्षणों और विधानों को ग्रहण किया है ।

मंच

कड़ी स्थापना के पश्चात् मंच का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है । यह

मंच लगभग आठ फीट ऊंचा बनाया जाता है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं— (१) यह कि दूर से जनता अभिनेताओं का अभिनय देख सके तथा (२) आभूषणों की सुरक्षा हो सके। कारण कि भगतों में आभूषणों के प्रदर्शन की विशेष लालसा देखी जाती है। ये आभूषण असली सोने-चांदी तथा रत्नों के होते हैं जो अमीर घरानों से मांगकर पात्रों को पहनाये जाते हैं। इन आभूषणों में ही भगत की प्रशंसा निहित रहती है। इसलिए इन की सुरक्षा का आयोजनकर्त्ता को विशेष ध्यान रखना पड़ता है। आवश्यकतानुसार मंच एकरुखी व दोरुखी बनाये जाते हैं। एकरुखी मंच पर एक ही संवाद दो बार और दोरुखी मंच पर एक ही संवाद चार बार गाया जाता है। एकरुखी व दोरुखी मंच का निर्माण स्थान की सुविधा पर निर्भर है। मंच की ऊंचाई पर भी विशेष बल दिया जाता है। साधारणतः एक मंजिल ऊंचे मंच बनाये जाते हैं। परन्तु किसी-किसी स्वाँग में दो मंजिल ऊंचे मंच की भी आवश्यकता पड़ती है। ऐसा कहा जाता है कि लगभग ८० वर्ष पहले अखाड़ा गुरु श्री नन्दराम लहरी ताजगंज में सात मंजिल ऊंचे मंच का निर्माण किया गया था। दो मंजिल या इससे अधिक ऊंचे मंच का निर्माण किसी ऐसे दृश्य के लिये किया जाता था जिसमें दो मंजिल या इससे अधिक ऊँचे भवन क दिखाने की आवश्यकता रहती है। उदाहरणार्थ— स्वांग 'चन्द्रकिरन—मदनसैन' में नायिका दूसरी मंजिल के कमरे की खिड़की में रस्सी बांधकर अपने नायक मदनसैन को ऊपर बुलाती है। इस प्रकार के दृश्यों को दिखाने के लिये दो मंजिल ऊंचे मंचों का निर्माण आवश्यक प्रतीत होता है।

मंच की अधिक से अधिक सजावट की जाती है। रंगबिरंगे कागज, पत्तियों; रंगीन कपड़ों और फूलों से बड़ी खूबसूरती से इसे सजाया जाता है। कहा जाता है कि सन्१९०७ में अखाड़ा राजामंडी के गुरु सीताराम के मंच को रांग पत्रों से तथा १९१० में चांदी के पत्रों से सजाया गया था। आजकल विद्युत के रंग-बिरंगी बल्बों की झालरों से भी मंच को आकर्षक सज्जा दी जाती है।

प्रकाश

प्रकाश के लिए प्राचीन काल में जब विद्युत नहीं थी, मशालों का

प्रयोग किया जाता था। मशालों के वाद अरगन और पेट्रोमेक्स के हण्डों का प्रयोग किया जाने लगा। आजकल विद्युत वल्व और विद्युत रोडों का प्रयोग किया जाता है।

दोरुखी मंच के मध्य में वाद्यकार वैठते हैं। उन्हीं के पास कुछ अनुभवी वृद्ध जन वैठते हैं। ये केवल इसलिए विठाये जाते हैं कि यदि किसी अभिनेता के गायन व अभिनय में कहीं त्रुटि होने लगे तो वे उसे वहां से संकेत द्वारा सचेत करदें और सही निर्देश दें। यहीं पर एक और गुरु का आसान होता है। इनके अतिरिक्त मंच पर अन्य किसी व्यक्ति के लिए स्थान नहीं होता। यह मंच नेपथ्यरहित होता है। एकरुखी मंच पर वाद्यकार विलकुल पीछे वैठते हैं। यहीं पर अनुभवी गुरुजनों और गुरु का आसन होता है। आजकल भगत के मंच को आधुनिक नाटक के मंच का रूप भी दिया जाने लगा है। वाद्यों में दंगल के वाद्यों के अतिरिक्त कहीं–कहीं तानपूरा तथा सितार का प्रयोग भी किया जाता है।

निमंत्रण भेजना

लगभग तीन या चार दिन पहले नगर के समस्त अखाड़ों और जनता को भगत देखने का निमन्त्रण दिया जाता है। यह निमन्त्रण भगत खेलने वाले अपने अखाड़े की ओर से देते हैं जो प्राय: तीन प्रकार का होता है। यथा–

(१) इलायची भेजकर (२) नागे निकालकर तथा (३)समाचारपत्र द्वारा।

१. इलायची भेजना

निमन्त्रण की यह प्रणाली दंगल की निमन्त्रण प्रणाली से मिलती जुलती है। इसमें इलायची के साथ निमन्त्रण भेजा जाता जाता है।

२. नागे निकालना

इसमें चार–पांच अभिनेताओं को वस्त्राभूषणों से सजाकर सवारी के रूप में नगर के प्रत्येक अखाड़े पर भेजा जाता है। प्रत्येक अभिनेता नागा कहलाता है। ये नागे प्रत्येक अखाड़े में पहुंचकर कवित्त की भांति एक छन्द का गायन करते हैं जिसे सदा कहते हैं। गायन के पश्चात् ये नागे अपने अखाड़े की ओर

से उस अखाड़े के गुरु मुख्य संचालक तथा अन्य सदस्यों को भगत खेलने की तिथि, समय और स्थान की सूचना देकर उन्हें प्रदर्शन देखने के लिए निमंत्रित करते हैं। अखाड़े के सदस्य इन नागों को श्रद्धानुसार जलपान करा कर उनका आतिथ्य सत्कार करते हैं। आजकल नागों की सवारी के लिए कार का भी उपयोग किया जाने लगा है, परन्तु पहले बैलगाड़ी, ताँगों या बग्गियों का उपयोग किया जाता था।

३. समाचारपत्र द्वारा

अब समाचारपत्र भी निमन्त्रण भेजने के अच्छे साधन सिद्ध हुए हैं। जिस अखाड़े में भगत का आयोजन होरहा है, उसकी ओर से स्थान, समय, तिथि आदि के साथ समस्त जनता को प्रदर्शन देखने के लिये आमन्त्रित करने की सूचना किसी समाचारपत्र में प्रकाशित करवा दी जाती है।

ज्योति जगाना

शृंगारगृह (ग्रीनरूम) में भगत प्रदर्शन प्रारम्भ होने से चार घन्टे पूर्व गुरु और अखाड़े के सभी सदस्य एकत्र होते हैं। शृंगारगृह में दीवाल के एक छोटे से स्थान को गोबर मिट्टी से लीपकर उसपर घृत मिले सिन्दूर से एक स्वस्तिक अथवा त्रिशूल बनाया जाता है जहां मुख्य संचालक मन्त्रोच्चारण के साथ शुद्ध घी का चौमुखा अखंड दीपक प्रज्वलित कर चित्र को माला पहिनाकर ज्योति जगाने की रस्म पूरी करता है।

दीपक भगत की समाप्ति के बाद ही शान्त किया जाता है। अखण्ड दीपक प्रज्वलित करने के बाद हवन किया जाता है। हवन के बाद सब लोग मिलकर सबसे पहले गणेश की महिमा गाते हैं। इसके बाद इष्टदेव की महिमा का गायन किया जाता है। इष्टदेव की महिमा के बाद देवी भवानी को भेंट समर्पित की जाती है।

इसी अवसर पर नये शिष्य बनाये जाते हैं। गुरु गायन और प्रबन्ध की योग्यता देखकर अपने अखाड़े का सदस्य बनाते हैं। परम्परानुसार वे नये शिष्य के मुख में घी डालकर अथवा मोदक भरकर अखाड़े का सदस्य घोपित करते

हैं। वह गुरु की चरणरज मस्तक से लगाता है। गुरु उन्हें आशीर्वाद देते हैं। अखाड़े के सब सदस्यों को प्रसाद का वितरण किया जाता है। इस सम्पूर्ण क्रिया को ज्योति जगाना कहते हैं।

शृङ्गार व वेशविन्यास

भगत में वेशविन्यास और शृङ्गार पर अधिक बल दिया जाता है। अधिक से अधिक बहुमूल्य सच्चे आभूषणों और वस्त्रों का प्रयोग किया जाता है। कीमती वस्त्राभूषण का प्रयोग भगत–प्रदर्शन की भव्यता का प्रतीक समझा जाता है। कहा जाता है, लगभग बीस वर्ष पूर्व मनका–मेश्वरनाथ मंदिर के मैदान में सती अनुसुइया स्वांग के प्रदर्शन में हीरे और पन्ने के आभूषणों का प्रयोग किया गया था।

सरस्वतीवन्दना

मंच पर सर्वप्रथम गुरु सरस्वतीवन्दना का एक पद या छंद गाता है। इसके बाद अन्य शिष्यों में से प्रत्येक एक–एक छंद सरस्वतीवन्दना का गाता है। इसी बीच अभिनेताओं का शृङ्गार पूरा हो जाता है और वे मंच पर आ जाते हैं।

मंगलाचरण

मंच पर आ जाने पर समस्त अभिनेता व अन्य सदस्य सामूहिक रूप से इष्टवन्दना करते हैं। उदाहरण—

> अरी एरी अम्बे आये हैं शरण तुम्हारी।
> हाथ जोड़कर खड़े भंवर में रखियो लाज हमारी ।। अरी ।।

रंगा

संस्कृत नाटकों के सूत्रधार की भांति भगत में मुख्य स्वांग प्रारंभ करने के लिये रंगा नामक पात्र आता है। यह पात्र अपनी गायकी द्वारा पूर्वकालीन घटनाओं की सूचना देता हुआ आगे आनेवाली घटनाओं का उल्लेख करता है। यह रंगा कभी कभी किसी घटना विशेष का उल्लेख करने के लिये स्वांग के मध्य में भी आ जाता है।

ऐसे स्वांगों के लिये वस्तुतः रंगा अनिवार्य है। इन स्वांगों में न तो दृश्य

विधान रहता है न वेशभूषा में कोई पात्रत्व का विशेष संकेत ही । पात्रों के प्रवेश और गमन का भी नाटकीय रूप इस रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । इन समस्त क्रिया–व्यापारों की सूचना रंगा ही देता है ।

पात्र

रंगा के बाद अन्य पात्र अपने अभिनय के लिये मंच पर उपस्थित होते हैं । ये पात्र दो वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं—

(अ) पुरुष पात्र तथा (ब) स्त्री पात्र ।

स्त्री पात्रों में पुरुष ही स्त्रियों का शृङ्गार धारण कर स्त्री पात्रों की भूमिका निभाते हैं । स्त्रीपात्रों की भूमिकाओं के लिये स्वर और कंठ का ध्यान रक्खा जाता है । स्वयं स्त्रियों को स्त्रियों की भूमिकाएँ सम्पन्न करने की आज्ञा नहीं मिलती । पात्रों की संख्या स्वांग पर निर्भर करती है । एक व्यक्ति सुविधा की दृष्टि से दो या दो से अधिक पात्रों का अभिनय भी करता है ।

विषयवस्तु

विषय वस्तु की दृष्टि से भगत–साहित्य तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(अ) धार्मिक एवं पौराणिक साहित्य (ब) ऐतिहासिक साहित्य तथा (स) प्रेमाख्यानमूलक साहित्य ।

धार्मिक व पौराणिक साहित्य में उन भगतों को रखा जायेगा जिनकी रचना धार्मिक एवं पौराणिक कथाओं के आधार पर की गई है । यथा—सत्यहरिश्चन्द्र, कीचकवध, चीरहरण, गीता आदि ।

ऐतिहासिक कथानकों पर लिखी गई रचनाओं को ऐतिहासिक भगत की श्रेणी में रखा जायेगा । यथा—झांसी की रानी, सुभाष आदि । प्रेमकथाओं और उनसे संबंधित घटनाओं पर आधारित स्वांग रचनाओं को प्रेमाख्यान–मूलक भगतसाहित्य की संज्ञा दी जाती है । इसमें शीरीफरहाद, लैलामजनूं, रूपवसंत तथा सन्तवसन्त उल्लेखनीय हैं ।

इन कथानकों में शौर्य के साथ साथ प्रेम की व्यंजना देखने को मिलती है।

संवादयोजना

'भगत' के संवाद जवाब कहलाते हैं। ये जबाव संगीतात्मक होते हैं जो लय, ताल और धुन में बन्धे होते हैं। दोहा, चौबोला, कड़ा, उड़ान, दोड़ आदि प्रमुख छन्दों के अतिरिक्त अन्य छंदों तथा रागरागिनियों का प्रयोग भी इन संवादों में किया जाता है। आजकल सिनेमा की धुनों का भी प्रयोग किया जाने लगा है।

भाषा

भगत में मुख्यरूप से प्रचलित खड़ी बोली का प्रयोग किया जाता है। कठिन तथा तथा क्लिष्ट भाषा का बहुत कम प्रयोग किया जाता है। किन्तु कभी-कभी चमत्कार दिखाने के लिए अन्य भाषा का प्रयोग भी किया जाता है। जैसे—कुछ अखाड़ों में संस्कृत में भी चौबोलों की रचना की गयी है। अखाड़ा गुरु श्री खैरातीलाल नाई की मण्डी में संस्कृत के दोहे व चौबोले मिलते हैं। इसी प्रकार अन्य अखाड़ों में अंग्रेजी में भी चौबोलों की रचना की गई है। दोहे और चौबोलों की भाषा संस्कृत व अंग्रेजी अवश्य है परन्तु धुन चौबोलों और दोहों की है। इन्हें हिन्दी के चौबोलों की भांति ही सरलता से गाया जा सकता है।

प्रदर्शनसमय

भगत का प्रदर्शन रात्रि के आठ बजे प्रारम्भ होकर सुबह के चार बजे तक चलता है। कभी—कभी सूर्योदय के बाद भी दो—तीन घंटे तक भगत होती रहती है। यह आवश्यक नहीं कि भगत का एक स्वांग एक ही रात्रि में समाप्त हो। बड़े स्वांग कई रात्रि तक चलते हैं।

कढ़ाई

यह भगत की अन्तिम रस्म है। भगत को सफल बनाने के लिए जिन देवताओं को आमन्त्रित किया जाता है उन्हें आदर सहित विदा किया जाता है। कढ़ाई में कढ़ाई चढ़ाकर हलवा और उबले हुए नमकीन चने (कोंमरी) देवताओं के रूप में कन्या व लांगुराओं को खिलाये जाते हैं। आजकल हलवा व कोंमरी के स्थान पर खीर पूरी एवं लड्डू आदि का भी प्रयोग होने लगा

है। कन्या लांगुराओं की संख्या लगभग ५, ७ या ११ रक्खी जाती है। कढ़ाई का अनुष्ठान एक भगत की समाप्ति व दूसरी के प्रारम्भ के बीच के दिनों में किसी भी दिन किया जा सकता है। साधारणतः भगत की समाप्ति के तुरन्त बाद ही इस रस्म को पूर्ण कर दिया जाता है।

प्रभाव

भगत के इस समस्त अनुष्ठान पर दृष्टि डालने से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि यह लोकरंगमंच सम्भवतः शाक्त रंगमंच रहा होगा। ज्योति जलाना, त्रिशूल अंकित करना, देवी की स्तुति करना, कन्या लांगुराओं को जिमाना और उनको हलवा तथा कोंमरी देना ये सब मूलतः देवीपूजा से सम्बन्ध रखते हैं। प्रतीत ऐसा होता है कि इन तत्त्वों का आरम्भ देवीजागरण के अनुष्ठान के लिए किया गया होगा।

अखाड़े

आगरा नगर की विभिन्न बस्तियों में भगत के कई अखाड़े और उनकी शाखाएं स्थापित हैं जहां समय-समय पर भगत प्रदर्शन के लिये संगीत, गायन और अभिनय के अभ्यास होते रहते हैं। इनमें से कुछ अखाड़े इस प्रकार हैं—

(१) अखाड़ा गुरु श्री जौहरीराय मोतीकटारा (२) अखाड़ा गुरु श्री नन्द-राम लहरी ताजगंज (३) अखाड़ा गुरु श्री शेढासिंह भगतसिंह द्वार नूरी दरवाजा (४) अखाड़ा गुरु श्री जोखीराम बल्देवगंज (५) अखाड़ा गुरु श्री दुर्गदास लोहा मण्डी (६) अखाड़ा गुरु श्री रामसहाय आलमगंज (७) अखाड़ा गुरु श्री सीताराम राजामंडी (८) अखाड़ा गुरु श्री खैरातीलाल नाई की मण्डी (९) अखाड़ा गुरु श्री काशीनाथ निरालाबाद (१०) अखाड़ा गुरु श्री अयोध्याप्रसाद नमकमंडी (११) अखाड़ा गुरु श्री वृन्दावनविहारी चौक (१२) अखाड़ा गुरु श्री गिरवरसिंह (१३) अखाड़ा गुरु श्री रूपराम कचहरीघाट (१४) अखाड़ा गुरु श्री बूचासिंह पथवारी (१५) अखाड़ा गुरु श्री शोभाराम ननहाई।

**

तेरूकूत्तु

डॉ० सुरेश अवस्थी

मध्ययुग में हमारे मंदिरों ने संगीत, नृत्य, नाटक, चित्रकला और मूर्तिकला को जिस प्रकार पोषित और समृद्ध किया, उसका सम्पूर्ण इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया है, विशेषकर नाट्यकला के पोषण और विकास में मंदिरों के योगदान का हमारे रंगमंच के इतिहास में कोई उल्लेख नहीं हुआ। आज भी देश भर में कितने ही पारम्परिक नाट्य रूप हैं जो मंदिर-आधारित हैं और जिनका प्रदर्शन अनेक धार्मिक आचारों के साथ मंदिरों में होता है। उत्तरप्रदेश की रासलीला, केरल का कृष्णाट्टम और कूडियाट्टम तथा तमिलनाडु का तेरूकूत्तु (तेरू= पथ, कूत्तु=नाटक) ऐसे ही नाट्य-रूप हैं। कर्नाटक का यक्षगान भी कई प्रकार से मंदिरों से सम्बद्ध है- प्रत्येक नाट्य मंडली का नाम किसी न किसी मंदिर के नाम पर होता है, वर्ष का पहला प्रदर्शन मंदिर के प्रांगण में किया जाता है,

और अधिकांश प्रदर्शन लोग मनौती मानकर करवाते हैं। असम वैष्णव सत्रों के नामघरों (नाट्यशाला) में कृष्ण और राम के चरित्रों पर आधारित 'अकिया नाट' के प्रदर्शन विस्तृत धार्मिक आचारों के साथ होते हैं। वास्तव में, हमारा पारम्परिक नाटक दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो, धार्मिक संस्कारों वाले मंदिर–आधारित नाटक और दूसरे, धर्म-निरपेक्ष और समुदाय–आधारित नाटक। लेकिन, एक बड़ी रोचक बात यह है कि धर्म–प्रेरित और पौराणिक आख्यानों वाले नाटकों में भी कई पद्धतियों से सामाजिक वस्तुसामग्री का समावेश किया जाता है और उनमें धर्मनिरपेक्षता के मूल्य पोषित होते हैं।

तमिलनाडु का तेरूकूत्तु एक ऐसा ही पारम्परिक नाट्यरूप है जो धर्म-प्रेरित और मंदिर–आधारित है पर जिसमें अनेक युक्तियों से लोकपरक वस्तु-सामग्री का समावेश किया जाता है। सभी पात्रों, विशेषकर गौण पात्रों के आशु संवादों द्वारा, और सूत्रधार तथा विदूषक के कथनों द्वारा। तमिलनाडु के ग्रामीण क्षेत्रों में द्रोपदी अम्मन के मंदिर हैं और लोकजन पूरे विधिविधानों के साथ द्रोपदी माँ की पूजा करते हैं और मदिर के सामने उनके जीवन से सम्बन्धित नाटकों का प्रदर्शन होता है। द्रोपदी सम्बन्धी आठ नाटकों की माला ही तेरूकूत्तु में प्रमुख है। इनमें सबसे प्रसिद्ध और शक्तिशाली नाटक 'द्रोपदी वस्त्रापहरणम्' है। इसके अरिरिक्त 'प्रह्लादचरितम्' को भी महत्त्व है। विशेष अवसरों पर द्रोपदी अम्मन मंदिरों के सामने द्रोपदी नाट्यमाला के आठों नाटकों का प्रदर्शन होता है, और उसके बाद मंडलियां घूम–घूम कर गांवों में प्रदर्शन करती हैं।

तेरूकूत्तु अन्य कई लोकनाट्यरूपों के समान गेय नाटक है और संगीत इसका बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है। सभी नाटकीय संवाद गेय होते हैं, जिनका गायन पात्र और गायक मंडली दोनों ही करते हैं, जिस प्रकार रासलीला और राजस्थान के ख्याल नाटकों में। संगीत बहुत ही तीव्र और नाटकीय होता है, और उसमें लय–ताल की बड़ी विविधता रहती है। गेय संवादों के बाद बीच-बीच में पात्र गद्य में बड़े ही चुटीले आशु संवाद भी निवेदित करते हैं। ये

संवाद छोटे-छोटे प्रश्नों-उत्तरों के रूप में होते हैं । गद्य-संवादों के बाद पात्र सहसा संगीत में फूट पड़ते हैं और ऊंचे तीव्र स्वरों में संवाद गाते हैं । संगीत में धार्मिक आचारों की जैसी गहनता और भावोन्मत्तता होती है । गेय संवादों और आशु गद्य-संवादों द्वारा एक साथ नाट्यानुभव के दो स्तरों का निर्माण होता है । प्रदर्शन में वाद्य संगीत के छोटे-छोटे टुकड़ों का भी प्रयोग होता है, जब पात्र रंगस्थली में बड़ी ही सशक्त और लयबद्ध गतियों में वृत्ताकार घूमते हैं, और चकरगिन्नी काटते हुए छोटे-छोटे नृत्यखण्ड प्रस्तुत करते हैं । सभी पात्र घुंघरू पहनते हैं । तेरुकूत्तु की नृत्यवत गतियां इतनी शक्तिशाली और नाटकीय होती हैं कि पात्र बैठे हुए भी अत्यंत प्रभावशाली और ओजस्वी लगते हैं ।

अन्य लोकनाटकों के समान तेरुकूत्तु में भी पूर्वरंग का विधान है । नाटक का आरम्भ गणेशवन्दना से होता है । एक अभिनेता गणेश-मुखौटा पहनकर नृत्य प्रस्तुत करता है, और गायकमंडली गणेश-वंदना का गान करती है । इसके बाद शिव, मीनाक्षी, सरस्वती आदि देवी-देवताओं की वंदना गाई जाती है । इसके बाद सूत्रधार एक छोटे पर्दे के पीछे से, जिसे दो रंगकर्मी हाथ से पकड़कर खड़े हो जाते हैं, अपना और कथा का परिचय देता हुआ गीत गाता है । फिर वह अभिनेताओं और गायक-मंडली को सम्बोधित करके निर्देश देता है, और राजा के आगमन का प्रवेश गीत गाकर नाटक आरम्भ कर देता है । सूत्रधार बराबर रंगस्थली में उपस्थित रहता है, और कई प्रकार के नाटकीय प्रयोजनों की सिद्धि करता है । वह पात्रों का और कथा का परिचय देता है, और पात्रों से प्रश्न करता हुआ बीच–बीच में स्वयं क्रिया-व्यापार में नियोजित हो जाता है ।

प्रदर्शन की अनेक युक्तियों और रूढ़ियों में अग्रपर्दे का प्रयोग बड़ा ही रोचक है और उसके कई प्रयोजन हैं । पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान का सहज विधान इसी पर्दे के प्रयोग से नाट्यगर्भित और प्रभावशाली बना दिया जाता है । 'प्रहलादचरितम्' में पर्दे के पीछे खड़े होकर नरसिंह भगवान जिस प्रकार धीरे-

रमखेलिया

प्रो० प्रफुल्लकुमारसिंह 'मौन'

भारतीय भूभाग से सटी पूर्वी नेपालतराई में बसे राजवंशी, थारू एवं अहीरों में प्रचलित रमखेलिया सर्वाधिक लोकप्रिय लोकनाट्य है । राम का खेला (लीला) विषयक होने के कारण इसका प्रदर्शन भी रामलीला की तरह कई रातों तक चलता रहता है । रामलीला जहाँ वाल्मीकि अथवा तुलसीकृत रामकथा में आधारित है वहाँ रमखेलिया कृतिवास रामायण में । यही कारण है कि सदियों पूर्व बंगाल तथा आसाम से यहाँ आकर बसे राजवंशी, गनगाई, तजपुरिया आदि जातियों में प्रचलित रमखेलिया की भाषा राजवंशी अथवा तजपुरिया है जिसे बंगाल के निकट की बोली कहा जा सकता है जबकि झापा–मोरंग के थारूओं एवं अहीरों में प्रचलित रमखेलिया की भाषा मैथिली है । थारू एवं अहीरों ने इसे राजवंशियों से ही अर्जित किया है । फलस्वरूप मैथिली रमखेलिया पर

नाच और मर्दानगी

धीरे प्रकट होकर प्रवेश करते हैं, उसमें बड़ी ही तीव्र नाटकीयता होती है। अन्य लोक नाटकों के समान तेरूकूत्तु का प्रदर्शन सम धरातल पर होता है। रंगस्थली सज्जा-विहीन होती है और उसे किसी प्रकार की स्थानगत विशिष्टता प्रदान नहीं की जाती, जैसा कि यथार्थवादी नाट्य प्रदर्शन में होता है। अतः अग्रपर्दे द्वारा नाटकीय कथा के काल और स्थान का बोध बड़ी ही कुशलता से कराया जाता है। लोकरंगमंच की अनेक रूढ़ियों में स्थान और काल का बोध कराने वाली रूढ़ियां ही इस रंगमंच की मूल रूढ़ियां हैं, जो इसकी विशिष्ट प्रकृति का निर्माण करती हैं जो आधुनिक शहरी रंगमंच से नितान्त भिन्न हैं।

केरल के कथकलि और कर्नाटक के यक्षगान के समान ही तेरूकूत्तु में रूप-सज्जा और वेशभूषा जटिल और शैलीबद्ध है। राजसी पात्र छोटे-छोटे रंग-बिरंगे शीशों जड़े ऊँचे-ऊँचे मुकुट पहनते हैं, भुजकिरीट धारण करते हैं, और पात्रों की कोटि और प्रकृति के अनुसार उनके मुख रंगे जाते हैं और आँखों के नीचे गहरे काले, लाल रंगों की बुन्दकियां और अर्द्धवृत्त बनाए जाते हैं। खल-नायकों के मुँह लाल रंग से रंगे जाते हैं, और सफेद और काले रंग की बुंदकियां होती हैं। भीम आदि पात्रों की मुखसज्जा नीले और काले रंग से होती है, नरसिंह बड़ा ही नाटकीय सिंह-मुखौटा पहनते हैं। सभी पात्र ढीली कमर तक की बण्डी पहनते हैं, और चुस्त काले पायजामे के ऊपर ऊँचे घेरदार घाघरे पह-नते हैं।

तमिलनाडु में शास्त्रीय परम्परा की कलाएँ-संगीत, नृत्य जहाँ इतनी समृद्ध और लोकप्रिय हैं, वहीं संगीत, नृत्य और नाटक की लोक-परम्पराएँ बहुत क्षीण हैं। लेकिन तेरूकूत्तु लोकनाट्य बड़ा ही कलात्मक है। मद्रास की निर्धन बस्तियों और गाँवों में कई मंडलियां आज भी काम करती हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध मंडली नटेश तम्बिरान की है और स्वयं नटेश बहुत शक्तिशाली अभिनेता हैं। वह दुश्शासन और हिरण्यकश्यप की भूमिकाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। दुश्शासन की भूमिका में तो उनका अत्यन्त उग्र और तेजस्वी अभिनय बहुत ही उच्चकोटि का है। वह बारूद के धमाके के साथ मुँह से आग उगलते हुए जब रंगस्थली में

प्रवेश करते हैं तो दर्शक कांप जाते हैं । कुछ वर्ष पहले बारूद के धमाके के साथ ही उनका एक हाथ उड़ गया था । नटेश की गतियां और मुद्राएँ इतनी सशक्त और नाटकीय होती हैं कि उन्हें सहजही महान अभिनेता की कोटि में रखा जा सकता है । यह खेद की बात है कि धीरे-धीरे इन नाटकों का दर्शक समाज घटता जा रहा है, और इस परम्परा के अभिनेता आर्थिक कष्टों में रह रहे हैं । लोकनाट्य-परम्परा की रक्षा और उसका पोषण एक ऐसा गम्भीर सांस्कृतिक दायित्व है जिसके प्रति सत्ता और रंगकर्मियों दोनों को ही सजग होना है ।

**

भागवतमेल : लीलावती-प्रह्लाद खेल

राजवंशी का प्रभाव देखा जा सकता है । यद्यपि भाषाभेद को छोड़कर राजवंशी एवं मैथिली रमखेलिया में किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं देखी जाती । एक सी कथावस्तु, एक सा विधान, एक से उपकरण और एक सा प्रस्तुतीकरण । अतः यह निर्विवाद रूप से स्वीकारा जा सकता है कि रमखेलिया का मूल बंगला के कृतिवास रामायण में निहित है ।

इसकी कथावस्तु मुख्यतः राम–वनगमन से प्रारम्भ होकर रावणवध तक चलती है । इसे कई खण्डों में विभाजित कर क्रमवद्ध रूप में अथवा कभी–कभी स्वतंत्र रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है । उदाहरणार्थ रामवनवास, सीताहरण, सागरबन्धन, रावणवध आदि रमखेलिया के ही विभिन्न खण्ड हैं । लेकिन क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किये जाने पर इस सम्पूर्ण लोकनाट्य को रामलीला की तरह रमखेलिया ही कहा जाता है ।

इसका प्रदर्शन खुली एवं सर्वदिशीय रंगभूमि में किया जाता है । इसके लिए वहुत वड़ी जगह चाहिए, जहाँ रावण जैसा पात्र प्रायः चार फीट चौड़ा काठ का मुखौटा पहने भारी भरकम रथ के साथ उपस्थित होता है और उसी पर सीता का हरण कर गरजता हुआ चल देता है । सीता विलख विलख कर अपना दुःख रोती चली जाती है—**'आमाक हरिया जाछे पापिष्ट रावन ।'** रमखेलिया में वड़े-वड़े नाट्य उपकरणों को प्रस्तुत करने वाले ऐसे दृश्यों की कमी नहीं । राम, लक्ष्मण और सीता को छोड़कर इसके प्रायः सभी पात्र मुखौटे लगाकर अभिनय करते हैं । सरायकेला के छाऊ तथा काठमाण्डू के देवी नाच, महाकाली नाच, ज्यापू नाच एवं विविध जात्राओं की तरह रमखेलिया में भी मुखौटों का प्रयोग इसकी प्राचीन एवं समृद्ध परम्परा की ओर संकेत करता है । प्राचीनकाल में अनेकानेक देवी देवताओं तथा अदृश्य शक्तियों से सम्पर्क स्थापन के लिए इन मुखौटों का निर्माण किया जाता था ।

रमखेलिया के प्रारम्भ से पूर्व दिक्पालों की वन्दना की जाती है । तत्पश्चात 'मूल' गाइन (गायक) नाट्य का परिचय प्रस्तुत कर शंखध्वनि करता है और पात्रों के आगमन के साथ रमखेलिया प्रारम्भ हो जाता है । इस क्षेत्र में यह

'मूल' किसी भी लोकनाट्य का प्राण होता है जो नाट्य के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक सूत्रधार, निर्देशक के अतिरिक्त कभी-कभी लड़खड़ाते पात्रों को संभालकर सहपात्र की भूमिका भी निभाता चलता है। इस प्रकार 'मूल' रमखेलिया ही नहीं बल्कि किसी भी लोकनाट्य के प्रारम्भ से अन्ततक सर्वदा रंगभूमि में उपस्थित रहकर उन्हें संचालित करता है। रमखेलिया के सर्वाधिक कारुणिक प्रसंग के अवसर पर, चाहे वह लोकनाट्य के मध्य में हो या अन्त में, आरती का विधान अनिवार्य रूप से किया जाता है।

रमखेलिया के अभिनेता रंगभूमि में उपस्थित होने से पूर्व अपना साज-शृंगार वासघर (सज्जागृह) में करते हैं। यह वासघर रंगभूमि से अलग एकान्त में होता है। तत्पश्चात् वे पात्र 'मूल' के निर्देश पर अपने गीतमय संवादों को प्रस्तुत करते चलते हैं। गीतों की प्रधानता के कारण रमखेलिया को गीतनाट्य की संज्ञा दी जा सकती है।

रमखेलिया के संवाद बड़े रोचक तथा सधे हुए होते हैं। इस दृष्टि से यहां सीता-लक्ष्मण का संवाद प्रस्तुत है जिसमें स्वर्णमृग के पीछे राम के चले जाने एवं मारीच के आर्तनाद पर सीता की विह्वलता, लक्ष्मण के प्रति आशंका एवं लक्ष्मण द्वारा रेखा खींचे जाने का प्रसंग दिया हुआ है :

सीता- सुन देउरा लखन, सुनइ वचन। ऊँचा स्वरे प्रभु जेन हे देउरा डाकि छे तमाके हे। शीघ्र जाय देख ओहो रे रायकसे (राक्षस) जेन मारे हे। यत सुनीनाम आमी हे देउरा करुणा वचन हे। शीघ्र जाये देख ओहोरे देउरा लखन हे।

लखन- सुन प्राणेर भावजी, सुनइ वचन। श्री रामे रे मुखे नाही ओहोगे भावजी, कातर वचन हे बोलो तुमी को जानी वो। ओहोगे भावजी, धुनु (धनुष) केर आगन, ओहो सुन प्राणेर भावजी सुनइ वचन। एतक आकुल ओहो गे भावजी, किसेर कारण मृगा मारिए आसिवेन। किसेर विस्मय सुनइ प्राणेर भावजी।

सीता- सुन देउरा लखन, सुनइ वचन। भरत लइले राज हे, देवरा तुमी लेह

नारी। भरतेर संगे ओहोरे देवरा, तुमार आसे मिले। सुन देवरा लखन सुनइ वचन। मनेर वासना ओसे हे देवरा, आस यही वेला हामारे आसने ओहो देवरा प्रेभुर कर हेला, सुन देवरा लखन।

लखन– सुन प्राणेर भावजी सुनइ वचन तुमाहाक राखिया जामु रो भावजी काहारे निकटे। सुना गृह थाक भावजी उपयुक्त हये। सुन प्राणेर भावजी।

सीता– सुन देउरा लखन सुनइ वचन। यदि नाही जाइवो ओहोरे देवरा, तोर भाई उदेसे हे, गालाय काटरी लय देवरा तेजु मु जीवन। सुन देवरा···।

लखन– सुन प्राणेर भावजी, सुनइ वचन। सव विष्णु रघुनाथ ताहार त्रिया सीता तुमरा सवे रक्षा कर प्रभुर वनीता। एक सत, दुई सत, सत तिनीवार। ओहे सत भंगन हइले भावजी जलम नही आर ओहे एक रख्या (रेखा), दुई रख्या, रख्या तीनीवार गो भावजी रख्या नेघन (उल्लंघन) हयले जलम नही आर गो भावजी।......

जब रावण सीता का हरण कर बलात् ले जाता है तो वह चन्द्र–सूर्य को साक्षी रख कर अपना दुःख वन के वृक्ष एवं लताओं को रो–रोकर सुनाती है और कहती है कि कहीं राम वन में मिल जायँ तो उन्हें मेरा दुखड़ा कह देना—

सीता—चन्द्र–सूर्य दुई भाई ताह रह साक्षी।
आमाक हरिया जाछे ने पापिष्ट रावन।
देख रे नगरे लोक देख वाहरि हया।
कथा गेलो राम प्रेभु देउरा लखन।
आमाक हरिया जाछे पापिष्ट रावन।
सागरेर पार घर वले लंकापुरी।
अन्तरेखा लया गेलो तुमार सुन्दरी।
सुन–सुन विरख गन सुन विरखलता।
कहियो आमार कवा लया गेलो सीता।

प्रभुर देख यदि वनेर भीतरे
लइलो तुमार सीता लंकारे रावन ।।

इसके पूर्व रामवनगमन के समय सीता भी उनके साथ जाने को उद्यत हो जाती है । इस संदर्भ में सीता द्वारा प्रस्तुत गीत भाषा तथा भाव दोनों ही दृष्टियों से कम महत्वपूर्ण नहीं है ।

इस क्षेत्र में थारूओं की अपेक्षा राजवंशी अपने लोकनाट्यों की दृष्टि से अधिक समृद्ध हैं । इनके लोकनाट्य मुख्यतः राम तथा कृष्ण की लीलाओं से सम्बद्ध हैं जिनमें रमखेलिया एवं उसके खण्ड, पांच पाण्डव, रुक्मिणीहरण, सुभद्राहरण, उपाहरण, विदापत आदि । इनके अतिरिक्त कंचनसरी, उजियालसरी तथा मूलासरी नामक कुछ सामयिक एवं सामाजिक लोकनाट्य भी प्रचलित हैं, इन्हें वे भुलकी नाच (नाट्य) कहते हैं । इनमें सामाजिक दुराचारों को व्यंग्य रूप में प्रस्तुत किया जाता है । इस प्रकार के लोकनाट्यों की परम्परा अब समाप्त प्राय है । अन्यान्य लोकनाट्यों में तिलोत्तमा, कालीविलास आदि भी प्रचलित हैं ।

इस प्रकार राजवंशियों में पौराणिक, धार्मिक तथा सामाजिक लोकनाट्यों की एक समृद्ध परम्परा देखी जा सकती है जिन्हें खुली रंगभूमि में नृत्य, गीत एवं अभिनय की त्रिवेणी पर भारी भरकम उपकरणों एवं रंगविरंगी भड़कीली पोशाकों के साथ प्रस्तुत कर युगों से जनरंजन के माध्यम के रूप में सम्मानित किया जा रहा है ।

गोंधळ

डॉ० श्याम परमार

गोंधळ की प्रथा धर्ममूलक है। महाराष्ट्र में प्राचीन काल से गोंधळ आयोजित करने की प्रथा रही है। देवीस्तुति के साथ-साथ इस आयोजन में नाटकीय अनुकरण—नकलों को प्रोत्साहन मिलता रहा। एतदर्थ इसे लोकपरक नाट्यप्रकार के रूप में स्वीकार किया गया। इतना ही नहीं, गोंधळ ने मराठी नाटकों की आधारभूमि संवारने में आंशिक सहायता भी की। शब्दार्थ की दृष्टि से गोंधळ का तात्पर्य गड़बड़ी अथवा अव्यवस्था से है। किन्तु मूलतः उसका सम्बन्ध इन दोनों कार्यों से नहीं है। भगवान शंकर के ग्यारहों रुद्रगणों ने मणिकर्णिका घाट पर तपश्चर्या की। शंकर ने प्रसन्न होकर उन्हें डमरू, सर्प, वाघछाल, गंगा, चन्द्र, भस्म, रुद्राक्षमाला आदि प्रदत्त किये। रुद्रगण शंकर के बड़े भक्त थे। कालान्तर में 'गण' शब्द भक्त का पर्यायवाची हुआ।

गणदल अर्थात भक्तगण। गणदल का विगड़ा रूप ही क्रमशः गंद-गोंदळ-गोंधळ हुआ।

मन और वाणी से गोचर विश्व ग-कार रूप है। जो अगोचर है वह जीव और परमात्मा का एक भावरूप ण-कार है। इन तत्वों से संयोजित 'गण' का स्वामी गण+ईश—गणेश है। अतएव 'गण' की स्तुति में सम्पूर्ण गोचर-अगोचर सृष्टि की स्तुति निहित हुई। इस दृष्टि से गण को गानेवाले 'गोंधळ' हुए। गोंधळ सम्प्रदाय के लिये 'गोंधळी' शब्द प्रचलित है। भगवान शंकर द्वारा प्रदत्त त्रिशूल; डमरू रुद्राक्षमाला आदि गोंधळी के साधन हैं। किन्तु आज गोंधळी भक्त रूप में देखे नहीं जाते। चारसौ-पांचसौ वर्ष पूर्व भी वे शंकर की स्तुति नहीं करते थे वरन् ज्ञात-अज्ञात विश्व की आदिजननी देवी की वंदना करते रहे। लगता है कि इन लोगों ने पेशे की दृष्टि से अपने यजमानों के मतों का ध्यान रख कर क्रमशः देवीस्तुति को स्वीकार किया। महाराष्ट्र में सदियों से शक्तिपूजा का प्राधान्य रहा है। मराठी लोकसाहित्य में इसी शक्ति की यत्रतत्र चर्चा है। वन शंकरी (इलकल, विजापुर), भवानी, दुर्गा, तुकाई (पूना, सप्तश्रृङ्गी, वणी, नासिक), कमल भैरवी (सतारा), एकवीरा (कार्ले,पूना), यमाई (औंध), रेणुका (माहूर) आदि रूपों में पूज्य आदिशक्ति के मंदिर सम्पूर्ण महाराष्ट्र में पाये जाते हैं। इन स्थानों में प्रतिवर्ष उत्सव होते हैं। बड़े पैमाने पर पूजा की जाती है। भारतीय ग्रन्थों में इसी आदि शक्ति की महिमा विन्ध्य-वासिनी (महाभारत), उमा, चंडी (चंडीशतक, सातवीं शताब्दी), चामुंडा आदि रूपों में की गई है। अस्तु, महाराष्ट्र आठसौ-नौसौ वर्षों से शक्ति की ही उपासना करता रहा। गोंधळी भला कब तक इस प्रभाव से विमुख रहते ?

मराठी संतकवि नामदेव के बहुत पहले से गोंधळप्रथा चली आ रही है, क्योंकि स्वयं नामदेव द्वारा रचित एक स्वतंत्र अभंग (छंद) गोंधळ के नाम से प्राप्त है।

विवाहादि अवसरों पर गोंधळ की व्यवस्था की जाती है। मंडप के नीचे 'खण' नामक चोली का वस्त्र बिछाकर, आम्रपत्रों और कलश सहित अम्बा की

प्रस्थापना करने के पश्चात् गोंवळी गोंवळ आरम्भ करता है। पवाड़े आदि पद ग्राम्यवाद्यों के साथ पूरे उत्साहपूर्वक कहे जाते हैं। इस प्रकार संगीत एवं धर्म के बहाने नाट्यतत्वों की अभिव्यंजना होती है।

गोंवळ के स्वांग मनोरंजक होते हैं। पाटिल बुआ और गोंधळी की आरम्भिक बातचीत के पश्चात् गोंधळ का आरम्भ इस रूप में होता है:—

सुदिन सुवेल तुझा मांडिला गोंधळ हो ॥
पंचप्राण दिवट्या दोन्ही नेत्राचे हिलाल हो ॥ (घृ)॥

घटस्थापना केली पंढरपुर महाद्वारी हो। आकाशी मंडप दिधला ते नेत्री तालावरी हो। बैसली देवा पुढ़ें वैष्णवाचें गाणें हों। उदोकार गर्जती गला तुलसीचें भूषण हो ॥

असे गोंवळ कुठें-कुठें पडले होते ? तुलजापुरी कौंडनपुरी वरं कथा कोणाची लावू यजमान ? कात्या चाफ्याची ? कां आग्न पासोडवाची ? कां जायाराणीची ?

पाटील—जायाराणीची।

गोंधळी—ठीक आहे नमो गणपति, नमो श्रोताया, नमो माझया हरिवासु नारायणा हो। हा, हा, हा, कथा ऐका आतां अमुक फलाण्या गांवचा राजा राजा जी जी, राजा विसतान्या गांवी गेला जी जी, त्याराजाचें काय बा नांव-नांव जी जी, ते कोरया वेटयाला ठावें ठावें ठावें जी जी; एक सौदागर राणी राणी जी जी, तिचे नांव जयाराणी राणी जी जी, जयाराणी ने सिणगार केला जी जी, नेसली जरी जरितारी पाटोलाजी, अंगी मदनाची कांचोली जी जी, पायी विचव्याचा भुणत्कार कारजी; आपला पति ओवालिते जी मोरगांवच्या मोरवा ठानका जा, जेजुरीच्या खंडवा ठानका जा ?[1]

इस प्रकार के प्रसंग प्राय: मूल गोंधळ आरम्भ करने के पहले प्रस्तुत किये जाते हैं। पुजारी की नकल करते समय कभी-कभी हास्य की सृष्टि होने की पूर्ण—

---

1. महाराष्ट्र नाट्यकला व नाट्यवाङ्मय, पृ० ९–१०.

सम्भावना होती है । 'पूजा-ग्रथ श्री क्राफर्ड साहेब वार्षिक समारंभस्य, इंग्लिस एसफेस अवतारस्य, आद्य सके १०२ सालपट साहेब नाम संवत्सरे......आदि ।' कभी-कभी तत्कालीन व्यक्तियों के प्रति सामाजिक धारणाओं की अभिव्यक्ति होती है । यहां की घटना वहां और वहां की घटना यहां प्रस्तुत करना कठिन नहीं है ।

महाराष्ट्र में एक प्रसिद्ध स्थान है तुलजापुर, जहां के गोंधळी पोतराज कहे जाते हैं । कहते हैं देवीपूजा के समय किसी समय कदम्बराज स्वयं उपस्थित रहा करते थे । कदंब वंश में काकुत्स्थ (ई. स. ५३५), मृगेश (ई. स. ५७०) एवं भानु (ई. सन् ६००) राजाओं के नाम उल्लेखनीय हैं । चालुक्य नरेश राजा कीर्तिवर्मा ने कदम्बों पर विजय पायी और तभी से (छठी शताब्दी) चालुक्यों ने तुलजापुर की भवानी को अपनी कुलदेवी स्वीकार किया । इसके पहले कदम्बराज तुलजापुर में आयोजित देवीउत्सवों में सदैव सम्मिलित होते थे । मैसूर के वेलूर इलाके में पायेगये एक शिलालेख में कदंब के मयूरवर्मा का नाम मिलता है जो ५वीं शताब्दी में हुआ । पोतराज गले में कौड़ियों की माला धारण करते हैं । किसी समय देवी के गले में सोने की पुतलियों की माला पहनाई जाती थी । शिवाजी के समय महाराष्ट्र में नया जागरण आया । तब वीरगीत पवाड़ों को गाने का काम भी इन्हीं गोंधळी अथवा पोतराजों ने किया । गोंधळी देवी अंबा की स्तुति करते समय विविध प्रकार के नाटकीय मनोरंजन करते हैं और उनकी इस व्यापक शैली के कारण ही 'गोंधळ' लोकपरक नाट्य की एक विधा मानी गयी ।

महाराष्ट्र में, दो प्रकार के गोंधळ प्रचलित हैं—

(१) साधा गोंधळ या मराठी गोंधळः जिसमें भक्ति का प्राधान्य होता है । इसमें कीर्तनों के अनुरूप पूर्वांग और उत्तरांग होते हैं ।

(२) डौरी भुत्ये, आरादी (आराधी) और पोतराजों का गोंधळ । इसमें विविधता लक्ष्य की जाती है ।

मराठी गोंधळ में चार पात्र होते हैं । मुख्य गोंधळी नाईक (नायक) कहलाता है । हाथों में झांझ लेकर नायक कथा कहता है और दूसरा बीच-बीच में हास्यप्रधान बातें छेड़ने का काम करता है । तीसरा संबळ धारण करता है

और चौथा 'तुणतुणे' (चिकारा) नामक वाद्य बजाता है।

मुख्य कथाभाग में हास्यात्मक प्रसंग की अवतारणा करने के उद्देश्य से अन्तर्कथाएं कही जाती हैं। इन कथाओं में रंग भरने की कुशलता नाटकीयता से सम्बद्ध है। एक व्यक्ति कथा का कुछ अंश गद्य में कहता है और दूसरा बीच-बीच में गाता जाता है। गाने का ढंग उनका अपना है, परम्परागत है। जिस प्रकार गोंधळ आयोजित करते समय नया कपड़ा, चावल अक्षत, चौक, तांबे का पैसा, नारियल, पान, दीपक आदि पहले से आवश्यक हैं, उसी प्रकार गोंधळी की साज-सज्जा, देवताओं की क्रमवार स्तुति, आह्वान, तत्पश्चात् पोत खेलने का कार्यक्रम, संबळ बजाना, आरादी का पांव में घुंघरू पहन कर चारों दिशाओं में पोत नचाकर नृत्य करना आदि आयोजन उतने ही रूढ़ हैं। पोतराज प्रायः अनपढ़ होते हैं, पर उनकी भाषा में चटकाव लक्ष्य करने की चीज है। 'कर-पल्लवी' भाषा कहें तो और भी उपयुक्त होगा। भाषा का यह गुण वस्तुतः वैचित्र्यपूर्ण है। लगता है जैसे उसमें कई संदेश छिपे हों। धार्मिक, सामाजिक और राजकीय तीनों प्रकारों के प्रचार गोंधळ में गाये गये पवाड़ों द्वारा किये गये। पर गोंधळ या पोतराज की नाटकीयता ने एक खासा धर्मलुब्ध मनोरंजन प्रदान किया। चारण-भाटों की सी यशोवर्णन में पटुता तो इनमें भी है, पर उनकी नाट्योन्मुखी शैली अधिक आकर्षक और लोकप्रिय रही। एक दीर्घ परम्परा है गोंधळ के पीछे। संतों से इसे प्रश्रय मिला। लोगों ने इसे अपनाये रखा।

दो ढाई घंटे में गोंधळ का एक कार्यक्रम सम्पन्न हो जाता है। प्रायः मैदान में जहां 'गोंधळ' आयोजित किया जाता है लोग खड़े होते हैं। बीच-बीच में गोंधळी से प्रश्न करते हैं। ऐसा विश्वास है कि देवी गोंधळी के मुंह से उत्तर देती है। यों तो 'गोंधळ' का निश्चित समय नहीं है। पूरी रात भी गोंधळ हो सकता है। दिन में तो होता ही है। इसमें अन्य नाटकों की तरह मंच की आवश्यकता नहीं होती। अक्सर गोंधळ धार्मिक लोकाचार के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। कुटुम्ब में शुभकार्य सम्पन्न करने के पूर्व 'गोंधल' के

माध्यम से प्राय: सभी देवीदेवताओं का आह्वान किया जाता है। एक आस्था है, इस परम्परा के पीछे। किन्तु गोंवळी अथवा पोतराज धार्मिक आचारों के साथ कु भी अवतारणा करते हैं, वहीं नाटकीय तत्वों की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। आज भी गोंधळ जीवित है। ज्ञानदेव का एक प्रसिद्ध गोंधळ है–डौर। डौर का मतलब है वाद्य पर गाया जाने वाला गीत। मनुष्य भिन्न भिन्न स्थि–तियों में विविध नाद व्यक्त कर अपने सुख–दुख प्रकट करता है। गोंधळ भी अभिव्यक्ति का एक प्रकार हैं। ज्ञानदेव ने कहा—

आता परिसा पाँच नाद। पांचा नांदाचे पांच भेद।
पहिला नाद चटपट चटपट। दूसरा नाद खटपट खटपट।
तिसरा नाद लटपट लटपट। चौथा फट फट फट फट।
पांचवा तळमळ तळमळ।

**

भागवतमेल

ई० कृष्ण अय्यर

भागवतमेल तंजौर जिले का सुप्रसिद्ध नृत्यनाट्य है । इसकी परम्परा लगभग ११ वीं शताब्दी से मानी जाती है । दक्षिणभारत में इसका उत्कर्ष तीर्थनारायण योगी के काल में हुआ । यह 'कृष्णलीलातरंगिनि' का लेखक था जो लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व आंध्र प्रदेश से आकर वराहुर नामक स्थान में आकर बस गया । कहते हैं इसकी मृत्यु भी यहीं हुई । इसकी यह मान्यता थी कि संगीत नृत्य एवं अभिनय की त्रिवेणी ही भागवत के दार्शनिक सत्यों को उद्घाटित करने में सक्षम हो सकती है । इसके अनुयायियों में वेंकटराम शास्त्री नामक एक महान् रचनाकार हुआ जो मेलात्तूर में लगभग १५० वर्ष पूर्व तक जीवित रहा । यह त्यागराज का एक वरिष्ठ समकालीन संत था । इसके लिखे प्रह्लाद, मार्कण्डेय, उषा, रुक्मांगद और हरिश्चन्द्र नामक नाटक बहुत प्रसिद्ध रहे हैं । इनके अति–

रिक्त इस लेखक ने अन्य नाटकों की भी रचना की जिनमें गोलामम, सीता-कल्याणम, रुक्मिणीकल्याणम, ध्रुव, कंसवध, सावित्रीवैभवम और भस्मासुर-वधम नामक बारह नाटक विशेष प्रसिद्ध हुए। इनके प्रदर्शन तंजौर के प्रायः मेलात्तूर, शूलमंगलम, ऊतुकाड, सालिदामंगलम नेल्लूर तथा थप्पेरुमा नेल्लूर नामक गांवों में मन्दिर उत्सव के रूप में प्रतिवर्ष मई-जून माह में अधिक होते थे। वर्तमान में केवल मेलात्तूर ही एक ऐसा गांव है जहां नियमित रूप से आज भी इसका लघु किन्तु कलात्मक प्रदर्शन होता है।

तमिलनाडु का यह भागवतमेल मलाबार के कथकलिनृत्य से मिलता जुलता है। कथकलि की भांति यह भी रातभर चलता है। इसमें आधुनिक नाटक जैसी मंच-व्यवस्था नहीं होती। सर्वप्रथम नाटक के मुख्य पात्रों का परिचय 'पात्र-प्रवेशम' द्वारा ही दिया जाता है किन्तु अन्य बातों में ये एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं। कथकलि का अभिनय समृद्ध, ओजपूर्ण व उल्लासमय होने पर भी पारम्परिक नाट्यशास्त्र से कई बातों में भिन्नता लिए हुए है, जबकि 'भागवत-मेल' पूरी तरह उसका अनुकरण करता है। कथकलि में नर्तक-अभिनेता बोलते अथवा गाते नहीं हैं, वरन पार्श्वसंगीत के साथ केवल मूक संकेतों से अपने अभिनय को स्पष्ट करते हैं। भागवतमेल के नर्तक कभी-कभी गाते बोलते भी हैं। जहाँ कथकलि में मुख्य वाद्य मड्डलम या नगाड़ा होता है वहीं भागवतमेल में कण्ठसंगीत और वाद्यसंगीत का सम्मिश्रण पाया जाता है तथा विभिन्न प्रकार के वाद्ययंत्र—बांसुरी, वायलिन व मृदंगादि—काम में लाए जाते हैं। वेशभूषा तथा नृत्य व अभिनय की दृष्टि से कथकलि पारम्परिक लोककला का आभास देता है जिससे इसका विकास हुआ माना जाता है। प्रचण्ड आवेगयुक्त पुरुषोचित शौर्य व रोमांचकारी यथार्थ की प्रधानता के कारण कथकलि गत्यात्मक स्फूर्ति की कला है। इसके विपरीत भागवतमेल अभिनय में अपनी विशिष्ट व्यंजनापूर्ण भाव-भंगिमाओं तथा नृत्य के अत्यंत कलात्मक प्रकारों के कारण अधिक गंभीर व लालित्यपूर्ण बन पड़ा है। भरत के नाट्यशास्त्रानुसार इसमें यथार्थ का अनु-करण नहीं किया जाता। कथकलि की भांति युद्ध व वध के दृश्यों का अभिनय मंच पर न किया जाकर मात्र उनका वर्णन कर दिया जाता है।

विजयनगर के राजाओं के समय से लेकर तंजोर के महाराष्ट्र राजकुमारों के समय तक तेलुगु ही तमिलनाडु की राजभाषा रही थी; अतः भागवतमेल की रचना भी इसी भाषा में हुई। इसमें मुख्यपात्रों का अभिनय कुछ विशिष्ट परिवारों के विशेपाधिकार में था जो पीढ़ीदरपीढ़ी चले आ रहे थे। वैसे यह कला इन गांवों के सभी निवासियों के जीवन का एक अभिन्न अंग होती थी। इसमें सभी पात्रों का अभिनय पुरुषों के ही जिम्मे रहता था। वर्तमान में तमिलनाडु में जो नृत्यनाट्य प्रचलित हैं उनकी रचना आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व वेंकटरमण शास्त्री द्वारा हुई कही जाती है। किन्तु भागवतमेल की परम्परा इससे काफी समय पहले से ही विद्यमान थी। भारतवर्ष की सभी ललितकलाओं की कल्पना आत्मसाक्षात्कार के लिए की जानेवाली ईश्वरभक्ति के एक माध्यम के रूप में की गई थी। यहां मंदिरों की अपनी निजी नाट्यशालाओं में भक्त कलाकार ईश्वरपूजा के एक अंग के रूप में संगीत, नृत्य अथवा अभिनय का प्रदर्शन करते थे। चोल और विजयनगर के राजाओं और उनके वाद के शासकों का संरक्षण भी नृत्यनाटकों के विकास में सहायक सिद्ध हुआ। वेंकटराम शास्त्री और नटेश अय्यर के जन्मस्थल मेलात्तूर का उद्भव और विकास इस वात का प्रमाण है।

लगभग ३०० वर्ष पूर्व 'कृष्णलीलातरंगिनि' के लेखक और अनन्य कलाप्रेमी तीर्थनारायण स्वामी ने तेलुगु भाषा में पारिजातहरणम, रुक्मांगद और कुछ पादवर्णों जैसे अनेक नृत्यनाटकों की रचना की थी। उसके वहुत समय वाद वेंकटराम शास्त्री के पिता गोपालकृष्ण शास्त्री ने भी 'ध्रुव', 'गौरी', 'सीताकल्याणम' और रुक्मिणिकल्याणम' आदि नृत्यनाट्य रचे। कुछ गांवों में आज भी इन नाटकों की पांडुलिपियां मिलती हैं।

जयदेव ने अपनी भक्ति में गीत और अभिनय का उपयोग किया था। पुरंदरदास ने भी गीत और शुद्ध नृत्य को अपनी भक्ति का माध्यम वनाया। आगे चलकर त्यागरास आदि संतों ने केवल संगीत को ही भक्ति का साधन वनाकर संतोप कर लिया। किन्तु तीर्थनारायण जैसे कुछ अन्य लोगों ने इन विधाओं

में से प्रत्येक को अपूर्ण माना। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि पूर्ण भक्ति के लिए संगीत के साथ-साथ नृत्य और अभिनय द्वारा विभिन्न भावों और भावनाओं की अभिव्यक्ति आवश्यक है। उनकी इस धारणा का संकेत हमें 'लीला-तरंगिनि' के गीतों में मिलता है। अपने गीतों तथा नृत्य नाटकों की रचना उन्होंने भागवतकथाओं में वर्णित भक्ति के सिद्धान्तों और पद्धतियों का पूर्ण अनुकरण करते हुए की थी। उन्हें भरतनाट्यम के संगीत, नृत्य और अभिनय द्वारा पौराणिक कथाओं के प्रस्तुतीकरण में ही समग्र भक्ति के दर्शन हुए। जिन लोगों ने इस प्रकार से ईश्वर का गान किया तथा भक्ति को ऐसे माध्यमों तथा कालक्षेपम द्वारा प्रस्तुत किया वे भागवतार कहलाए और उनके द्वारा खेले गए नाटकों को भागवतमेल नाटक की संज्ञा दी गई।

भागवतमेल कला साधारण नाटक से कुछ भिन्नता लिए हुए है। इनमें एक खास भिन्नता यह है कि भागवतमेल में केवल नाटकीय रुचि की ही वस्तु न होकर संगीत, नृत्य और अभिनय जैसी शास्त्रीय कलाओं का सामूहिक समन्वय मिलता है। इसे अन्य विधाओं से अलग करनेवाला दूसरा गुण इसमें आद्योपान्त छाई रहनेवाली लयात्मकता है। इसके सभी छोटे-बड़े पात्र लय के के साथ चलते-फिरते, लय के साथ प्रेम और घृणा करते, लय में ही हंसते-रोते तथा लय के ही साथ मूर्छित होते व मरते हैं। संक्षेप में साधारणतम नमस्कार से लेकर इसकी जटिलतम स्थिति तक में हर बोल गीत अथवा भंगिमा को लय ही संचालित करती है।

आज भी, जब कि इस कला का स्तर वह नहीं रह गया है जो कि इसके चरमोत्कर्षकाल में था, कोई भी दर्शक इसके तीन प्रमुख गुणोंशुद्ध शास्त्रीय कर्नाटक संगीत, संगीतपूर्ण सोलुकत्तु-युक्त आकर्षक नट्टुवंगम तथा परिष्कृत कोटि के शास्त्रीय अभिनय द्वारा मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। विभिन्न तालों व गतियों में कई प्रकार का पादसंचालन इसमें शामिल है। यदि भागवतमेल में एकमात्र खामी है तो वह यह है कि यह विभिन्न नृत्यहस्त (हस्तलाघव) तथा मोहक मुद्राओं के समन्वय द्वारा भरतनाट्य की विशिष्ट देवुजाति नृत्य-

माला को प्रकट नहीं कर पाया है।

मेलात्तूर नाटकों का अधिकांश मोहक प्रभाव उनकी रंगीनसम्पन्नता के कारण है। वेंकटराम शास्त्री के नृत्यनाटकों के गीत उच्च शास्त्रीय पद्धति के हैं। उनके नानाप्रकार 'पद्य' और 'चूर्णिका', 'शब्द' और 'धारु', 'पद' और 'पादवर्ण' हैं। उनमें से कई प्रकार स्वर रचनाओं और 'सोलुकत्तु' 'जातियों' से युक्त है। उनकी व्याख्या व प्रस्तुतीकरण भी भलीभांति प्रशिक्षित विद्वानों द्वारा अत्यंत उत्तम, मोहक व भावपूर्ण ढंग से होता है। यही कारण है कि भागवतमेल दर्शकों के समक्ष इतने प्रकार के अकर्षण प्रस्तुत करता है कि इसके प्रदर्शन के समय वे मंत्रमुग्ध होजाते हैं। जब इस जादुई वातावरण में अभिनेता सब प्रकार से अपनी भूमिका अदा करता है तब एक आश्चर्यजनक प्रभाव उत्पन्न होता है। काव्यपूर्ण बोल गीतों के साथ एकाकार होजाते हैं। गीत अपनी छटा का प्रदर्श नृत्यरूप में करते हैं और उनमें निहित भाव अभिनय के दृश्यरूप में प्रकट होते हैं। इन सबकी परिणति श्रुति के दीप्तिपूर्ण 'तीर्माणमों' में होती है। सुगठित स्वररचनाएं और जातिमालाएं गीतों में गूंथ दी जाती हैं जो कभी 'नृत्त' तो कभी नृत्य में प्रकट होकर अपने नाना-प्रभावों द्वारा दर्शकों को मुग्ध करती है। यदि मेलात्तूर का अभिनय असाधारण रूप से भावपूर्ण है तो इसका एकमात्र कारण यह है कि सौभाग्यवश इसके नर्तक अभिनेताओं को बालु-भागवतार द्वारा प्रशिक्षण मिला है।

वेंकटराम शास्त्री के नृत्य-नाटकों में संगीत, नृत्य और अभिनय के लिए पर्याप्त गुंजाइश है और इन कलाओं के समन्वय द्वारा ये अब भी मानवजीवन के विविध चरित्रों और भावों का चित्रण नैतिक उद्देश्य से करने में आनन्दानुभव करते हैं तथा इस प्रकार आज भी नाट्यशास्त्र की प्राचीन धारणाओं के अनुसार रसानुभूति में सहायक होते हैं। काफी अंशों में मेलात्तूर की यह कला इस उच्च आदर्श का स्पर्श करती है तथा एक ऐसे गंभीर व शास्त्रीय वातावरण की सृष्टि करती है जो दर्शकों को असाधारण भावात्मक और सौन्दर्यात्मक अनुभव के कल्पनालोक में पहुंचा देता है।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि तंजोर का यह भागवतमेल नृत्यनाट्य भरत के द्वारा की गई नाट्य की प्राचीन कल्पना का ठीक–ठीक प्रतिविम्ब है । भागवतमेल प्राचीन नाट्यपरम्परा का प्रान्तीय भाषाओं में पुनरुत्थान है । कला के उच्चतर रूपों में विश्वास और रुचि रखनेवाले महत्वाकांक्षी आधुनिक नर्तकों को इस कला में उच्चस्तरीय संगीत, अभिनय और 'नट्टुवंगम' का खजाना मिल सकता है जिसमें से अपने उपयोग की वस्तुएँ चुनकर वे अपनी कला की उन्नति कर सकते हैं तथा नृत्य, नृत्यनाट्यों और वेले (रास) के अनेक नए स्वरूप गढ़ने में सहायता प्राप्त कर सकते हैं ।

विदेसिया

डॉ० उषा वर्मा

विदेसिया के प्रणेता भिखारी ठाकुर वह नाम है जिसकी प्रसिद्धि विहार राज्य के कोने-कोने में ही नहीं, वल्कि उत्तर प्रदेश में और बंगाल के सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में, जहाँ भोजपुरी वोली जाती है, फैली हुई है। भिखारी ठाकुर लोकगीतों के एक ऐसे गायक हैं, जिनकी स्वरलहरियों पर विहार राज्य का जन-जन दीवाना है। इनकी मंडली ने पचास वर्षों की अवधि में अब तक अनगिनत स्थानों पर अपना प्रदर्शन किया है और अपूर्व सफलता प्राप्त की है। रामलीला, महाभारत, विदेसिया, सोरठी-वृजभान, किस्सा तोता-मैना और आल्हा ऊदल जैसी प्राचीन कथाओं को अपने लोकगीतों द्वारा अभिनय के ढंग पर प्रस्तुत कर इन्होंने करोड़ों दर्शकों का मन मोहा है। सारन जिले के निवासी भिखारी ठाकुर भोजपुरी गीतों के वादशाह हैं। कैकयी-मंथरा संवाद

हो या लक्ष्मण–परशुराम संवाद, कजरी हो या झूमर, ननद भोजाई की वातें हों या सासुजी के ताने, पति–वियोग में सावन माह वितानेवाली वहुरिया के कलेजे से उठती हूक हो या चरवाही के स्थान में दो छोरा-छोरी की चुहल; ऐसे अवसरों के लिए स्वरचित लोकगीतों को जब भिखारी ठाकुर अपने गले की सुरीली आवाज में निकालते हैं और उनके संघतिया ढोलक और हारमोनियम पर संगत करते है, तो उस समय श्रोताओं की क्या दशा होती है, वे ही जानते हैं।[1]

कहा जाता है कि भिखारी ठाकुर एक वार सूरदास की प्रसिद्ध रचना 'भ्रमरगीत' पढ़ रहे थे। उस समय उनके भावप्रवण मन को भ्रमरगीत की जिन पंक्तियों ने अपनी ओर आकृष्ट किया वे थीं—

'मोर माधो काहे विलमी विदेस में रहे।' तथा 'कह कोई परदेस की वात।' आगे जाकर ये ही पंक्तियां 'विदेसिया' लिखने की प्रेरक वनी। 'भ्रमरगीत' के अनुसार कृष्णजी परदेस में जाकर परदेसी कहलाये। गोपियों के अनुसार द्वारिका उनके लिये परदेस था। भिखारी ठाकुर के युवाकाल में ग्रामवासी किसी वड़े शहर को विदेश समझते थे। उनके लिए कलकत्ता, वम्वई आदि विदेश के समान ही थे। विदेसिया में भिखारी ठाकुर ने चार पात्रों की अवतारणा की है जो सूरदास के 'भ्रमरगीत' की भांति ही गूढ़ार्थ लिये हैं। ये पात्र हैं–विदेसी (कृष्णजी), प्यारी सुन्दरी (राधिकाजी), वटोही (उधोजी), वेश्या (कुवरी)। इन चारों का सूक्ष्म अर्थ–गौरव इस प्रकार है–विदेसी–कृष्ण (ब्रह्म), प्यारी सुन्दरी–राधा (जीव), वटोही–उधो (धर्म) वेश्या–कुवरी (माया)। मनुष्य के शरीर में ब्रह्म अर्थात् आत्मा विद्यमान है, परन्तु परम ब्रह्म से उसका मिलन नहीं हो पाता है क्योंकि उसके तथा परम ब्रह्म के वीच 'माया' का जवर्दस्त जाल है। मनुष्य माया के जाल में जकड़ा

1. भोजपुरी लोकनाट्य के आचार्य भिखारी ठाकुर, सत्यदेवनारायण सिन्हा, ध१–११–१९६४, पृ० ३७.

हुआ है। विदेसिया नाटक में भिखारी ठाकुर ने वेश्या को माया की प्रति-मूर्ति माना है। धर्म ब्रह्म से हमारा साक्षात्कार कराता है तथा जीव, माया तथा अन्य इन्द्रियों को वश में रखता है। विदेसिया में इन आध्यात्मिक भावों को आधुनिक समस्याओं तथा कुरीतियों पर आरोपित कर दिया गया है जिसमें एक विदेशी परदेश में वेश्या (परस्त्री) के चंगुल में पड़कर अपने परिवार से विमुख होजाता है। बटोही विदेशी को धर्म का ज्ञान कराकर वापस गाँव में परिवार से मिलाता है।

पति के परदेश चले जाने पर उसकी नव परिणिता की क्या मनःस्थिति होती है, इसका बड़ा ही मार्मिक वर्णन विदेसिया में भिखारी ठाकुर ने किया है जिसमें नई नवेली अपने परदेशी प्रियतम को 'विदेसिया' शब्द से संबोधित कर कहती है—

'गवना कराइ सैंयां घरे बइठवले से,
अपने लो भइले परदेश रे विदेसिया।
चढ़ली जवनियां बैरन भईली हमरी से,
के मोरा हरि हें कलेस रे विदेसिया।
दिनवा बितेला सइयां बटिया जोहत तोर,
रतिया बितेला जागि-जागि रे विदेसिया।
घरी रात गइले पहर राति गइले से,
धधके करेजवा में आगि रे बिदेसिया।
अमवां मोजरि गइले लगले टिकोला से,
दिन पर दिन पियराय रे विदेसिया।
एक दिन वहि जइहें जुलमी बयरिया से,
डाढ़ पात जइहें महराइ रे विदेसिया।
भभकि के चढ़लीं मैं अपनी अटरिया से,
चारों ओर चितवों चिहाइ रे विदेसिया।
कतहूं न देखों रामा सइयां के सुरतिया से,
जियरा गइले मुरझाइ रे विदेसिया।

इसमें कामिनी के तन की तुलना रसाल वृक्ष से की गई है। मंजरी से प्रस्फुटित होनेवाले यौवन की, टिकोला से उसके विकसित होने की, पियराने से उसके पूर्णता की, आंधी से कामोत्तेजना के भकोरों की और डालपात गिरने से उसके पथभ्रष्ट होने के सुन्दर चितराम उतारे गये हैं।

विदेसिया-मंच का कोई निश्चित आकार और स्वरूप नहीं होता। खुले स्थान पर कई चौकियों या तख्तों को जोड़कर अथवा ईंटों का चबूतरा खड़ा कर मंच बना लिया जाता है जिसपर चंदोवा या शामियाना तान दिया जाता है। कहीं-कहीं यह मंच मुक्ताकाशी भी होता है।

वेशभूषा और रूपसज्जा पर क्षेत्रीय जनप्रकृति एवं आंचलिकता का यथेष्ट प्रभाव है। वस्त्र-अलंकरण साधारण एवं पात्र के चारित्रिक गुणों पर आधारित होता है। पुरुष-पात्र भोजपुरी प्रदेश के ग्रामीणजन की भांति साधारण धोती-कमीज पहनते हैं और स्त्री-पात्र साड़ी-ब्लाउज, वेश्या का लहंगा ब्लाउज मखमल, रेशम, साटन का चमकीला व आकर्षक होता है। शहर से लौटा विदेसिया शहरी पोशाक पहनता है। केवल विदेसिया नामक पात्र ही पैरों में जूता पहने होता है, अन्य सभी पात्रों के पैर में जूते नहीं होते हैं। कुल मिलाकर वेशभूषा साधारण होती है क्योंकि जनप्रचलित वस्त्र यथार्थ का भ्रम या विश्वास पैदा करता है जो ग्रामीण दर्शकों के सरल मन को यथेष्ट रूप में प्रभावित करता है।

विदेसिया में सूत्रधार, कथागायक और नायक की भूमिका भिखारी ठाकुर स्वयं निभाते हैं। ढोलक का ठेका, सारंगी का गज और हारमोनियम के स्वर आलाप भरते हैं और भिखारी ठाकुर दोहा, सवैया, छंद चौबोला, खेमता, बिरहा और पूर्वीधुन की मादकता में स्वयं को मदोन्मत्त कर स्वर साधते हैं। विदेसिया में प्रयुक्त होनेवाले अन्य वाद्य-यंत्रों में तबला, झाल, बांसुरी और गोपी यंत्र है। समाजी (वादकगण) जबतक नाटक चलता है तबतक रंगमंच पर उपस्थित रहते हैं। समाजी का अभिनय भी कलात्मक होता है। अभि-नेता के अभिनय के साथ इनका प्रधान सम्बन्ध होता है। पात्र द्वारा कहे

गये कुछ विशिष्ट बोल समाजी भी अभिनय के साथ दुहराते हैं। विदेसिया पर यह प्रभाव अन्य लोकनाट्य विशेषकर लीला नाटकों से आया है।

स्त्री-पात्रों की भूमिका पुरुष ही निभाते हैं। इसकी अभिनय-शैली अत्यन्त स्वाभाविक होती है। अभिनेताओं के कुशल अभिनय के अतिरिक्त जनपदीय पात्र होने के कारण अभिनय की स्वाभाविकता बनी रहती है। अन्य लोक–नाट्यों की भांति विदेसिया में विदूषक की परम्परा नहीं है। हां, धोबी–धोबिन का वर्तालाप दर्शकों को हंसने का अवसर देता है। किन्तु उनकी पोशाक आदि नौटंकी के मखौलिए की तरह या भाण्ड की भाँति हास्यास्पद नहीं होती है। विदेसिया का कोई पात्र दर्शकों से चूहल नहीं करता।

विदेसिया के बोल ग्रामीण–हृदय की गहराई तक–पहुँचते हैं और उनके सुर की युक्ति, तर्क या श्लील–अश्लील विवेचन द्वारा नहीं, केवल अनुभूति के सहारे आस्वादन करना पड़ता है। सरल, सहज और आडम्बरहीन सौजन्य से युक्त अभिनय दर्शकों के मन को सहज ही छू लेता है। विषयवस्तु की समसामयिकता, सामाजिकता एवं लोकोपकारंजन ही विदेसिया का लक्ष्य रहा है।

विदेसिया के अतिरिक्त भिखारी ठाकुर की प्रकाशित रचनाओं में प्रमुख हैं–भिखारी ठाकुर : शंका समाधान, भिखारी जयहिन्द खबर, नाई की पुकार, बाल विवाह, विधवा विलाप, बेटी बेचवा, बेटी वियोग, नवीन बिरहा, भाई विरोध, ननद–भौजाई, चौयुगी का गंगास्नान, बुढ़शाला का बयान, चौवर्णपदी तथा पुत्र-वधु, पिता हत्या, बहरा बहार, कलियुग बहार, लकाठू का ब्याह आदि आदि। ये नाटक श्री दूधनाथ पुस्तकालय कलकत्ता से प्रकाशित हुए हैं। इनका प्रदर्शन एक सी रंगभूमि पर विदेसिया के नाम से ही किया जाता है।

**

कूटियाट्टम

डॉ० श्याम परमार

दक्षिण में पश्चिमघाट की पहाड़ियों और अरबसागर के बीच केरल अपनी प्राकृतिक सुषमा और परम्परागत कलाओं के लिये प्रख्यात है। राज्य पुनर्गठन के पूर्व यह क्षेत्र त्रावणकोर-कोचीन के नाम से जाना जाता था। इसी क्षेत्र में शंकराचार्य का जन्म हुआ जिनके कारण भारतीय दर्शन समृद्ध हुआ। कथकलि के रूप में केरल से ही भारतीय नृत्य की एक महत्त्वपूर्ण शैली का प्रणयन हुआ। उच्चस्तरीय कलाओं का एक लौकिक आधार होता है। केरल की लोकप्रचलित नाट्य-विधाओं में हम कथकलि के विकास-सूत्र सहज ही उपलब्ध कर सकते हैं। विकसित नाट्य-प्रकारों की भूमिका भी ऐसे ही लोकप्रचलित अनुष्ठानों और मनोरंजन के रूढ़ रूपों में गुम्फित है।

कलमेपुत केरल की एक पुरानी लोककला है। इसमें काली की उग्र

आकृति बनायी जाती है। किसी देवालय के आँगन या ब्राह्मण का खुला हुआ घर इस कला-अंकन के लिये चुना जाता है। चावल की बुकनी, हल्दी और 'वाका' नामक वृक्ष के पत्तों का हरा चूरा लेकर चित्र तैयार किया जाता है। इसे बनाने वाले कुरुप्पु इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण और हरित पांचों रंगों का प्रयोग हो। आकृति–स्थान नारियल के फूलों और पत्तों से खूब अच्छी तरह अलंकृत किया जाना आवश्यक होता है। इसी कला–आकृति के समक्ष देवी की स्तुति में गीत गाये जाते हैं। तब पुजारी जिसे 'कोमरम' कहते हैं, क्रोधित मुद्रा में प्रवेश करता है। इसी व्यक्ति पर देवी का रूप आता है। वह जो बोलता है उसे देवी की वाणी समझा जाता है। यह एक अनुष्ठानिक आयोजन होता है। परन्तु इसमें भी नाटकीय तत्व का उपयोग किया जाता है। पुजारी जब बोलता है, वीर गीत चलते रहते हैं। वाद्यों की सतत ध्वनि में श्रद्धा, भय और मनोरंजन का मिला-जुला वातावरण बन जाता है। एक और शैली है 'तीयाट्टु'। इसमें पुजारी अग्नि में प्रवेश करता है। गोवा में तीयाट्टु का एक रूप ईसाइयों में आज भी देखने को मिलता है। वैसे पौराणिक कथाओं के अनुसार केरल का प्रदेश परशुराम ने महासागर से निकाला था जिससे स्पष्ट है कि किसी समय गोवा का दक्षिण भाग केरल की शेष भूमि से अलग नहीं था। सम्भवतः केरल से ही 'तीयाट्टु' शैली गोवा में गयी हो। केरल के ईसाइयों में विवाह के समय गाये जाने वाले एक विशेष शैली के गीत किसी समय बहुत प्रचलित थे। उन्हें 'मार्गम कळिप्पाट्टु' कहा जाता है। इन गीतों की कथावस्तु ईसा मसीह के जीवन से सम्बन्धित होती है।

कहा जाता है कि विवाह के समय एक दीप भी जलाया जाता है। चारों ओर मनुष्य बैठ कर गाना गाने लगते हैं। दीप को ईसा मसीह मान कर गीत प्रारम्भ करते हैं। फिर हाथ में तलवार, फरसा लेकर युद्ध का अभिनय करते हैं। सिर पर मोरपंख की टोपी पहनी जाती है। दीप के चारों ओर पैंतरे बदलते हुए गाना गाते हैं। जब तक गीतसमूह पूरा नहीं किया जाता तब तक वे उस स्थान से हटते नहीं। ईसाइयों की उपशाखा सिरियन ईसाइयों ने इसे

खूब पसन्द किया था। शेष ईसाइयों की अपेक्षा इनके यहां इस गीत-पद्धति का खूब प्रचार हो रहा था। ईसा के शिष्य तोम्मश्लीहा पर भी गीत रचे गये जिनका प्रचार बड़े पैमाने में हुआ था। उन गीतों को 'रंगानपाट्टु' कह कर पुकारते हैं।[1]

केरल की अन्य विशेषताओं में 'कोलम तुल्लल' का उल्लेख भी आवश्यक लगता है। इसमें करिणयन जाति के व्यक्ति युवाक के फूलों के नरम छिलके पर काल भैरव, शास्ता आदि की आकृतियाँ चित्रित कर उन्हें मुँह पर बाँधकर नृत्य करते हैं। नृत्य के समय अनेक दीपक और मशालें जलायी जाती हैं। इसी प्रकार 'सर्पपाट्टु' में सर्पाकृतियों के समक्ष नागों की स्तुति में गीत गाये जाते हैं। नृत्य और गीतों के साथ चित्र संरचना केरल की नाट्य-कला के साथ प्रारम्भ से ही जुड़ी है।

केरल की विविध नाट्यविधाओं पर स्पष्ट ही अनुष्ठानिक कार्यकलापों का अपरोक्ष प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है। इससे प्रकट है कि लोकजीवन में अभिनय का महत्व कम नहीं है।

लोकपरक नाट्यविधा के रूप में हमें एक शैली मिलती है जिसे 'कूटियाट्टम' कहते हैं। कूटियाट्टम का अर्थ है मिलजुलकर नृत्य या अभिनय करना। इसमें स्त्री और पुरुष मिलकर भाग लेते हैं। कहते हैं कूटियाट्टम सदियों पुरानी कला है, क्योंकि इसका प्रचार-प्रसार मंदिरों के माध्यम से हुआ। मन्दिरों के बाहर इसका अभिनय नहीं होता। यही कारण है कि कूटियाट्टम के सम्पूर्ण संस्कार संस्कृत नाटकों के हैं। पहले इसमें निश्चय ही संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाटक अभिनय के लिए चुने जाते रहे होंगे। अब बहुत कम नाटक बचे हैं जिन्हें खेला जाता है। कूटियाट्टम के अन्तर्गत आजकल प्रायः 'सुभद्रा धनंजयम्' का अभिनय बहुत प्रचलित है। इस नाटक का पहला अंक ग्यारह दिन में सम्पन्न होता है। इतना समय इसलिए लगता है कि इस शैली में व्याख्या को विशेष महत्व

---

1. मलयालम का संक्षिप्त इतिहास, डाक्टर के. भास्करन नायर, पृ० ३८–३९.

प्राप्त है। एक-एक पंक्ति की देर तक व्याख्या करना 'चाक्यार' अभिनेताओं का स्वभाव है। 'सुभद्रा धनंजयम्' के प्रथम अंक में केवल तीन पात्र होते हैं—अर्जुन, सुभद्रा और कौडिन्य (विदूषक)।

ग्यारह दिनों के अभिनय का क्रम इस प्रकार है—

पहले दिन नायक का प्रवेश होता है। दूसरे दिन नायक अपनी पूर्वकथा का परिचय देता है। तीसरे दिन नायक-प्रवेश के बाद विदूषक के आगमन तक की कथा है। चौथे दिन विदूषक का प्रवेश। इसके बाद चार दिन तक विदूषक की पूर्वकथा का वर्णन है। नौवें दिन नायक और विदूषक मिलकर अभिनय करते हैं। वास्तव में कूटियाट्टम (संयुक्ताभिनय) इसी दिन आरम्भ होता है क्योंकि इस दिन तक एक ही पात्र रंगमंच पर रहता है। नौवें दिन भूत से कन्या को बचाने की घटना का अभिनय होता है। दसवें दिन अभिनय में अर्जुन और कन्या का पारस्परिक अनुराग तथा कन्या के अचानक अंतर्हित होने पर अर्जुन का विषाद दिखाया जाता है। ग्यारहवें दिन अर्जुन कन्या का गुणगान करते-करते अचेत हो गिर पड़ता है और फिर अपने को सम्हाल कर कन्या की खोज में निकलता है।

एक दिन में एक ही दृश्य होता है जो कम से कम दो घंटे का रहता है। चौथे दिन से आठवें दिन तक अभिनय की नहीं, भाषण की प्रधानता होती है। उन दिनों विदूषक की पूर्वकथा का जो वर्णन होता है वही कूटियाट्टम का सबसे प्रधान अंश है। साधारण जनता इसे अधिक पसन्द करती है। वास्तव में उस समय विदूषक के द्वारा समाज की आलोचना होती है। समाज की दुर्दशा का विशेष रूप से ब्राह्मणों के पतन का वर्णन विदूषक हास्यपूर्ण भाषा में करता है। विदूषक कहता है कि भोजन, राजसेवा, वेश्या-विनोद और छल ही पुरुषार्थ-चतुष्टय हैं।[2]

जैसा कि ऊपर बताया गया कूटियाट्टम में पुरुष-पात्रों का अभिनय पुरुष

---

२. माध्यम. केरल विशेषांक, पृ० १४२.

ही करते हैं। वे चक्कीयार जाति के होते हैं। स्त्री-पात्र का अभिनय करनेवाली नंगियार जाति होती है। मिपाव नामक वाद्य नंगियार जाति के व्यक्ति बजाते हैं।

मंदिर में जहां कूटियाट्टम का अभिनय आयोजित होता है, वहां मंच के लिए 'कूत्तं पलम' तैयार किया जाता है। इसकी सज्जा आकर्षक होती है। एक बड़ा दीपक जलाकर प्रकाश का प्रबन्ध किया जाता है। मंच के पीछे दो मिपाव बजाये जाते हैं। वहीं से ताल देने का काम नंगियार स्त्रियाँ करती हैं।

विदूषक कूटियाट्टम में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। नायक अथवा अन्य पात्र संस्कृत में जो श्लोक बोलते हैं उनकी व्याख्या सरलतम मलयालम में करने का काम विदूषक ही करता है। इसलिये विदूषक दर्शकों के अधिक करीब होता है और शेष संस्कृत बोलने के कारण अपनी गौरव गरिमा का निर्वाह भी कर पाते हैं। श्लोक का उच्चारण करने के पश्चात् नायक अथवा अन्य पात्र हस्तमुद्राओं में श्लोक का अभिनय प्रकट करता है। विदूषक संस्कृत श्लोक के वजन पर कभी–कभी मलयालम में पद्य बोलता है और फिर उस पद्यांश की भी सिलसिलेवार व्याख्या करता है। एक प्रकार से विदूषक महत्त्वपूर्ण पात्रों के अभिनय को वाणी देता है। वह नाटक और दर्शक के बीच अर्थ की संगति देने का काम करता है।

केरल के सम्राट कुलशेखर वर्मा पेरूमल ने अपने समकालीन कवि तोलन की सहायता से कूटियाट्टम में कई परिवर्द्धन किये। 'क्रमदीपिका' और 'आट्ट-प्रकारम' नामक ग्रन्थों में कूटियाट्टम के प्रदर्शन की रीतियों का वर्णन इन्हीं के समय लिपिबद्ध किया गया। बताया जाता है कि तोलन ने ही इनकी रचना की थी।

कूटियाट्टम का एक दूसरा रूप 'कूत्तू' है। कूत्तू का अर्थ है 'नृत्त'। इसमें और कूटियाट्टम में भेद इतना ही है कि इसमें केवल एक ही पात्र अभिनय करता है जबकि कुटियाट्टम में दो–तीन पात्र एक साथ मंच पर होते हैं। मिपाव बजाने वाले नंगियार और ताल देने वाले नंगियार इसमें भी अपना अस्तित्व

रखते हैं। कूत्तू का अभिनय चक्कीयार करता है। इसमें विदूषक का काम भी उसे करना होता है। वह पौराणिक कथाओं का उल्लेख करते हुए सामयिक घटनाओं के सम्बन्ध में अपनी टिप्पणियाँ करके विषय को रोचक बनाता है।

* *

करियाला

रोशनलाल गुप्ता

करियाला हिमाचल प्रदेश का मचहीन लोकनाट्य है जो नाटक एवं संगीत के सभी अंग लिये हुए लोककथाओं तथा दैनिक कार्यों का जीताजागता चित्र है। यह यहां की क्षेत्रीय भाषा में ही प्रस्तुत किया जाता है। संवाद के साथ इसमें लोकगीतों व नाट्यों का मिश्रण होता है। हास्य करियाला का प्राण है। विविधता इसकी गति, नाटी हृदय और नफीरी, हिरणसिंगा, करनाल आदि वाद्य इसकी भावनाओं की मुखरता। इसमें भाग लेनेवाले कलाकारों को पर्वतीय भाषा में 'करियालची' और निर्देशक को 'करियाल्टू' कहते हैं। इन कलाकारों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे विशेष नियमों एवं मान्यताओं के बंधनों को तोड़ते हुए प्रकृति के समान मुक्त बने रहते हैं। क्योंकि करियाला लिखित नहीं होता। अतः प्रत्येक पात्र कथानक के अनुरूप मनमाने संवाद गढ़ता हुआ चलता है।

प्रांगण के कुछ भाग में चारों तरफ छोटे–छोटे खंभे खड़े करके उसमें रस्सी बांध कर एक चौकोर वर्ग बना लिया जाता है। मध्य में चाहे कोई भी ऋतु हो, आग जलाई जाती है। इसे पर्वतीय भाषा में 'घयाना' कहते हैं। इस आग को पवित्र माना जाता है। कुछ दूरी पर किसी छोटे तम्बू या घास का छोटा सा छप्तर अभिनयकर्ताओं के मेकअप के लिये बना रहता है। दर्शक चारोंओर आसीन होते हैं। यह लोकनाट्य अपने में एक विशेषता छिपाये हुए है, न रंगबिरंगे पर्दे इसे ओट में लिये हुए हैं न यह समय के घेरे में है। करियाला में एक ही कथानक रंगमंच के नाटक अथवा चलचित्र की भांति नहीं चलता वरन् इसमें रेडियो रूपकों की तरह छोटे–छोटे अंश होते हैं। इन अंशों का कोई लिखित रूप नहीं होता। करियाला में ऐसी हालत में जब कि लोग, सुशि–क्षित न हों, बिना किसी लिखित रूप के केवल करियाल्छू के निर्देशन पर से, प्रस्तुत करना कोई सरल कला नहीं है। करियाल्चियों को आप किसी भी समय, किसी भी स्थान पर उनके द्वारा ले जाने वाले अंशों में से किसी भी अंश को प्रस्तुत करने के लिये कह दीजिये आपको संवाद में तनिक भी अन्तर नहीं मिलेगा। यह पर्वतीय क्षेत्र के रहने वाले कलाकारों की उत्तम स्मरणशक्ति तथा नाट्य–कला के प्रति उनकी अगाध रुचि का प्रमाण है।

यह पर्वतीय प्रचलित वाद्यों पर बजाई गई जंगताल (एक विशेष लोकताल) से आरम्भ होता है। वादक खुले स्थान पर एक ओर बैठ जाते हैं। स्वांग आरम्भ होने के लिये जंगताल की समाप्ति पर करियाला ताल बजता है और तभी चंद्रावली (लक्ष्मी) थाली में जले धूप-दीप लिये अखाड़े में प्रवेश करती है और एक हाथ आकाश की ओर करके सरस्वती का आह्वान करते हुए वाद्यों की द्युति है और अखाड़े के मध्य जली आग के चारों ओर करियाला ताल में नाचती है। पुरुष कलाकार ही स्त्रियों की वेशभूषा में चन्द्रावली बनता है। चन्द्रावली का यह नृत्य दस मिनट तक चलता रहता है। उसके जाने के बाद पहाड़ी धुनें बजती रहती हैं। इसी समय कलाकार स्वांग करके भीड़ चीरते हुए अखाड़े में प्रवेश करते हैं जो वाद्यों का अभिवादन कर अग्नि के चारों ओर घूमकर अपने

करियाला

रोशनलाल गुप्ता

करियाला हिमाचल प्रदेश का मचहीन लोकनाट्य है जो नाटक एवं संगीत के सभी अंग लिये हुए लोककथाओं तथा दैनिक कार्यों का जीताजागता चित्र है। यह यहां की क्षेत्रीय भाषा में ही प्रस्तुत किया जाता है। संवाद के साथ इसमें लोकगीतों व नाट्यों का मिश्रण होता है। हास्य करियाला का प्राण है। विविधता इसकी गति, नाटी हृदय और नफीरी, हिरणसिंगा, करनाल आदि वाद्य इसकी भावनाओं की मुखरता। इसमें भाग लेनेवाले कलाकारों को पर्वतीय भाषा में 'करियाल्ची' और निर्देशक को 'करियाल्टू' कहते हैं। इन कलाकारों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे विशेष नियमों एवं मान्यताओं के बंधनों को तोड़ते हुए प्रकृति के समान मुक्त बने रहते हैं। क्योंकि करियाला लिखित नहीं होता। अतः प्रत्येक पात्र कथानक के अनुरूप मनमाने संवाद गढ़ता हुआ चलता है।

राम लखन जेवे लंका गए थे,
तो कहां थे तपाधारी ?

मस्करा— वार भी लंका पार भी लंका,
विचे धुंग्रांधारी ।।
राम लखन जेवे लंका गये थे,
ये थे तिना साथी बगारी ।

दूसरा साधु—न बेटा ! न बेटा !
यह मखौल का समय नहीं । यहां तो ज्ञान ध्यान की बातें
हो रही हैं ।
वार भी लंका पार भी लंका,
विचे धुंग्रांधारी ।
राम लखन जेवे लंका गये थे
हम ही उनके संग थे तपाधारी ।।

विदूपक— एक क्या होता है बाबा ?

मस्करा— एक वह होता है जिसके कोई ना हो ।

तीसरा साधु—एक ग्रोंकार, दो चांद–सूर्य, तीन त्रलोक,
चार, धूरां, पाँच पांडव, छः कुंतामई, सात डिप,
आठ काठ, नव ग्रह । (इसी बीच मस्करा बोल उठता है)

मस्करा— दस हुए दशांग, सोलहवें दिन सोला
दरवाजे पांदे फोड़ा ठुठा सतारवें दिन दस्यां गुठा ।

चूर्ण वाले का स्वांग— यह स्वांग उन अशिक्षित ग्रामीणों के मनोरंजन को विस्मृत करता है जो शताब्दियों से पठन–पाठन की सुविधा, कलामय वातावरण तथा विनोद के उत्तम साधनों से वंचित है । प्रस्तुत स्वांग में चूर्णवाला चूरण के बहाने सीधे–साधे शब्दों में बड़ी अनूठी बातें कह जाता है । देखिये—

चूरन अमल वेंद का भारी ।
जिसको खाते कृष्ण मुरारी ।

स्वांग प्रदर्शित करते हैं। इन स्वांगों की कोई अवधि नहीं होती। ये भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१. साधु स्वांग
२. चूर्ण वाले का स्वांग
३. वुद्ध का स्वांग
४. जोगी–जोगन का स्वांग

इनमें से प्रथम तीन स्वांगों का परिचय यहां द्रष्टव्य है—

साधु स्वांग— इसमें साधु भगवां वस्त्र तथा जटायें धारण किये हुए चारों ओर से अखाड़े में प्रवेश करते हैं। ये साधु आपस में भांति–भांति की चर्चा करते हैं। तत्पश्चात् एक विदूषक प्रवेश करता है जो इनसे भिन्न प्रकार के प्रश्न पूछता है। यथा—

विदूषक— कहां से तुम जोगी आय,
कहां तुम्हारा गांवो ?
कौन तुम्हारी भैन
भान्जी, कहां धरोगे पांवो ?

पहला साधु—दक्षिण से हम जोगी आय,
पूर्व हमारा गांवो।
दया हमारी वहन भान्जी;
यहां धरेंगे पांवो ॥

विदूषक— वावा ! कुछ ज्ञान ध्यान भी है तुम्हें ?

दूसरा साधु—हां, हां ! वेटा हम बड़े ज्ञानी हैं।

विदूषक— तो मैं आपसे एक प्रश्न करता हूं।

दूसरा साधु—कहो वेटा।

विदूषक— वार भी लंका पार भी लंका,
विचे धुंआंधारी।

राम लखन जेवे लंका गए थे,
तो कहां थे तपाधारी ?

मस्करा— वार भी लंका पार भी लंका,
विचे धुंआंधारी ।।
राम लखन जेवे लंका गये थे,
ये थे तिना साथी बगारी ।

दूसरा साधु—न वेटा ! न वेटा !
यह मखौल का समय नहीं । यहां तो ज्ञान ध्यान की बातें हो रही हैं ।
वार भी लंका पार भी लंका,
विचे धुंआंधारी ।
राम लखन जेवे लंका गये थे
हम ही उनके संग थे तपाधारी ।।

विदूपक— एक क्या होता है बावा ?

मस्करा— एक वह होता है जिसके कोई ना हो ।

तीसरा साधु—एक ओंकार, दो चांद-सूर्य, तीन त्रलोक,
चार, धूरां, पाँच पांडव, छः कुंतामई, सात डिप,
आठ काठ, नव ग्रह । (इसी बीच मस्करा बोल उठता है)

मस्करा— दस हुए दशांग, सोलहवें दिन सोला
दरवाजे पांदे फोड़ा ठुठा सतारवें दिन दस्या गुठा ।

चूर्ण वाले का स्वांग— यह स्वांग उन अशिक्षित ग्रामीणों के मनोरंजन को विस्मृत करता है जो शताब्दियों से पठन-पाठन की सुविधा, कलामय वातावरण तथा विनोद के उत्तम साधनों से वंचित है । प्रस्तुत स्वांग में चूर्णवाला चूरण के बहाने सीधे-साधे शब्दों में बड़ी अनूठी बातें कह जाता है । देखिये—

चूरन अमल वेद का भारी ।
जिसको खाते कृष्ण मुरारी ।

मेरा पाचक है पचलोना ।
जिसको खाता श्याम सलोना ।।
चूरण साहब लोग जो खाता ।
सारा का सारा हजम कर जाता ।
चूरन पुलिस वाले खाते ।
सब कानून हजम कर जाते ।
चूरन हाकिम सब जो खाते ।
सब पर दूना टिकस लगाते ।

वुद्ध का स्वाँग— ग्रामीण जनता के मध्य स्वांगों की अपनी ही विशेषता है। करियाला में नाटक की भांति एक ही कथानक नहीं होता अपितु छोटे-छोटे अनेक रूपक होते हैं। इन्हीं के कारण इसमें विविधता, नयापन, ताजगी और उत्सुकता रहती है। संज्ञा का जानबूझ कर ऐसे स्थानों पर प्रयोग किया जाता है जहां वाक्य व्यंग्य अर्थ का प्रतीक होता है। उदाहरण—

प्रश्न— दावा कहां होती है ?

उत्तर— दावा सनोडन (स्थानीय अस्पताल का नाम) में मिलती है।

दूसरा पात्र—अरे ! दावा तो शीशन जज के यहां होता है।

करियाला का कोई निर्देशक नहीं होता, जिससे इसमें अनियंत्रण दृष्टि-गोचर होता है। नाटी, साका आदि लोकगीतों की प्रिय धुनें और कुशल वादक समां बांधे रखते हैं।

इस नाटक में प्रौढ़ता एवं गाम्भीर्य भले ही न हो पर स्वभाविकता और सरलता है। स्पष्टता और मधुरता है। यह साहित्य इतना विशाल और महत्त्वपूर्ण है कि इसमें भारतीय संस्कृति का सहजरूप देखा जा सकता है। यदि सहानुभूति के साथ इस विशाल साहित्य का अनुशीलन किया जाये तो इसके झीने आवरण से हमारे लोक-जीवन का शताब्दियों का इतिहास झांकता हुआ हुआ दिखाई पड़ेगा।

अंकिया

डॉ० अज्ञात

आसाम आदिम संस्कृति एवं कला का केन्द्र रहा है, किन्तु मध्य युग में वैष्णव धर्म, विशेषकर कृष्णभक्ति आंदोलन के अभ्युदय, विकास एवं विस्तार ने आसाम जैसे दूरवर्ती प्रदेश को भी अपने अंचल में समेट लिया। फलस्वरूप एक ओर कृष्णरास से संबंधित मणिपुरी लोकनृत्य तथा दूसरी ओर वैष्णव कवि नाटककार शंकरदेव के नेतृत्व में अंकिया नाट (नाटक) का विकास हुआ।

इसका कथ्य मुख्यतः कृष्ण के जीवनचरित्र के विविध प्रसंगों से ही संबंधित था, यद्यपि एकाध नाटकों में रामकथा को भी आधार बनाया गया। अंकिया नाटकों की भाषा बंगला प्रभावित मैथिली भाषा है। संवाद प्रायः मैथिली गद्य में हैं और पद्य या गेय भाग भी मैथिली में हैं। मध्य युग में ब्रजमंडल और इसके आसपास के क्षेत्र में ब्रजभाषा,

अवधप्रदेश में अवधी एवं मिथिला (बिहार), नेपाल तथा आसाम में मैथिली काव्य और धर्म की भाषा के रूप में गृहीत हो चुकी थी। मैथिली का इतना व्यापक प्रचार सम्भवतः उसकी मिठास एवं सरलता के कारण ही सम्भव हो सका। पुनश्च, यह क्रमशः उस युग में पांडित्य एवं आचार–विचार की भाषा भी बन गयी थी जिसे पढ़ने के लिये नेपाल, बंगाल और आसाम के पंडित एवं कवि मिथिला आया करते थे। नेपाल के मल्ल राजा मैथिल पंडितों को आमंत्रित कर अपनी राज–सभा में रखते और उनका सम्मान भी किया करते थे। मैथिली की इसी लोकप्रियता को देखकर शंकरदेव तथा उनके उत्तराधिकारियों ने आसाम में वैष्णव धर्म के प्रचार के लिये इस लोक–भाषा को चुना और उसे सर्वथा उपयुक्त पाकर अपने अंकिया नाटकों में भी स्थान दिया।

अंकिया नाटक में प्रायः एक ही अंक होता है, सम्भवतः इसीलिए इस प्रकार के नाटक को 'अंकिया' अर्थात एक अंक वाला नाटक कहते हैं।[1] इनमें पद्य भाग अधिक न होकर गद्यांश अधिक रहा करता था। इस दृष्टि से ये मिथिला और नेपाल के कीर्तनिया एवं अन्य नाटकों से कुछ पृथक थे, क्योंकि कीर्तनिया नाटक मुख्यतः पद्य–प्रधान थे। अंकिया नाटकों के सभी गीत प्रायः रागबद्ध हैं। उनके एकांकी होने के कारण आकार में वे प्रायः लघु होते हैं और उनमें उतनी ही कथा समाविष्ट की जाती है, जिसका अभिनय एक रात्रि में सरलता से हो सके। इसके विपरीत कीर्तनिया नाटक कई–कई अंकों के, प्रायः एक से लेकर सात अंकों तक के, हुआ करते थे। अंकिया नाटकों में नांदी पाठ, सूत्रधार आदि की व्यवस्था रहती है। सूत्रधार कथासूत्रों को जोड़ कर नाटकीय कथा को गति प्रदान करता है।

जे. सी. माथुर ने 'ड्रामा इन रूरल इण्डिया' नामक पुस्तक में, आसाम में नौगांव के पास के एक गांव में शंकरदेव कृत 'रुक्मिणी हरण' के अभिनय का

---

१ डा० श्याम परमार, लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ० ६० ।

आंखों देखा जो विवरण प्रस्तुत किया है, उससे नाटक की कथावस्तु, रंगमंच, पात्रों के अभिनय, परिधान, रंगोपकरण एवं पुस्त, वाद्य आदि का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

'रुक्मिणी हरण' की कथा कृष्ण के प्रति रुक्मिणी के अनुराग, दोनों के विवाह के लिये रुक्मिणी के माता-पिता की सहमति के बावजूद दंभी एवं दुराग्रही भाई रुक्म के विरोध पर रुक्मिणी के विवाह के लिये स्वयंवर के आयोजन, रुक्मिणी का संदेश पाकर कृष्ण का आगमन और रुक्मिणी के वरमाला कृष्ण के गले में डाल देने पर उसके अपहरण, युद्ध में आगत राजाओं तथा रुक्म की पराजय और रुक्मिणी के अनुरोध पर रुक्म को प्राणदान तथा द्वारका प्रस्थान की परम्परागत कथा से संबन्धित है।

इस नाटक का रंगमंच गांव के खुले भाग में तैयार कर लिया जाता है, जिसके तीन ओर सामाजिक बैठते हैं। मंच के पृष्ठभाग में वृन्दवादन एवं गायन की व्यवस्था रहती है, जिसके पीछे सम्भवतः एक परदा टाँगकर नेपथ्यगृह बना लिया जाता है। मंच के दाहिनी ओर कृष्ण का और बांई ओर रुक्मिणी का मण्डप बनाया जाता है। इन दोनों मंडपों के मध्य में उसके पिता भीष्मक का सिंहासन रहता है, जिसके आस-पास स्वयंवर में आये राजागण बैठते हैं। प्रत्येक राजा अपने ऐश्वर्य एवं शौर्य का प्रदर्शन करते हुए पृथक–पृथक गति से चल कर मंच पर आता है। सिंहासन के निकट ही भवानी के मन्दिर का मण्डप बनाया जाता है, जहां रुक्मिणी स्वयंवर के पूर्व अपनी सखियों के साथ गजगति से चलती हुई भवानी की पूजा करने जाती है। इस अवसर पर भवानी की अर्चना का गीत गाया जाता है। स्वयंवर और परवर्ती युद्ध के दृश्य भी इसी रंगमंच पर दिखलाये जाते हैं।

इस लोकनाट्य में नृत्य, उसके विविध अंगहारों एवं मुद्राओं तथा गति–संचार द्वारा भावाभिव्यक्ति की जाती है। पृष्ठभूमि में गायन-वादन चलता रहता है। बीच-बीच में गद्य संवाद भी बोले जाते हैं। पूर्वरंग के उपरांत सूत्रधार नांदीगीत की धुन के साथ नृत्य करता है और एक विशिष्ट मुद्रा में, बांई हथेली

पर दाहिने हाथ की कोहनी रख कर बाहु-भाग से कुछ संकेत करते हुए, कृष्ण और उनके मित्र उद्धव के प्रवेश की घोषणा करता है। घोषणा के उपरांत वह वृन्द-वादकों के पास खड़ा होता है। कृष्ण और उद्धव प्रवेशनृत्य करते हैं और उनके जिन-जिन गुणों का गायकों द्वारा गान किया जाता है, प्रत्येक उन-उन गुणों के अनुसार मुद्राओं एवं अंगविक्षेपों द्वारा भाव प्रदर्शन करता है। इसके पश्चात् कृष्ण और उद्धव एक दूसरे का हाथ पकड़कर अपने मण्डप में सिंहासन पर बैठ जाते हैं। इसी प्रकार रुक्मिणी अपनी सखियों के साथ नृत्य करती हुई प्रवेश करती है और गीतानुसार भाव प्रदर्शन कर अपने मण्डप में बैठ जाती है। रुक्मिणी के माता–पिता शशिप्रभा और भीष्मक अपनी आयु और पद की गरिमा को दृष्टि में रखकर नृत्य न कर राजोचित गति से आकर सिंहासनारूढ़ होते हैं।

पात्र स्वयं भी गाते हुए नृत्य द्वारा अपने आंतरिक भावों का उद्घाटन करते हैं। रुक्मिणी को जब यह पता चलता है कि स्वयंवर में कृष्ण को आमंत्रित नहीं किया गया है, तो वह दुःख और निराशा से परितृप्त होकर गाती और नृत्य करती है, जिससे उसके हृदय के संताप और वेदना की अभिव्यक्ति हो जाती है। क्लान्त–श्रांत ब्राह्मण वेदनिधि की असंगत वार्ता द्वारा हास्य का सृजन भी किया गया है।

कृष्ण पीताम्बर, कुरती, मुकुट तथा वक्ष पर 'तंगाली' (बेश कीमती वक्ष–सज्जा) पहन कर आते हैं। उनके हाथ में सुदर्शन चक्र रहता है। राजा भीष्मक धोती पायजामे के साथ लंबा जामा, मुकुट और तंगाली धारण करते हैं। भाट या दूत लाल पगड़ी और पीली धोती पहन कर भिक्षा–पात्र तथा छाता अथवा छत्र हाथ में लिये हुए मंच पर आता है। प्रहरी के हाथ में गदा रहती है। दर्पान्ध रुक्म के हाथ में खड्ग उसकी शक्ति और शौर्य का द्योतक है। कृष्ण स्वयंवर में अपने रथ में बैठ कर आते हैं और उसी में रुक्मिणी को अपहृत कर द्वारका ले जाते हैं। यह रथ 'पुस्त' (रथ, पर्वत आदि की प्रतिकृति) द्वारा पूरे आकार का बनाया जाता है, जिसमें घोड़े भी जुते रहते हैं। रथ की गति वाद्यों की तीव्र थापों से व्यक्त की जाती है।

एक स्थान से दूसरे तक जाने के लिये पात्र भरतनाट्यशास्त्र की रूढ़ि के अनुसार मंच पर कई बार चारों ओर घूमता है, जिससे गंतव्य स्थान की दूरी का बोध होता है। रुक्मिणी का दूत ब्राह्मण वेदनिधि कृष्ण के मंडप (जो मंच पर दाहिनी ओर निकट ही स्थापित है) तक पहुंचने के लिये मंच के कई चक्कर लगता है।

भरतवाक्य की भांति ही सूत्रधार नाटक के अन्त में 'मुक्ति मंगल' का गान करता है, जिसके द्वारा सभी के लिये शांति और सुख की कामना की जाती है ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अंकिया नाटक में स्थानीय लोकरीतियों के अतिरिक नाट्यशास्त्र की रूढ़ियों का भी अनुसरण किया जाता है। कुल मिलाकर इसे रागरंग, नृत्यगीत, प्रेम और युद्ध, दुःख और हास्य की एक सुन्दर प्रस्तुति कहा जा सकता है, जो अपने पौराणिक आख्यान के अभिनय के द्वारा प्रेम और भक्ति की धारा प्रवाहित करती है ।

शंकरदेव ने 'रुक्मिणी हरण' के अतिरिक कई नाटक लिखे— कालीय दमन, केलि गोपाल, पत्नीप्रसाद, पारिजातहरण तथा रामविजय अथवा सीतास्वयंवर। इनमें से प्रथम चार कृष्णचरित से संबंधित हैं। केलि गोपाल की कथा श्रीमद्-भागवत के दशम स्कंध में वर्णित कृष्ण–गोपी–रास पर तथा पत्नीप्रसाद की कथा विवाहिता ब्राह्मण स्त्रियों के अतिशय कृष्णप्रेम और तज्जन्य प्रभुदर्शन पर आधारित है ।

शंकरदेव के उपरांत उनके शिष्य माधवदेव ने कृष्ण के बालचरित को लेकर अनेक नाटक लिखे, जिनमें अर्जुनभंजन (ओखली से बांधे जाने पर कृष्ण द्वारा यमलार्जुन का मोक्ष); भोजनव्यवहार (भोजन के समय ब्रह्मा द्वारा गायों तथा ग्वालवालों का अपहरण), भूमि लेटौवा (यशोदा की गोद से मचल कर कृष्ण का भूमि में लोटना), रास झूमर (राधा–कृष्ण–रास) आदि प्रमुख हैं।

माधवदेव के बाद गोपालदेव ने आचार्यत्व ग्रहण किया। उन्होंने कृष्ण–

दशावतार

डॉ० श्याम परमार

उन्नीसवीं शती के पूर्व महाराष्ट्र के अनेक भागों में दशावतार शैली के नाटक का पर्याप्त प्रभाव था। दशावतार से तात्पर्य उन अवतारों से है, जो इन शैली के नाटक में क्रमशः अवतरित होकर कोई पौराणिक प्रसंग प्रस्तुत करते हैं। नाटक के सन्दर्भ में जिन अवतारों को मंच पर उत्कर्ष प्रदान किया जाता है, वे क्रम से इस प्रकार हैं— मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि।

दशावतार खेल प्रायः मध्यरात्रि से आरम्भ होकर प्रातःकाल तक चलते रहते हैं। प्रारम्भ में मंच पर सूत्रधार आकर विघ्नहर्त्ता गजानन की स्तुति में ध्रुपद गाता है: देव गजानन रे वन्दू देव गजानन रे। ध्रुपद को अपने सामर्थ्य के अनुसार सूत्रधार दुगुन और चौगुन तक में ले जाता है। उसके समाप्त होते ही

गणपति का नाटकीय आगमन देखने लायक होता है। ऋद्धि-सिद्ध अथवा नायिकाएँ गणपति के दोनों ओर हाथों का सहारा देते हुए लाती हैं। कहीं-कहीं साज-सज्जा का स्थान मंच से दूर हुआ, तो पात्रों को सजकर वहीं से आना पड़ता है। तब मार्ग में खासा मनोरंजक दृश्य उपस्थित हो जाता है। मंच पर आने के पूर्व सभी पात्र रास्तेभर नृत्य करते आते हैं। इस स्थिति में पात्र और दर्शक दोनों समरस हो जाते हैं। गणपति की लम्बी सूँड दो-तीन बालक उठाये चलते हैं। स्वयं गजानन अपना प्रभाव डालने के लिये वक्रिम गति से पद-संचालन करते हुए झूमते हैं। सरस्वती नकली मोर के ढाँचे को अपने पैरों के बीच दबाये इस अन्दाज से चलती है, मानों वह असली मोर पर आसीन हों। सभी पात्र लकड़ी के मुखौटे धारण करते हैं, जिन्हें हर वर्ष ऐसे अवसर पर रंग-रोगन से चमका लिया जाता है। संकासुर (शंखासुर) काला चोगा पहने, जीभ बाहर निकाले और आंखों की जगह दो मोटे पपोटे लगाये विचित्र वेश में नजर आता है। मंच के एक सिरे पर सूत्रधार तैयार रहता है। गणपति और सरस्वती के निर्गमन के पश्चात् शंखासुर का आगमन होता है। वह ब्रह्मा से तीन वेद चुराता है। उन्हें पुनः प्राप्त करने के लिये सूत्रधार देवताओं का अह्वान करता है। उस समय मत्स्यावतार धारण कर विष्णु आते हैं। विष्णु नाचते आते हैं। दशावतारी खेल में किसी समय इन दोनों पात्रों के बीच संवादों में ऐसा स्पर्श दिया गया कि कालान्तर में शंखासुर एक गम्भीर पात्र होने के बजाय टेढ़ी-तिरछी देहवाला, चुहल करता-सा, विदूषक की भाँति हँसोड़ पात्र हो गया। संवाद के पश्चात् विष्णु और शंखासुर में युद्ध का दृश्य उपस्थित होता है। मृदंग अथवा तबले के ताल पर पैंतरे बदले जाते हैं। विचित्र ध्वनियां की जाती हैं और अन्त में विष्णु अपनी शक्ति से शंखासुर का वध कर ब्रह्मा को वेद प्रदान करते हैं। इसके पश्चात् आते हैं कूर्म और वराह। दोनों केवल स्वांग दिखाते हैं। तदनन्तर, नृसिंह अवतार का आरम्भ होता है। यहां से नाटक में उठान आती है।

इस अवतार-प्रसंग में पांच पात्र भाग लेते हैं-हिरण्यकशिपु, कयाधु, प्रह्लाद, भालदार और नृसिंह। यह अंश बहुत देर तक चलता है। फिर, वामन और

वलि दोनों पात्र रूप दिखाते आते हैं। परशुराम का उल्लेख मात्र कर दिया जाता है। आगे राम और कृष्णावतारी प्रसंगों का अभिनय होता है। दोनों ही अवतार ऐसे हैं, जिनके जीवन से अनेक कथाएँ ली जा सकती हैं। दशावतार-मण्डली की योग्याता और सुविधानुसार इनके प्रसंग अधिक या कम कर लिये जाते हैं। कृष्णावतार में राधा अत्यन्त लोकप्रिय हैं। उसके अभाव में प्रसंग अधूरा रह जाता है। बुद्ध और कल्कि अवतार मंच पर नहीं आते। यह जरूरी नहीं कि सभी अवतारों का प्रदर्शन हो। यद्यपि 'दशावतार' कहने भर से नाटक मण्डलियों को अपने इच्छानुसार अवतार चुनने की सुविधा होती है। सूत्रधार की सहायता से अनेक संवाद स्पष्ट किये जाते हैं। प्रत्येक पात्र के प्रवेश पर सूत्रधार परिचय देता है। वह विशेष शब्दोच्चार के साथ झांझ वजाता है। साथ ही, मृदंग की थाप गमकती है। प्रवेश के साथ ही पात्र कुछ समय तक मंच पर नृत्य करते हैं। तदनन्तर निर्धारित शैली से स्वगतकथन करते हैं। लड़ाई के दृश्यों में वाद्यों की गत रोचक होती है। घण्टों पट्टेवाजी चलती है। वढ़ा-चढ़ाकर अपनी वात कहने और अतिनाटकीय होकर अभिनय करने की प्रवृत्ति कदाचित् दशावतार जैसे लोकनाटकों से ही वाद के पौराणिक नाटकों में आई। कहा जाता है कि महाराष्ट्र के आरम्भिक नाटकों पर दशावतार का प्रभाव पड़ा। निश्चय ही, लोकपरक शैलियों ने अपना प्रभाव छोड़ा है। दशावतार का विदूषक स्वयं को 'महादवी' कहता है, जो संस्कृत के 'माधव्य' का अपभ्रंश है। जैसा कि वताया गया है, शंखासुर एक दूसरा विदूषक है। वह 'कुण्डाली' या 'मालवणी' भाषा में सूत्रधार से वातचीत करता है।

प्राचीन काल में कोंकण-प्रदेश के कुछ देवस्थानों में यात्राएं भरा करती थीं। उस समय दशावतार नाटकों का प्राधान्य था। मराठी के विद्वानों का कहना है कि श्यामजी नाईक काले नामक व्यक्ति पूर्वकर्नाटक में रहा करते थे। वही दशावतार नाटक सन् १७२८ ई० के लगभग महाराष्ट्र में लाये। उन्हीं के कारण यह शैली उत्तर कोंकण में गई। यद्यपि रामदास ने दासवोध में एक स्थान पर लिखा है :

खेलते नेटके दशावतारी । तेथे येती सुन्दर नारी ।
नेत्र मोड़िती कलाकुसरी । परी अवघे घटिगण ॥

इससे लगता है कि महाराष्ट्र में दशावतरी खेलों का चलन काफी पहले से था। बीच में राजकीय परिस्थितियों के कारण कुछ काल तक इन नाटकों की परम्परा को दवाव मिला। आई हुई शिथिलता श्यामजी नाईक काले ने दूर की। दशावतार के आरम्भ में कहा जाता है : काले बुआ दशावतारला चला (काले बुआ, दशावातर में चलिए)। इस कथन में श्यामजी नाईक का दशावतार नाटक से प्रगाढ़ सम्बन्ध गुम्फित लगता है। वह स्वयं नाटक में नायक का अभिनय करते थे, इसीलिए उनके नाम के साथ नाईक की छाप लगाई जाने लगी।

श्री हरप्रसाद शास्त्री का तो मत है कि दशावतार की कल्पना नाटकों में लगभग सातवीं शती में आई। विष्णुपुर के मल्लराजा ने दशावतारी नाटक आरम्भ किये। यह स्पष्ट है कि दक्षिण कोंकण और गोवा में जात्राओं (यात्राओं) के समय दशावतार नाटक हुआ करते थे। देवमन्दिरों के पुराने कागजों में इस प्रकार के नाटकों के लिए अलग से रकम निर्धारित किये जाने के अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं। यात्राओं से दशावतार के जुड़े होने के कारण ही कदाचित् मराठी के प्रसिद्ध लेखक मामा वरेरकर बंगाल की जात्रा–शैली से दशावतार का सम्बन्ध वताते हैं। कहीं–कहीं अब भी दशावतार को महाराष्ट्र में जात्रा ही कहा जाता है। इस सम्बन्व का कारण बंगाल से आये गौड़ब्राह्मण परिवार है, जो किसी समय आ बसे थे और जिन्होंने अपनी संस्कृति का महाराष्ट्र से आदानप्रदान किया। बंगाल के फ़रीदपुर का अवतार–नृत्य इस दृष्टि से द्रष्टव्य है, जिसमें एक ही व्यक्ति नृत्य के साथ दसों अवतारों का नाटकीय अभिनय करता है। नृत्यनाट्य की इस शैली में कोई संवाद नहीं होता, न ही गीत गाये जाते हैं। केवल प्रमुख नर्त्तक मन्त्रोच्चार करता है। बंगला साल के अन्तिम दिन 'चड़क गम्भीर' उत्सव के समय ढाल और कांसी के साथ यह नृत्य प्रायः किया जाता है। अनुमान किया जाता है कि गोवा में विजयनगर

के राज्यकाल (सन् १३६७ से १४६९ ई० तक) तक दशावतार हुआ करते थे। बाद में मुसलमानों का प्रभाव आया और उसका कुछ अंश सावंतवाड़ी के भोंसलों के अधिकार में भी रहा। यह तो प्रकट है कि गोवा पर कर्नाटकी संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा; अतः हो सकता है, वहां दशावतार की परम्परा १५वीं शती तक जारी रही हो। पुर्त्तगीजों द्वारा गोवाक्षेत्र अधिकृत किये जाने पर इस परम्परा को धक्का लगा। कई नाटकमण्डलियां वहां से निकट-वर्त्ती सीमाओं में चली गईं। अतः गोवा, कर्नाटक और महाराष्ट्र की मिलीजुली सीमाओं सर इस शैली के नाटकों का आदानप्रदान प्राचीनकाल में होता रहा। जहां सम्भव हुआ, वहां अधिक समय तक दशावतार नाटक जारी भी रहे। गोवा में 'घुमट' नामक एक लोकवाद्य का उपयोग किया जाता है। उस वाद्य के ताल पर जो नृत्य होता है, उसकी अनुरूपता दशावतारी नृत्य में लक्षित की जा सकती है। कहते हैं, पहले गोवा में दशावतार करते समय 'घुमट' का उपयोग किया जाता था।

दशावतार का मंच अत्यन्त साधारण होता है। एक रंगीन परदा पीछे की ओर बांध दिया जाता है। डेढ़-दो फुट ऊंचा मंच; एकओर वादकों के बैठने का स्थान तथा दूसरीओर प्रात्र प्रवेश के लिए थोड़ी जगह छोड़ दी जाती है। प्रत्येक पात्र की निर्धारित वेशभूषा है। जिस प्रकार हिन्दीनाटक के आरम्भ की भूमिका, नई खोजों के कारण आज काफी पीछे की ओर चली गई है, उसी प्रकार मराठीनाटक के विकास की पृष्ठभूमि दशावतार नाटक से सम्बद्ध की जाने लगी है। आज का मराठी रंगमंच बहुत आगे बढ़ा हुआ है। यद्यपि संस्कृतनाटकों की परम्परा ने मध्य में मराठीनाटक को प्रभावित किया अवश्य, तथापि १९वीं शती के अन्त तक जो परिवर्त्तन होते गये और २०वीं शती की नवीन वायु ने तीव्र रूप से जो चेतना जगाई, उसने महराष्ट्र के लेखक, अभिनेता और जन के बीच बहुत कुछ भेद पाट दिये। अप्रत्यक्ष रूप से दशावतार का प्रभाव इन परिवर्त्तनों के पीछे रहा है।

दशावतार नाटक के संवादों की भाषा विशेष रूप से द्रष्टव्य है। अनेक

स्थानों पर ब्रज का प्रभाव, सन्तों की अटपटी वाणी और सधुक्कड़ी झलक उसमें मिलती है : कहीं कहीं तो ठेठ हिन्दी और कहीं कहीं विकृत भाषा। मराठी के साथ हिन्दी का यह पुराना मेलजोल निश्चय ही महत्व का विषय है।

मराठी साहित्य–पत्रिका में (ई० स० १६३२) श्रीरघुनाथकृष्ण पाटनकर ने दशावतार खेल का एक पुराना नमूना प्रकाशित किया था। उसका कुछ अंश उदाहरणार्थ प्रस्तुत है। इसमें पदों की भाषा देखिए :

वराह–अवतार

॥पद॥ सब घट मों राम जागे। नहिं किसका दिल दुखाना ॥ सब घट मों राम जागे। येहि वद जिनें नहिं पाये॥ काथि कोरे नुतन आये। क्या लिखना क्याही परना कोई कोरे फकीर वाणा॥ सब घट मों राम जागे। (कश्यप आला)॥ (दिती येऊन उभी राहिली)। दिती म्हाणाली॥ स्वामी माझी विनंती आहे। स्वामी म्ह०॥ बोल॥ दिती म्ह०॥ अदितीचे पुत्र देव। माझे दितो चे पुत्र दैत्य॥ आदिती चे पुत्र राज्य करितात। दितीच्या पुत्रांचा परावभ करितात॥ अशा समई मी ऋतुमति आई, ऋतु सम्भोग थावा॥ स्वामी म्ह०॥ हे स्त्रिये, या वेली आम्ही स्नानसन्ध्ये मध्ये आहो। योग धारणा मध्ये आहो॥ दोन घटिकानन्तर मनाचा कामपूर्ण होइल। दि० म्ह०॥ नाही स्वामी, विलम्ब नाही॥ (ती जरा पुढे होते)॥ स्वा० म्ह०। हे स्त्रिये, ऐक तुझें दैवत साम्भ सदाशिव त्रिपुरारि तो नन्दीवरती आरुढ़ होऊन पृथ्वीवरती नित्यश: परिभ्रमण करीत आसतो॥ किनिमित्त। कोण धर्म करून वर्तती, कोण अधर्मकरून वर्तती॥ तेव्हा साम्भापाशी आम्ही अपराधी आहों। या करितां या वेलीं मघारी जा॥ दि० म्ह०॥ नाहीं स्वामी, अर्धक्षण विलम्ब नाहीं; सत्वर उठावे (हाथ धरून उठविते व दोवे जतात)॥ स्वा० म्ह०॥ विष्णवे नम: इत्यादि॥ (असे म्हणुम जातात)॥ पद॥ दुनिया दोनिन के भासे॥ काहि कारे नुतन आये। प्रभु ने रे दौर राव्यो॥ कवि गिनवांगिन वाहोरे। सब घट मों राम जागे॥ पुन: कश्यप आले० दिती येऊन उभी राहते। नायिक

म्ह० ॥ स्वामीराज, बाई अधोमुखे उभी आहे कृपा दृष्टि करून पाहावे। स्वामी म्ह०। अहो मधारी लाऊँ था। ना० ॥ नाहीं स्वामी। स्वा० म्ह० ॥ अहो मधारी लाऊँ द्या। अहो ही महान चाण्डालण आहे० महान पातकी आहे० हिचे मुखावलोकन करावयाचें नाहीं। मधारी लाऊँ द्या ॥ मा या कश्यपाच्या तेरा स्त्रिया तेरा ठिकाणीं समभाव असतां हिला आतुर होऊन येणेचें कारण कंचें? त्यापेक्षा हिला दोघे पुत्र होतील० महान् पराक्रमी होतील, धर्म उच्छेद करितील, द्विजाते पीड़ा देतील, घेनुचा क्लेश करितील ॥ पृथिवी ला रसातलाला नेतील ॥ असे महान पातकी होतील असे सर्वांचें संकट जाणोन परमेश्वर श्रीवराह रूप अवतार धारण करून हिचा पुत्राचे परिपत्व करितील। दिती ॥ स्वामिराज० सोवाची कृपा असाची, व्रह्म देउ नसावा। (स्वामी हास्त करितो) स्वामी म्ह० ॥ अहो कशी झाली तरी कश्यपाची स्त्री किहो ॥ अवेली किवा अखेरी ॥ स्वामी म्ह० ॥ हे स्त्रिये, दुष्ट बुद्धिचा त्याग करून सद्बुद्धी ने प्रवर्तलीस तरी तुला प्रह्लाद नामेंकरून निजभक्त पौत्र होईल त्याणें तुझा कुलाचा उद्धार होईल। नायिको म्ह० ॥ स्वामी आश्रमाचे ठांई गेलो होतो ॥ तेथें बाईची चिन्हें साही विलक्षण दिसत आहेत ॥ असा मला यास जाइला ॥ स्वामी म्ह० ॥ नायिक हो उभयता अन्तपूंही गेली असतां तशीं चिन्हें भासावयाचींच ॥ नारायण नारायण ॥ नायिक म्ह० ॥ अहो स्वामी बाईस प्रसूत होतांसमई मोटे रुचिराचे पूरे चालले आहेत। मेघां सारख्या गर्जना होत आहेत, घोर वायु सुटले आहेत ॥ ज्यांचो मे मण्डल पर्यन्त मस्तकें असे महान पराक्रमी पुत्र दोघे जन्माला आले आहेत ॥ त्यांचा नामकरणें आपण ठेवावीं ॥ स्वा० म्ह० ॥ ज्या पुत्रातें प्रथमता प्रसवली त्या पुत्राचे नांव हिरण्याक्ष। ज्या पुत्राचा प्रथइता गर्भसम्भव झाला त्या पुत्राचें नांव हिरण्यकश्यपु ॥ नायिक म्हणतात ॥ यांचे पराक्रम ॥ स्वामी म्ह० ॥ ते स्वमुखें वर्णन करतील। हिरण्याक्ष म्ह० ॥ हे हिरण्यकश्यपु। ज्य कारणास्तव आपण जन्म घेतला तो कार्यभाग जाहला। नायिक म्ह० ॥ स्यामिऊ ॥ यांचा कार्यभाग तरी कंचा। स्वामी म्ह० ॥ स्वमुखें वर्णन करतील ॥ हिरण्याक्ष म्ह० ॥ हे हिरण्यकश्यपु, ज्या कारणास्तव आपण जन्म घेतला तो कार्यभाग जाहल ॥.........

काले अक्षरों की भाषा को देखते हुए यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि हिन्दी ने सैंकड़ों वर्ष पूर्व ही सन्तों के कारण अपना जनसुलभ रूप धारण कर लिया था। सधुक्कड़ी भजन भारतवर्ष के एक कोने से दूसरे कोने तक सहज रूप से समझे जाते थे। इतना ही नहीं, लोकपरक नाट्यों के अध्ययन से यह तो पता चलता है कि कहीं-कहीं खड़ी बोली में पात्र बोलते भी थे। इतर प्रांतों में ऐसा गद्य यद्यपि थोड़े अंशों में उपलब्ध है तथापि उसके प्रयोग का सामान्यीकरण भाषा की बोधगम्यता ही है। 'दशावतार' नाटकों की पाण्डुलिपियां जुटाकर इस दिशा में अधिक निश्चय पूर्वक कुछ कहा जा सकता है।

**

नौटंकी

डॉ० महेन्द्र भानावत

लोकजीवन में नौटंकी नामकरण के सम्बन्ध में निम्नांकित बातें प्रचलित रही हैं :

पंजाब के बादशाह की एक अत्यंत रूपवती शाहजादी थी। वह इतनी नाजुक और कोमलांगी थी कि प्रतिदिन केवल नौटंका भर आहार ग्रहण करती और फूलों से तुलती थी। नौटंका आहार लेने के कारण लोक जीवन में यह शाहजादी नौटंकी के नाम से लोकप्रिय हुई।

एक दिन एक पंजाबी युवक को उसकी भाभी ने ताना मारा कि 'बड़े हुकुम और हाजरी चाहने वाले बनते हो तो नौटंकी व्याह कर क्यों नहीं ले आते ?' युवक को भाभी की यह बात चुभ गई। एक दिन वह जनाना वेश धारण कर किसी हिकमत से नौटंकी के पास पहुँच गया। अपने समान भाव और रूप रंग पाकर नौटंकी ने उसे अपनी सहेली के रूप में रख लिया। एक रात जब नौटंकी

को काम ने आ सताया तो उसने अपनी उस सहेली से कहा कि यदि इस समय कोई पुरुष होता तो कितना अच्छा रहता। नौटंकी के ऐसा कहते ही युवक अपना जनाना वेश त्याग असली पुरुष वेश में आगया। उस रात दोनों एक ही सेज पर सोये।

प्रतिदिन की भांति प्रातः होते ही मालिन आई और नौटंकी को फूलों से तोला तो उस दिन उसका वजन बढ़ा हुआ पाया। बादशाह को जब यह ज्ञात हुआ तो वह बड़ा आगबबूला हुआ। उसने तत्काल ही नौटंकी को बुलवाया और वजन बढ़ने का प्रयोजन पूछा। नौटंकी ने अपने पिता को सही सच सारी बात कह सुनाई। बादशाह ने उस युवक को सूली का हुक्म दिया। इसपर नौटंकी घबराई। वह मर्दाना वेश धारण कर वध स्थल पर पहुँची। जल्लादों को ज्यों ही बादशाह ने कत्ल का हुक्म दिया, नौटंकी अपना मर्दाना वेश उतार कर असली रूप में आ खड़ी हुई और तख्त से जल्लादों को नीचे गिरा अपने पिता से कहने लगी कि या तो आप इसे क्षमा कर दीजिए या फिर इसके साथ मुझे भी फांसी का हुक्म दीजिए। पिता ने अपनी बेटी की बात मान युवक को क्षमा दान दे दिया और तत्काल ही उसके साथ नौटंकी की शादी करा दी।

नौटंकी की यह कथा कई रूपों में सुनने को मिलती है, पर तथ्य यह है कि नौटंकी नाम की शाहजादी के साथ घटित कुछ इस प्रकार का किस्सा अवश्य प्रचलित रहा जिसके आधार पर नौटंकी ख्यालों का बीजारोपण हुआ।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि प्रारम्भ में इन ख्यालों के साथ नौ प्रकार के वाद्य बजाये जाते थे। ये नौ के प्रकार वाद्य नौटंका के नाम से भी पुकारे जाते थे। यही नौटंका आगे जाकर नौटंकी के रूप में रूढ़ बना।

एक मत यह भी है कि इन ख्यालों में नौ प्रकार से नक्काड़े बजाये जाते थे जिनके कारण नौटंकी नाम प्रचलन में आया।

नौटंकी ख्याल के संबंध में ऊपर जिन बातों का उल्लेख किया गया है वस्तुतः उनमें काफी कुछ सत्यांश निहित है। नक्काड़ों की प्रधानता इन ख्यालों में आज भी देखने को मिलती है। राजस्थान में नक्काड़ों की प्रधानता के कारण
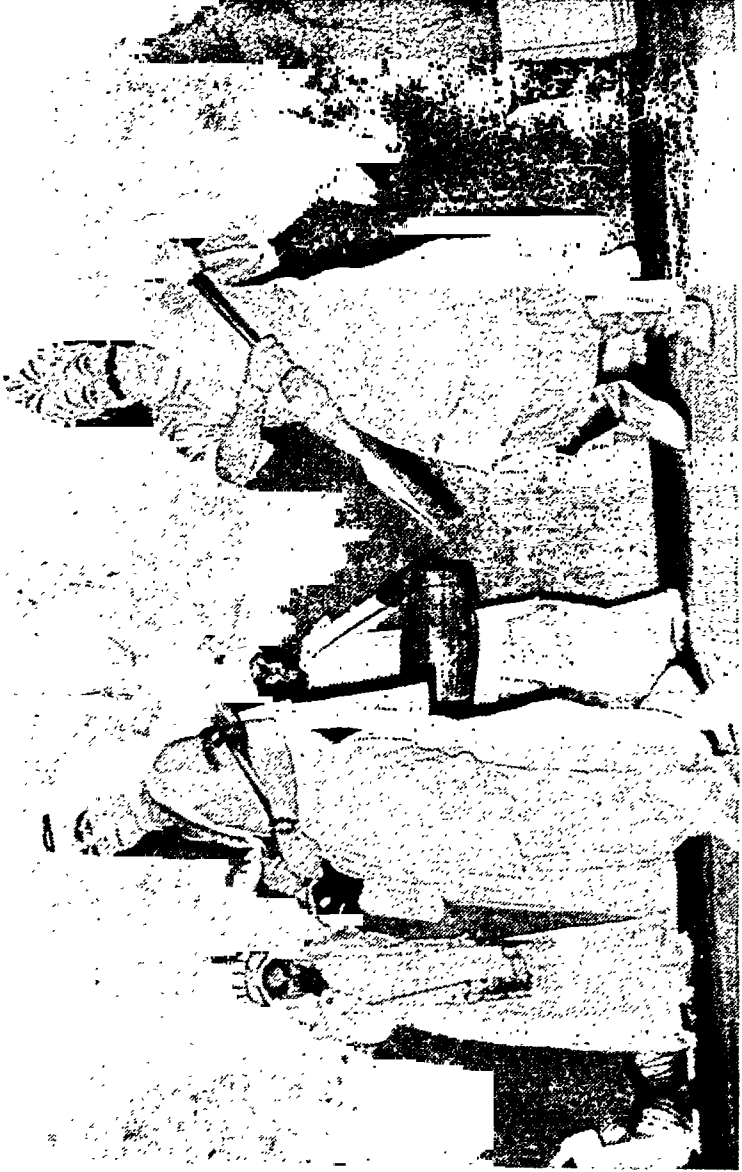
असम का एक अंकी : अंकिया

ख्याल : घेर और घूमर

इन ख्यालों का एक नाम 'नक्काड़ेवाजी के ख्याल' भी चलता है।

कुछ लोग स्वांग, भगत, नकल, संगीत, सांगीत तथा नौटंकी को एक ही प्रकार की विधा मानते हैं। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। मोटे रूप से देखने पर यद्यपि इनमें कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर इनके संगीत नृत्य एवं नाट्य रूपों में बड़ा भारी अन्तर मिलेगा जो इन्हें विभिन्न नामों की कोटि में रूपायित करता है।

उत्तरप्रदेश तथा राजस्थान; ये दो नौटंकी के प्रमुख प्रदर्शन-क्षेत्र रहे हैं। उत्तरप्रदेश में हाथरस तथा कानपुर इन ख्यालों के प्रसिद्ध गढ़ हैं। इन दोनों स्थानों की नौटंकियों की अपनी विशिष्ट शैली रही है। इसलिये यहां की नौटंकी भी इसी नाम से पुकारी जाती है। इनमें हाथरसी शैली की नौटंकी के प्रवर्तक नत्थाराम गौड़ तथा कानपुरी शैली की नौटंकी के प्रवर्तक श्रीकृष्ण पहलवान कहे जाते हैं। हाथरसी नौटंकी अत्यंत सरल तथा उसका संगीत सुगम है। कानपुरी नौटंकी की भांति इसमें न तो छंदों की विविधता मिलेगी न संगीत की अनेकरूपता ही। हाथरसी नौटंकी की मंचसज्जा कानपुरी नौटंकी की भांति पारसी रंगमंच से प्रभावित नहीं है। इसके वेश विन्यास में भी उतनी चमक दमक तथा भड़कीलापन नहीं मिलेगा।

कानपुरी नौटंकी के प्रवर्तक प्रणेता श्रीकृष्ण पहलवान ने सन् १९२७-२८ के आसपास सर्वप्रथम कानपुर में श्री कृष्ण संगीत कंपनी के नाम से व्यावसायिक स्तर पर अपना नौटंकी प्रदर्शन प्रारम्भ किया। इससे पहले भी श्रीकृष्णजी ने शौकियारूप में नौटंकियों का प्रदर्शन प्रारंभ कर दिया था। ये नौटंकियां मुख्य रूप से राष्ट्रीय जन जागरण से ओतप्रोत थीं। अमर शहीद गणेशशंकर 'विद्यार्थी' के संसर्ग का भी इनपर यथोचित प्रभाव पड़ा। यही कारण था कि इनकी लिखी जलियाँवाला बाग, टीपू सुल्तान, शहीद भगतसिंह तथा बलिया का शेर नामक नौटंकियां जनमानस में राष्ट्रीयता की भावनाओं की प्रबल प्रेरक सिद्ध हुई। नौटंकी लेखन एवं प्रदर्शन दोनों में जितनी ख्याति श्री कृष्ण पहलवान को मिली उतनी अन्य किसी को नहीं। नौटंकी लेखन पर

तो केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी ने इन्हें पुरस्कृत कर इस क्षेत्र में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है।

श्रीकृष्ण पहलवान के अतिरिक्त कानपुरी नौटंकी के अन्य प्रणेताओं में त्रिमोहन उस्ताद लालमणि नम्बरदार तथा छिद्दन उस्ताद का नाम सगर्व लिया जा सकता है। त्रिमोहन उस्ताद ने नक्काड़े के जादूगर के रूप में विशेष ख्याति पाई। उस्ताद नत्थाराम की नौटंकियों में भी इन्होंने नक्काड़ावादन में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। उस्ताद इन्दरमन के समय में भी इनकी नक्काड़ेबाजी का सभी लोग लोहा मानते थे। लालमणि नम्बरदार सम्पन्न जागीरदार थे, परन्तु नाच गान का अच्छा शौक होने के कारण इन्होंने अपनी स्वयं की नौटंकी मंडली जुड़ाई जिसमें अच्छा वेतन देकर एक से एक श्रेष्ठ कलाकार रखे गये। उत्तर-प्रदेश के अतिरिक्त बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश में भी इनकी मंडली ने अच्छा नाम कमाया। नक्काड़े पर जुगलबंदी के बेजोड़ कलाकार के रूप में छिद्दन उस्ताद की देन अविस्मरणीय मानी जायेगी।

राजस्थान में भरतपुर तथा धौलपुर इन ख्यालों के मुख्य अखाड़े हैं। यहां इनका प्रचलन सर्वप्रथम भुर्रीलाल ने किया। ये जाति के स्वर्णकार थे और डगी के रहने वाले थे। नौटंकी ख्यालों के प्रसिद्ध लेखक नत्थाराम इनके बाद के हैं। भुर्रीलाल ने सबसे पहले हाथरस में मुरलीधर हरनारायण की मण्डली में नौटंकी ख्याल करने प्रारम्भ किये। उस समय मुरलीधर हरनारायण की नौटंकी का सधा हुआ बड़ा नामी शौकिया दल था। ये दोनों ही अच्छे खिलाड़ी एवं ख्याल लेखक थे। इनके लिखे नौटंकी, लक्ष्मण शक्ति, रुक्मिणी मंगल, मलखान का ब्याह, ढोला-मारू, लव-कुश काण्ड, गुंजभरी तथा भाईगीर नामक ख्यालों ने बड़ी प्रसिद्धि पाई। दोनों बहुत सफल एवं सम्पन्न व्यापारी थे। ख्यालों का इन्हें अच्छा शौक था, इसलिये शौकिया रूप में ही अच्छे कलाकार जुटाकर इन्हें बहुत अच्छा पारिश्रमिक देते थे और हाथरस में ही नौटंकी ख्यालों का मजमा जुटाते थे। इनका गुजंभरी तथा भाईगीर नामक ख्याल तो सिनेमा के गानों की तरह लोकप्रिय हुए। भाईगीर का अभिनय भुर्रीलाल ही करते थे।

कहते हैं कि भाईगीर के उत्कृष्ट प्रदर्शन पर एक बार लोगों ने हाथी पर इनकी सवारी निकाली। अकेले भुर्रीलाल ने मुरलीधर हरनारायण की नौटंकी में लगभग चालीस ख्यालों में भाग लिया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका दल कितना सजीव, सशक्त और शक्तिशाली रहा होगा।

इधर की नौटंकी में वेहरेतबील, दोहा; वेहरे शिकस्त, लावणी सादी, लावणी लंगड़ी, जी की लावणी, कड़ा दोवोला, चौवोला, कव्वाली, गजल, दादरा तथा ठुमरी की प्रधानता पाई जाती है।

नौटंकी स्वाँग

नौटंकियों के ख्यालों की भांति इधर नौटंकियों के स्वाँग भी प्रदर्शित किये जाते हैं। ये स्वाँग अधिकतर चमार तथा डोम लोग भरते हैं। विवाह–शादियों में ये लोग अपने स्वाँग–कौतुक प्रदर्शित कर नेग प्राप्त करते हैं। ढोलक तथा नक्काड़े इन स्वाँगों के प्रिय वाद्य होते हैं। संगीत, नृत्य, अभिनय एवं वाद्य आदि की दृष्टि से ये स्वाँग नौटंकी की ही रंगत लिये होते हैं, इसलिये इन्हें नौटंकी स्वाँग नाम से सम्वोधित किया जाता है।

इन नौटंकियों के लिये किसी नियमित प्रेक्षागृह की आवश्यकता नहीं होती। इनके लिये गांव की चौपाल या वगिया अथवा नगर के किसी भी सार्वजनिक स्थान, सड़क या आश्रयदाता के द्वार के सामने मार्ग रोक कर मंच वना लिया जाता है। यह मंच ऊंचाई के कई एक तख्त डालकर और उनपर दरी विछाकर वनालिया जाता है। यह मंच चारों ओर से खुला रहता है और दर्शक उसके चारों ओर वैठते हैं।

मंगलाचरण, ईश्वर–प्रार्थना, वंदना, स्तुति, हम्दे खुदा या कोरस से लेकर नौटंकी के उपसंहार के छंद तक सभी हिन्दी, उर्दू या लोकछन्द गेय हैं। मगलाचरण प्रायः भजन, गजल आदि विभिन्न राग-रागनियों में गाये जाते हैं, जिनमें ललित, कालिगड़ा, भैरवी, देस, ध्रुपद, मालकोस आदि प्रमुख हैं। दोहा, चौपाई, सोरठा आदि हिन्दी के वेहरेतवील, कव्वाली, गजल, शेर आदि उर्दू के तथा चौवोला, दोवोला, लावनी, ख्याल, सोहनी, थियेटर, दादरा आदि

नौटंकी के विशिष्ट छंद हैं जिनकी अपनी विशिष्ट धुनें भी हैं। मंच पर वादक-वृन्द एक ओर बैठते हैं और सभी पात्र सज-संवर कर एक बार आजाने के बाद मंच पर ही बने रहते हैं। मंगलाचरण के बाद रंगा नौटंकी की कथा के स्थान, समय, नायक एवं उससे सम्बन्धित प्रमुख पात्रों का वर्णन कर कथा का प्रारम्भ गाकर करता है और बीच-बीच में भी कथासूत्र जोड़ता चलता है। नौटंकी में दृश्य-परिवर्तन भी रंगा की वार्ता द्वारा ही होता है। कभी-कभी कॉमिक, गाने अथवा नृत्य द्वारा भी इस दृश्य-परिवर्तन की सूचना दे दी जाती है।[1]

1. लोकनाट्य की विलुप्त परम्परा नौटंकी, अज्ञात एम. ए., साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १८ फरवरी १९६८, पृष्ठ २२।

छायापुतली

एम० वी० रमरणमूर्त्ति

आंध्र की छायापुतलियों की परम्परा बहुत प्राचीन है। ईसा की तीसरी शताब्दी पूर्व यहाँ के सातवाहन राजाओं के संरक्षण एवं प्रोत्साहन के फलस्वरूप ये पुतलियां विकास की चरम सीमा पर पहुंचीं और भारतवर्ष के बाहर इण्डोनेशिया, जावा, सुमात्रा, बाली, श्याम आदि देशों में प्रविष्ट हुईं। रामायण, महाभारत तथा अन्य धार्मिक-पौराणिक कथा आख्यानों की दृढ़ भित्ति पर आधारित ये पुतलियां आज भी उतनी ही लोकप्रिय हैं।

इन पुतलियों के लिए हिरण, बकरा, भेड़ और याक की खाल का उपयोग किया जाता है। देवी पात्रों के लिए हिरण की और अन्य सभी पात्रों के लिए बकरे की खाल काम में लाई जाती है। विभिन्न प्रकार के चमड़ों के प्रयोग देवों के प्रति श्रद्धा व दानवों के प्रति तिरस्कार के द्योतक हैं। चमड़े को काटने

और पात्रों के चरित्र और स्वभाव के अनुरूप उसपर रंग करने का काम अनुभवी और दक्ष कलाकार ही करते हैं। चर्मपुत्तलिका के दोनों ओर बिलकुल एक जैसा रंग लगाया जाता है ताकि किसी भी ओर से देखने पर उसके रंग में कोई अन्तर नजर नहीं आये। आभूषणों के लिए चमड़े में सिर्फ छिद्र कर दिये जाते हैं। इन छिद्रों में से पड़ती हुई रोशनी किसी भांति आभूषणों से कम चमकदार नहीं लगती। पुतलियों को रंगने के लिए जिन रंगों का उपयोग किया जाता है वे गीले और गहरे होते हैं। इन पुतलियों को बड़ी सावधानी से पानी, धूप और दीमकों से बचाकर रखा जाता है। चूहे व अन्य चमड़ा कुतरने वाले जानवरों से भी इनकी रक्षा करना आवश्यक होता है। अत्यधिक प्रयोग के कारण यदि कोई पुत्तलिका घिस जाती अथवा फट जाती है तो उसे पुनः ठीक करली जाती है। ये पुतलियाँ बाँस की एक विशेष प्रकार की टोकरी में रखी जाती हैं। इनकी टांगें और हेण्डल भीतर की ओर मुड़े रहते हैं। पुतलियाँ नचाने वालों के लिए ये पुतलियां उनकी मुख्य सम्पत्ति मानी जाती हैं। परिवार के सदस्यों को यह यह पीढ़ी दर पीढ़ी विरासत में मिलती हैं और इनमें से कुछ पुतलियां विवाहादि में दहेज अथवा उपहार के रूप में भी जाती रहती हैं।

सर्वप्रथम जिस विशिष्ट पात्र की पुतली बनानी होती है उसके वास्तविक चित्र को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है। तदनन्तर उसे काट लिया जाता है, तत्पश्चात् छोटे–छोटे छेद कर दोनों ओर विशेष प्रकार के रंग लगाये जाते हैं। पुतली के अंग प्रत्यंग को विधि अनुसार तोड़ कर बांस की छड़ियां बांध दी जाती हैं। ये छड़ियाँ प्रायः तीन होती हैं। एक शरीर के लिये तथा दो बाजुओं के लिये। कंधों तथा कोहनियों से जुड़े हुए केवल बाजू ही हिलते हैं जिसका नियंत्रण इसमें लगी मोटी डंडियों से किया जाता है। केंद्र की लकड़ी से हत्थे का काम लिया जाता है। पुतली प्रदर्शन के समय कपड़ों की सहायता से तम्बू जैसा घेरा बना लिया जाता है। इसके आगे एक सफेद चादर फैला दी जाती है। इस चादर के पीछे पुतलीकार इन पुतलियों को थामे हुए खेल दिखाता है। पीछे से मशालों द्वारा रोशनी फेंकी जाती है जो पारदर्शी

रंग-बिरंगी पुतलियों को पार करती हुई परदे पर अंकित होती है। गीत संवादों तथा वाद्यों की संगत के साथ पुतलियों के ये प्रदर्शन रात-रात भर दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित किये रहते हैं।

इन प्रदर्शनों को एक विशेष जाति के लोग प्रदर्शित करते हैं जो 'महाराटा' कहलाते हैं। इन्हें 'बोन्डिली', 'बोन्डिलीक्षत्रिय,' अथवा 'बोन्डिली कपू' भी कहा जाता है। वर्षों पहले ये लोग महाराष्ट्र से तेलुगुलोगों की शरण में आये और आन्ध्रवासी बनकर इन्होंने बहुत धन व यश अर्जित किया। इन छाया-पुतलियों का मूल नाम 'जोड़वाली पुतलियां' है। ये विभिन्न पशुओं और मनुष्यों के आकार की होती हैं। मनुष्य और जानवरों की ही भांति ये पुतलियां अपने अंगों को जोड़ों पर से हिला सकती हैं, और इसी कारण इनका यह नाम पड़ा, कहा जाता है। प्रारम्भ में ये पुतलियां पतले कार्डबोर्ड की बनाई जाती थीं और सफेद पर्दों पर इनकी काली छायाओं का प्रदर्शन किया जाता था।

दिन में ये कलाकार गाँव के मुखिया से सम्पर्क स्थापित करके रात्रि के समय उसके घर, गाँव, मन्दिर अथवा सभास्थल में या उसके द्वारा सुझाई गई किसी अन्य जगह प्रदर्शन देने की तैयारी करते हैं। शेष समय वे पुतलियों की मरम्मत अथवा नई पुतलियों के निर्माण में लगाते हैं। चर्मपुतलियों का खेल, जिसका प्रदर्शन बारीक साड़ी जैसे कपड़े के पीछे किया जाता है और जो शिक्षित व अशिक्षित दोनों ही वर्गों के लोगों के लिए मनोरंजन का साधन है, प्रचीन तेलुगुवासियों की प्रथम कला है जिसका नाम दूर-दूर तक फैला हुआ है। इसका प्रचार न सिर्फ आन्ध्रप्रदेश में हुआ अपितु यह कला मलाबार की सीमा तक भी पहुँची। आन्ध्र और मलाबार के चर्मपुत्तलिकाओं के खेल में 'कुछिपुड़ी' और 'कथकलि' नृत्य की सी समानता मिलती है। इस कला को आश्रय न सिर्फ सातवाहनों से ही मिला अपितु 'पल्लवों', 'चालुक्यों' और 'काकातियों' तथा विजयनगर व तंजोर के कलाप्रेमी राजाओं ने भी इसे प्रोत्साहित किया। इन पुत्तलिकाओं के खेल सामान्यतः रामायण, महाभारत और भागवत की कथाओं पर आधारित होते हैं। 'हरिकथा कालक्षेपम्' की ही भांति इन

लंबी कथाओं को अभिनीत करने के लिए यदि लोग चाहें तो ये खेल कुछ दिनों से लेकर कुछ महीनों तक भी बढ़ाए जा सकते हैं।

छायापुत्तलिकाओं के प्रदर्शन के लिए किसी नाट्यगृह की आवश्यकता नहीं होती। यह प्रदर्शन खुले में होता है और पूर्णतः निःशुल्क होता है। पर्दे के लिए गांव के धोबी से दो सफेद साड़ियां ले ली जाती हैं। पर्दे की चौड़ाई का निर्धारण साड़ी की लम्बाई करती है। जमीन से लगभग घुटनों की ऊंचाई तक की जगह खाली छोड़कर मंच के दोनों ओर गाड़े गए दो खंभों से साड़ी के दो-दो छोर बांध दिए जाते हैं। पहली साड़ी की ही भांति दूसरी साड़ी को भी इसके ठीक ऊपर बांध दिया जाता है और दोनों साड़ियों को खजूर के कांटों से इस प्रकार जोड़ दिया जाता है कि उनके बीच किसी प्रकार की खाली जगह अथवा सिलवट न रहे।

मंच की ऊँचाई दो साड़ियों की चौड़ाई और जमीन से घुटनों तक की दूरी का योग होता है। जमीन से घुटनों तक की ऊँचाई को भी किसी कपड़े से ढँक दिया जाता है। पंडाल की चौड़ाई अधिक हो जाने के कारण पर्दे को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे इस हेतु उसके बीचों-बीच सहारे के लिये एक और खम्भा गाड़ दिया जाता है। बाजू की खाली जगह और ऊपरी भाग को टाट आदि से ढँक देते हैं। इस तरह सफेद साड़ियों के इस पर्दे के पीछे एक कमरा सा बन जाता है जिससे भीतरवाले कलाकार बाहर के दर्शकों को नहीं देख सकते। इन कलाकारों को रातभर इसी कमरे में बन्द रहना होता है। चूंकि खेल पौ फटने तक चलता है अतः इस कमरे के भीतर ही चाय बनाने और मोटे कपड़े के झूलों पर बच्चों को सुलाने की व्यवस्था होती है।

खेल का प्रारम्भ होने से पूर्व विघ्नेश्वर गजानन की पुतली को सफेद पर्दे के बीचों-बीच टांग दिया जाता है। कुछ लोग विघ्नेश्वर की पुतली के अति-रिक्त अन्य पशु-पक्षियों व वृक्षों की पुतलियों से भी पर्दे को सजाते हैं। प्रारम्भिक स्तुति के बाद सब पुतलियां हटा ली जाती हैं। पर्दा फिर एक बार खाली होजाता है तब दल का मुखिया कथा से सम्बन्धित प्राक्कथन के बाद असली खेल की

शुरुआत करता है।

पुतलियों को चेहरे के सामने से नहीं अपितु बाजू से चित्रित किया जाता है। हाथों या पावों की भांति पुतलियों की गर्दन में कोई जोड़ नहीं होता। अतः पुतली को जिस ओर दिखाना होता है उधर उसे पूरी की पूरी घुमादी जाती है। ये पुतलियां इस भांति नहीं बनाई जातीं कि वे सीधे दर्शकों की ओर देख सकें। बातचीत करते समय पुतलियों के केवल हाथ हिलाए जाते हैं। पुतलियों की ऊंचाई के अनुपात में ही उनके हाथों पांवों की लम्बाई होती है। इनके हाथों को ऊपर नीचे हिलाने के लिए उनमें छेदकर उपयुक्त लम्बाई व मोटाई की बांस की छड़ियां काम में लाई जाती हैं। इन छड़ियों के एक सिरे पर एकआध इन्च जगह छोड़कर एक डोरे का एक छोर कस कर बाँध दिया जाता है। इस डोरे के दूसरे छोर पर बाँस की एक सींक बांधदी जाती है। बीच में एक या आधा इन्च डोरा मछली पकड़ने की बंसी के डोरे की भाँति लटका रहता है। डोरे से बंधी इस सींक को पुतली के हाथ में बने हुए छिद्र में से निकाल दिया जाता है। एकबार दूसरी ओर निकाल दिए जाने पर यह सींक केवल डोरा खींचने से इस ओर नहीं आ सकती तथा इसके कारण पूरी छड़ी पुतली के हाथ से लटकी रहती है। यदि कभी पुतली के दोनों हाथों को एक साथ हिलाना हो तो पुतली के दोनों हाथ की छड़ी को दूसरे हाथ से पकड़-कर खेल करने वाला वैसा कर सकता है। पुतली के दोनों हाथों से जुड़ी दोनों छड़ियों और बीच में लगी लम्बी टहनी का संचालन खेल करने वाले दोनों हाथों से करते हैं। पुतली का मुंह अक्सर उससे बात कर रहे व्यक्ति की ओर रहता है अतः पुतली का उसी व्यक्ति की ओर वाला हाथ अधिक महत्व का होता है। इसलिए खेल करने वाला पुतली के उस हाथ वाली छड़ी को अपने एक हाथ में तथा पुतली के दूसरे हाथ वाली छड़ी व बीचवाली टहनी को दूसरे हाथ में थामे रखता है।

श्रेष्ठ पात्रों का अंग संचालन मंथर व गम्भीरतायुक्त होता है जबकि मध्यम व निम्नश्रेणी के पात्र अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता से अपने अंगों को हिलाते हुए

पाये जाते हैं। छलांग लगाना, कलाबाजी दिखाना तथा पुतलियों का लड़ाना इस खेल के विशिष्ट आकर्षण होते हैं। इसके लिये कलाकार को भी विशेष कौशल एवं दक्षता दिखानी पड़ती है।

खेल में जानवरों की पुतलियां होती हैं। पात्रों के पद एवं प्रतिष्ठा के अनुसार उन्हें पर्दे पर लाने और ले जाने में भी चतुराई बरतनी पड़ती है। पुतली को पर्दे के पास लाने तथा उसे दूर हटाने में भी दक्षता आवश्यक है। यदि पुतली को पर्दे से सटाकर न रखा जाय तो दर्शक उसे ठीक से नहीं देख सकते। पर्दा जमीन पर बिलकुल लंबवत नहीं रहता। यह ऊपर से नीचे की ओर जरा भीतर की ओर झुका रहता है ताकि पुतलियों के संचालन में असा-वधानी हो जाने पर भी वे आसानी से नीचे न गिर पड़े। इसके अतिरिक्त इसका एक अतिरिक्त लाभ यह भी है कि हाथ के थोड़े से दबाव से ही पुतलियों की छाया पर्दे पर स्पष्ट रूप से पड़ने लगती है और दर्शक उन्हें देख सकते हैं।

पुतलियों की छाया पर्दे पर प्रतिबिम्बित हो सके इसके लिये पर्दे के भीतर की ओर एरंडी के तैल के दीपक रखे जाते हैं। ये दीपक एक सामान्य आदमी जितनी ऊँचाई पर रखे जाते हैं। गांव का मुखिया एक धोबी को इन दीपकों में बराबर तैल पूरते रहने का काम सौंपता था ताकि खेल के समय तक वे एक सा प्रकाश देते रहें। वर्तमान में तैल के दीपकों की बजाय पैट्रोमेक्स का उपयोग किया जाता है। परन्तु इन पुतलियों के लिये यह प्रकाश अधिक कारगर नहीं लगता। कारण कि एरंडी के तैल के दीपकों का प्रकाश तनिक ललाई लिये हुए होता है और इसके कारण पुतलियों के गहरे रंग अधिक सुन्दर व आकर्षक लगते हैं। पैट्रोमेक्स का श्वेत प्रकाश पुतली के रंगों की इस सुन्दरता को कम कर देता है। बिजली के किसी माध्यम से बल्ब का प्रकाश भी पैट्रोमेक्स की रोशनी से अधिक तीव्रता लिए होता है। अतएव जहां एरंडी के तैल के दीपक अथवा पैट्रोमेक्स के प्रकाश में खेल करने वालों की आकृति अथवा प्रतिच्छाया पर्दे पर नहीं नजर आती वहीं विद्युत प्रकाश में उनके दिखाई पड़ने की संभावना कई गुना बढ़ जाती है।

**

कुरवंजि

डॉ० श्याम परमार

मद्रास के उत्तर नेल्लूर जिले से ओड़िसा की दक्षिणसीमा तक फैले हुए आन्ध्रप्रदेश की काव्यसम्पदा का एक आरम्भिक सूत्र है कुरवंजि। प्राचीन काल में द्रविड़ नाटकों को 'कुरवंजु' कहा जाता था। कुरवंजु शब्द 'कुरव' और 'अंजु' (अथवा अंजि) से मिलकर बना है। कुरव अथवा कोरव (कुरुंवर) दक्षिण भारत की एक पहाड़ी जाति है और अंजु का अर्थ है नृत्य; अर्थात् कुरवंजि कुरव आदिवासियों का नृत्य है। बहुत पहले कुरव आदिवासी तिरुपति, श्रीशैलम् आदि तीर्थस्थानों में यात्रियों का मनोविनोद किया करते थे। बाद में उनकी नृत्यविद्या समूचे दक्षिण-भारत में एक नाट्यशैली का आवश्यक अंग बन गयी। आन्ध्र में किसी समय 'ज्ञान कुरवंजि', 'जीव कुरवंजि' तथा 'सत्यभामा कुरवंजि' नामक तीन नाट्यरूप उपलब्ध थे। द्वितीय शताब्दी के तमिळग्रन्थ 'शिलप्पधिकारम्'

में 'कुरवईकुत्तु' नामक नाट्यरूपों का उल्लेख आया है। कपिलर कवि का ग्रन्थ 'कुरिञ्जिप्पाट्टु' एक प्रेमकाव्य है। इसका कथानक आम कुरवंजि नाटकों के अनुरूप है :

एक कृषक कन्या खेत की रखवाली करती है। पहाड़ी क्षेत्र का राजा शिकार खेलता हुआ उधर आ निकलता है और उस लड़की पर मोहित हो जाता है। दोनों गन्धर्व विवाह कर लेते हैं। कुछ समय के पश्चात् राजा अपने देश को लौट जाता है। उसके विरह में कृषक लड़की कातर होती है। जब लड़की के माता-पिता को उसके दुःख का कारण ज्ञात होता है तो वे राजा से उसका यथोचित रीति से विवाह कर देते हैं। तमिळ के एक अन्य ग्रन्थ 'वेण-बमळाइ' में कुरवंजि को एक गीतशैली कहा गया है। 'पन्नीरुपट्टि याल' और 'इलाकण्ण चिन्दानी' ग्रन्थ में कुरातिपाट्टु नामक गीत का उल्लेख आया है जो निश्चय ही कुरव या कोरव घुमन्तुओं के गीत होंगे। 'रामभ्युदय' नामक तेलुगु ग्रन्थ (१६ वीं शताब्दी) में कुरवंजि को एक नृत्य रूप बताया गया है। तंजाउर के विजय राघव नायक (१६३३-७३ ई०) की सभा के कवियों ने सर्वप्रथम अपने तेलुगु नाटकों 'मन्नारुदास विलास', 'विजय राघव चन्द्रिका विहार' और 'विजय राघव कल्याण' में कुरवंजि नामक पात्र का प्रयोग किया है। वैसे दक्षिण में कुरवंजि नाम से ही प्रचलित नाट्यरूपों का संदर्भ १७ वीं शताब्दी के अन्तिम दशक से प्राप्त होता है। मैसूर के राजा कण्ठीरव ने १८ वीं शताब्दी के प्रारंभ में तेलुगु, कन्नड़, तमिळ और प्राकृत में अपने ढंग की कुरवंजि रचनाएँ लिखीं। 'आन्ध्र कोरवंजि' इनकी प्रसिद्ध रचना है। तंजाउर के मराठा शासकों ने अपने राज्यकाल में कुरवंजि को बहुत प्रश्रय दिया। शाहजी (१६८४-१७१२ ई०) के दरबार के कवि गिरिराज ने 'राजमोहन कोरवंजि' नाटक तेलुगु में लिखा था। स्वयं शाहजी ने छः-सात यक्षगान नाटकों की रचना की जिनमें 'दर्भागिरिराजु' उल्लेखनीय कृति है। इनके समय में कुरवंजि पात्र को 'यक्षगान बयलाट' में स्थान दिया जाने लगा था। तंजाउर के ही राजा सर्फोजी द्वितीय (१७९८-१८३२ ई०) ने 'देवेन्द्र कुरवंजि' की रचना मराठी में की थी। मलयालम में यह नाट्यविधा 'कुट्टीआट्टम' के नाम से प्रख्यात है।

नेलट्टूरी वेंकट रमणय्या कुरवंजि को तमिल शब्द मानते हैं। तेलुगु में कुरवंजि को 'एरूक' भी कहते हैं। प्राचीनकाल में तमिळ यक्षगान में कुरवंजि नामक स्त्री पात्र के प्रयोग का प्रावधान था। कुरवंजि पात्र का जिस यक्षगान में स्थान होता वह नृत्यनाट्य यक्षगान कुरवंजि कहा जाता था। अतएव, मात्र कुरवंजि ही कर्नाटक के यक्षगान की उत्पत्ति का कारण नहीं है, जैसा कि वेट्टूरि प्रभाकर शास्त्री मानते हैं। वेट्टूरि शास्त्री का कथन है : "आन्ध्रदेश के श्रीशैलम्, इन्द्रकील नगर (विजय वाड़ा) आदि शैव क्षेत्र में नृसिंह क्षेत्रादि, वेदाद्रि पर्वतों पर वर्षोत्सव के समय में नागरिक इकट्ठा होते थे। उनके विनोदार्थ आदिवासी नृत्य-विशेष का प्रबन्ध करके धनोपार्जन करते थे। कोरवं जाति से किया गया नृत्य कोरवंजु कहलाता था। कोरवंजु नृत्य-विशेष क्रमशः जाति विशेष में बदलता रहा। ये नृत्य विशेष रूप में ही न रहकर प्रबन्धों के रूप में परिवर्तित हुए और कालानुगुण पर्वतप्रदेशों की महत्वपूर्ण कथाओं से शिवविष्णु–लीला कथाओं में सम्मिलित होकर विशिष्ट गेयनाट्य बन गये। ये गेयनाट्य पहले नृत्य विशेष पर निर्भर थे। धीरे–धीरे इनका प्रचार नगरों में भी होता रहा है जिससे नागरिकों की भी एक विशिष्ट अभिरुचि इनके प्रति होती गई। उन नृत्य दृश्यों को यक्ष या कलावान खेलते थे। इसी समय दृश्यनृत्याभिनय के साथ ही साथ गेयों में वचन का श्रव्य रूप भी दिया गया। राजसभाओं में देवोत्सव जातर (यात्रा) के समय यक्ष गंधर्वादि वेष धारण कर वेश्याओं द्वारा प्रदर्शित कराते तथा नृत्य धर्म से गेय की धर्म की अधिकता होने से यक्षगान कहलाते थे।[1]

कुरवंजि शैली की दृष्टि से एक नृत्यनाट्य है। प्रायः मन्दिरों से सम्बन्धित उत्सवों के अन्तर्गत इसे भी सम्मिलित किया जाता है। इस नाट्यविधा में प्रायः पुरुष पात्र का अभाव होता है। लगभग छः-सात स्त्री पात्र मिलकर

१. वेट्टूरि लिखित 'सुग्रीवविजय' की भूमिका, तथा कर्ण राजशेष गिरिराव का लेख 'आन्ध्र देश के यक्षागान' (सम्मेलन पत्रिका, पौष, २१०).

खेलते नजर आते हैं। सांगी का गीत प्रेम और यौवन से ऊपर नहीं उठता, मानो उसके गाने योग्य केवल यही सूत्र शेष रह गया है। चौबोल, त्रिबोल, दोहा, तोड़ और रागनी का एक-एक शब्द शृंगार और वीररस के तानेवाने से बुना होता है और श्रोताओं पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाता है। हरियाने के लोकमानस को रस की जो परितृप्ति दीपचंद, सरूपचंद, लखीमचंद, मांगेराय, रामकिशन व्यास, चंदलाल वादी और धनपत आदि के सांगों से प्राप्त होती है, वह इस प्रदेश के शिक्षित, अशिक्षित, हाली और पाली (ग्वालवृन्द) से छिपी नहीं है। सांगियों द्वारा प्रस्तुत धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक एवं प्रेममूलक इन कथाओं में स्थानीय जनता रामायण से भी अधिक रस लेती है। वास्तव में ये रससिद्ध सांगी अपने छोटे से साजबाज और अल्प उपकरणों के द्वारा इसके ऐसे उत्स बहाते हैं कि श्रोतागण मंत्रमुग्ध से हो जाते हैं। ऐसा साधारणीकरण साहित्यिक नाटकों में कम ही स्थानों पर देखने को मिलता है। सांगी का अ र र र......... का खींचा स्वर जादू सा असर करता है।

सांग अभिनयात्मक रूपक का वह प्रकार है जिसमें पद्य की प्रधानता होती है। इसे मैट्रिकलप्ले अर्थात् गीतिनाट्य कहते हैं। ऐसी रचनाओं को नाटक की अपेक्षा नाटकीय काव्य कहा जाय तो असंगत न होगा। इस में कथोपकथन पद्यमय होता है। केवल पद्यों के मध्य बीच-बीच में गद्य की थेगली लगाई जाती है। इन गद्यखण्डों को 'वार्ता' के नाम से अभिहित किया जाता है। कथा को एक विशेष मोड़ देने तथा उसकी रोचकता बनाये रखने के साथ-साथ चरित्रनायक के उन प्रच्छन्न गुणों को, जो गीत की पकड़ से बाहर पड़ गये होते हैं, श्रोताओं तक पहुँचाने में ये वार्ताएँ बड़ी महत्त्व रखती हैं।

गीतप्रवाह में बहती श्रोतामंडली वार्तातन्तुओं को पकड़कर कथा-तट पर आजाती है। यह वह अवलेह है जो कथा श्रवण की बुभुक्षा जाग्रत कर देती है। सांग में गीत, राग और रागिनी हृदय की बात कहती है और गद्यवार्ताएँ इतिवृत्त की कड़ियों को जोड़ती चलती हैं।

'ढोलामारु' हरियाने की एक प्रसिद्ध लोककथा है। एकबार नरवरगढ़

रास के रचैया : श्रीकृष्ण

इसका अभिनय करते हैं। रंगस्थल मन्दिर का खुला प्रांगण अथवा प्रेक्षकों के बीच में खुला स्थान होता है। परम्परागत रूप से कत्तियकार नाट्य की उद्घोषणा करता है। उद्घोषणा के पूर्व जैसाकि प्रायः सभी दक्षिणात्य लोकनाट्यों में होता है, गणेश की वंदना की जाती है। एक पात्र गणेश के वेश में आकर मंच पर नृत्य करता है। उद्घोषणा के पश्चात नायिका अपनी सखियों के साथ प्रवेश करती है। वह विरहाकुल होती है। कुराती नामक एक कुरव स्त्री आकर उसकी हस्तरेखा देखती है और उसे विश्वास दिलाती है कि उसे नायक की उपलब्धि अवश्य होगी। कभी-कभी स्वयं कुराती ही विरह-दग्ध अवस्था में प्रवेश करती है और दुखी नायिका से मिलकर संतोष पाती है। कुराती द्वारा गेयगीतों में कई देशों और उनके निवासियों का वर्णन होता है। प्रत्येक गीत के साथ नृत्य होता है।

कुरवंजि की एक प्रमुख कथा है नायिका द्वारा अपने इष्ट अथवा प्रेमी की उपलब्धि। कुरवं जाति की स्त्री उसको अपने प्रेमी से मिलाने में सहायक होती है। इस पात्र को सिंगी भी कहते हैं। नायक कभी भी मंच पर नहीं आता। केवल गीतों एवं सखियों और कुरवंजि के बीच नायिका के संवादों द्वारा उसका परिचय दिया जाता है। हास्य के लिये कभी-कभी सिंगी का पति सिंगा अपनी पत्नी को खोजता हुआ मंच पर आकर श्रोताओं का मनोरंजन करता है। ग्रामीण भाषा में उसके और सिंगी के संवाद प्रेक्षक को बहुत हँसाते हैं।

तेलुगु में लगभग बीस कुरवंजि रचनाएं प्राप्त हैं। ये सभी रचनाएं अपनी विधा एवं प्रस्तुतीकरण की शैली में यक्षगान के अनुरूप हैं। कुरवंजि पात्र के कारण ही कतिपय यक्षगान कुरवंजि कहलाये। तथ्य यह है कि तेलुगु और कन्नड़ के कुछ लेखकों ने अपनी कृतियों को दोनों ही नामों से सम्बोधित किया है।

❀❀

सांग

डॉ० शंकरलाल यादव

सांग; नकल, नाच, तमाशा अथवा नौटंकी का पूर्व रूप या पर्याय है। यह स्वांग का तद्भव रूप है। इसका अर्थ होता है 'भेष भरना, 'रूप भरना' या 'नकल करना'। हरियाना में 'सांग भरना' एक मुहावरा भी है जिसका अर्थ होता है रूप भरना या रूप बनाना। वास्तव में 'स्वांग' वह रूप बनाना कहलाता है जब प्रयत्न करने पर भी रूप का यथातथ्य आरोप न हो सके और पात्र में विकृति आ जाए। सांग का जो रूप हमारे सामने दृष्टिगोचर है वह हूबहू स्वांग जैसा ही लगता है। इसके लिए साँगीत शब्द भी व्यवहृत होता है।

हरियाने का जानोल्लास सांग के द्वारा प्रस्फुटित होता है। लम्बा कथा-गीत इस सांग का प्राण है और यह एक नाटकीय रूप में होकर चलता है। वस्तुतः सांगहरियाने का ग्रामीण कौमी नाटक है जिसमें प्रेम और यौवन आंखमिचौनी

गवरी : एक गम्मत एक घाई

के राजा नल ने पिंगलगढ़ के राजा बुद्धसिंह के साथ चौसर (चौपड़) खेली थी। उस समय यह निश्चय हुआ कि वे दोनों रानियों के गर्भ से उत्पन्न होने वाली संतान (पुत्र-पुत्री) का आपस में विवाह कर देंगे। यथासमय बुद्धसिंह के यहां मरवण (मारू) पैदा हुई और राजा नल के यहां ढोलकँवर (ढोला)। प्रतिज्ञानुसार इन दोनों को तराजू के पलड़े में बिठाकर उनका विवाह कर दिया गया। उसी समय आकाशवाणी हुई कि 'ढोलकँवर के ऊपर द्वार गिरेगा।' तत्पश्चात राजा नल ने ढोला का दूसरा विवाह रेवती (रेवा) के साथ कर दिया। इधर पिंगलगढ़ में मारू युवती हो गई। माता को उसने वस्तुस्थिति से अवगत किया और राजा नल के यहां ढोलकँवर के पास दूत रूप में तोता भेजा। तोता रेवा रानी के हाथ पड़ गया। फलस्वरूप मारू का संदेश ढोला तक न पहुँच पाया।

सांगीतकार इस वृत्त को राग रागिनियों में कहता है। कथा बढ़ती चलती है। ढोला से कोई सूचना न प्राप्तकर मरवण नरवरगढ़ के बंजारे के हाथ अपनी साड़ी पर संदेशा लिख भेजती है। बनजारा साड़ी को ढोला के यहां पहुंचा देता है। इस कथा को 'सांगीत ढोला मारू' में इस प्रकार कहा गया है–

जबाव रेवा का–

पास रहो हीरामन सूवा जो चाहे मेवा खावो।
कमी नहीं है किसी बात की लीजो तुम जी में चावो॥
सोने चोंच मढाऊं तेरी मन में मत ना घबराओ।
मैना पास रहेगी तेरे और कहीं मत ना जाओ॥

जबाव कवि का–

तोते को समझाय के दिया पींजरे डाल।
यों झगड़ा होता रहा आगे सुणो हवाल॥

वार्ता–

भाइयों, पिंगलगढ़ में बणजारा बाग में आसरम के लिए ठहर गया था तो मरवण को मालूम हुआ कि ये बणजारा नरवरगढ़ का है और नरवरगढ़

ही जायगा तो भाइयों, मरवरण अपणी साड़ी पै सब हाल लिख के देती है और वणजारा नरवरगढ़ में आके ढोलकंवर को देता है। जरा गौर से सुणो।

सांग के विधान को हृदयंगम करने के लिए नाटकीय तत्वों पर ध्यान जाता है। इसमें प्राचीन नाटक की एक-दो वस्तुएं जीवित हैं, शेष सांग की सादगी में दब गई हैं। सांग में नान्दीपाठ के स्थान पर ईशप्रार्थना, शारदा-वंदन तथा शिवस्तुति रहती है। सांगी गुरुपरम्परा का वर्णन भी निश्चित रूप से करते हैं। तत्पश्चात वार्ता द्वारा वस्तु का प्रतिष्ठापन कर दिया जाता है।

सांग को जमाने के लिए साजसज्जायुक्त किसी रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती। यह खुले चौड़े मैदान में तख्त बिछाकर बिना किसी छिपाव दुराव के अपेक्षित पात्रों द्वारा खेल लिया जाता है। कभी-कभी कोई सांगमंडली यथा-समय और यथास्थान यवनिका आदि का प्रबन्ध कर लेती है परन्तु लोकनाट्य के लिये इसकी अनिवार्यता नहीं है। छोटी सी स्टेज पर ही सब अभिनेता बैठे रहते हैं। प्रवेश, प्रस्थान, संवाद, नृत्यगान आदि सब रंगमंच पर दर्शकों के सामने खुले मैदान में होते हैं, जिसकी बारी आती है वह उठकर अपना पार्ट अदा कर देता है। जनाना पार्ट भी पुरुष ही करते हैं।

विषयवस्तु की दृष्टि से यदि सांग पर विचार करें तो इनमें धार्मिक, पौराणिक एवं ऐतिहासिक आख्यानों से लेकर तिलस्मी एय्यारी और आधुनिक सस्ते घृणित एवं छिछले रसाभासमूलक प्रेमव्यापारों तक का वर्णन देखने को मिलता है। इनमें जहाँ एक ओर पुण्यश्लोक राजा नल का लोकोत्तर पावन चरित्र, गोपीचंद भरथरी की अनन्य त्यागवृत्ति तथा पूरनमल के उदात्त एवं अलौकिक शिष्टाचार की भावना देखी जाती है तो दूसरी ओर 'ताकूतोड़ बाल्टी फोड़' और 'लीलो चमन' के नग्न, अशिष्ट एवं जघन्य अश्लील प्रेमालापों का चित्रण भी मिलता है। ऐसे सांगों में गांवों का वह आरण्यक निश्छल वाता-वरण, जो अपनी पावनता एवं निरीहता के लिये प्रसिद्ध है, बड़ा निम्न, घिनौना और गर्हित चित्रित हुआ पाया जाता है। पुरंजन पुरजनी (पं० लखमीचन्द), हरिश्चन्द्र (पं० सरूपचन्द) तथा सीला सेठानी (पं० नेतराम) सांगों को छोड़कर

जिनमें जीवन के उदात्त एवं विशुद्ध पक्ष की झांकी मिलती है, आज के सांग तो शृंगार और अश्लीलता के कुत्सित प्रदर्शन तक ही सीमित रह गये हैं। इसके कई कुपरिणाम घटित हुए हैं। फिल्मी सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव भी इनसे अछूता नहीं रहा है।

हरियाना सांग की कई एक विशेषताएँ रही हैं। इनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—

१. हरियाने सांग यहां की सामाजिक धरोहर हैं। इनमें व्यक्ति विशेष की कल्पनाओं, मान्यताओं एवं भावनाओं की अनुकृति नहीं मिलती।

२. इनमें पद्य की प्रधानता पाई जाती है। सच पूछो तो हरियानी सांग इसी पद्यप्रसाद से ही जीवित हैं। जबतक इनमें रागिनी की सरसता एवं उपादेयता बनी रहेगी तब तक ये जनमनोरंजन के सशक्त माध्यम सिद्ध होते रहेंगे।

३. ये खुले में प्रदर्शित होते हैं। तख्तों का ऊंचा मंच बनाकर उसके चारों ओर बांसों का घेरा बना लिया जाता है। इनमें यवनिका आदि का कोई विधान नहीं होता। प्रवेश व प्रस्थान सब रंगमंच पर दर्शकों के समक्ष खुले में होते हैं। दर्शकलोग मंच के तीन ओर बैठते हैं।

४. इनमें कोई अंक आदि नहीं होते। समस्त कथानक क्रम-पूर्वक चलता है। गीत, नृत्य और वार्ता यथावसर होते हैं।

५. इनमें संकेतों का बहुलता से प्रयोग होता है। इससे यह लाभ होता है कि अनेक बातें बिना शब्दों का जामा पहने ही अभिव्यक्त हो जाती हैं।

६. इनका विषय पूर्व निर्धारित नहीं होता। इनमें पौराणिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, वेदान्तिक, सामाजिक एवं भक्तिपरक सभी कथाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। प्रेमकथाओं में विरह अथवा संयोग शृंगार के मर्मस्पर्शी अभिनय के बीच या तो उपदेशात्मकता के दर्शन होते हैं अथवा सामाजिक त्रुटियों पर आक्षेप किये जाते हैं या अभिजात वर्ग पर व्यंग्य कसे जाते हैं।

७. इन सांगों में कथानक प्रायः ढीला ढाला होता है। पूर्वार्द्ध में कथा बड़ी

शिथिल गति से बढ़ती है। उत्तरार्द्ध तक पहुंचते-पहुंचते उसमें द्रुतगति आ जाती है जो घटनाओं को आगे ढकेलती चलती है। परन्तु इससे रसिकों के मनोरंजन में कोई व्याघात नहीं पड़ता।

८. इन सांगमंडलियों का प्रत्येक सदस्य प्रत्येक पात्र का अभिनय करने में सक्षम होता है। इनमें निर्देशक नाम का कोई पृथक् व्यक्ति नहीं होता। साधारण अभिनेता ही निर्देशक हो जाता है। मंडली में एक कौटुम्बिक भावना होती है। कोई व्यक्ति किसी भी उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकता है। जो अभी दासी बना है दूसरे ही क्षण में वह रानी भी बन सकता है।

**

भाँड पथर

राधाकृष्ण ब्राक

काश्मीर में प्रचलित भांडपथर 'भांड' और 'पथर' इन दो शब्दों से बना है। इनमें से 'भांड' का उद्‌गम संस्कृत के 'भाण' शब्द से हुआ है। संस्कृत साहित्य में 'भाण' व्यंग्यात्मक नाटक का एक भेद है। इसी प्रकार 'पथर' शब्द का उद्‌गम संस्कृत के 'पात्र' शब्द से है। यहां 'पात्र' का अर्थ नाटक के पात्र से है। अतः 'भांड पथर' एक प्रकार से व्यंग्यात्मक लोकनाटक का साधारण नाम है। इसमें अनेक पात्र होते हैं और इसकी कथावस्तु समाज की किसी समस्या पर आधारित होती है। भांड पथर में प्रायः समाज की बुराइयों का चित्रण पाया जाता है। इसमें प्रायः उन लोगों का व्यंग्यात्मक चित्रण होता है जो दुखियों को सताने तथा गरीबों का शोषण करने में जरा भी नहीं हिचकते। ऐसे लोग समाज में प्रायः हमेशा ही पाये जाते हैं। ऐसे क्रूर, नृशंस लोगों का नग्न

चित्रण कर उनपर आक्षेप किया जाता है और अंत में उनका पतन बताया जाता है। बुराई और भलाई का यह संघर्ष मानव समाज में आदिकाल से चला आया है। इस संघर्ष के फलस्वरूप विजय अंत में भलाई की ही होती है। दुष्टों का पतन तथा सज्जनों का उत्कर्ष बताना इसका मुख्य उद्देश्य है। बुराई पर भलाई की जीत अवश्य होती है। इसका शिक्षाप्रद प्रभाव साधारण जनता पर काफी पड़ता है। व्यंग्य और आक्षेप के माध्यम से यह उद्देश्य और भी प्रभावोत्पादक बन जाता है। यही कारण है कि भांड पथर इतने दिनों से काश्मीर की जनता में काफी लोकप्रिय बना रहा।

भांड पथर की कथावस्तु का संबंध समाज की किसी न किसी समस्या से होता है। उन समस्याओं का दिग्दर्शन कुछ प्रतीकों द्वारा किया जाता है। ये प्रतीक अत्यंत सरल और सुबोध होते हैं। उनमें किसी प्रकार की क्लिष्टता, अस्पष्टता, उलझन या पेचीदगी नहीं पायी जाती। इन प्रतीकों का आशय साधारण से साधारण व्यक्ति भी आसानी से समझ जाता है। प्रतीकों द्वारा ही कलाकार किसी समस्या से उत्पन्न हृदय के सूक्ष्म भाव, मनोवैज्ञनिक उतार-चढ़ाव तथा जीवन के सुख-दुख अंकित करने में समर्थ होता है। भांड पथर में संकुचित विचारधारा के कारण ही यह उन दिनों भी काफी लोकप्रिय बना रहा जब लोग धार्मिक तथा राजनीतिक अत्याचारों के नीचे दबे जा रहे थे।

भांड अभिनेता, गवैये, नर्तक तथा नट सभी कुछ होते हैं। इन सब कलाकारों की विशेषता भांड में पायी जाती है। भांड कुशल कलाकार हैं। उनके हावभाव उनके अंग-अंग से टपकते हैं। उनकी मुद्राएं, उनका नेत्र-संचालन अद्वितीय होता है। भांड के हृदय में किसी प्रकार का संकोच लज्जा या बनावट पन नहीं पाया जाता। इन अवगुणों से वे मुक्त हैं। इसी कारण भांड संकोच रहित होकर अपने भावों का पूर्ण रूप से प्रदर्शन करने में समर्थ होता है।

जहां तक अभिनय कला का संबन्ध है, भांड पथर के मुख्य आधार उचित वेश-भूषा, संवाद, भाव-भंगिमा, कटाक्ष आदि हैं। अन्य साधन हों या न हों,

केवल इन्हीं के सहारे भाँड अपने दर्शकों का मनोरंजन घण्टों करते हैं और उनकी दिलचस्पी बराबर बनाये रखते हैं।

भाँड पथर एक निम्न कोटि का खेल–तमाशा, हँसी-मजाक, व्यंग्य या व्यर्थ की उछल-कूद नहीं है, जैसा कि उसके वर्तमान रूप को देख प्रायः समझ लिया जाता है। यदि ऐसा होता तो यह सदियों तक लोगों के हृदय पर अपना अमिट प्रभाव जमाने में कभी सफल न हो पाता। यह सदियों तक कश्मीर के जनसाधारण के मनोभावों का वाहक रहा है। इसी के माध्यम से जनसाधारण के मनोभावों का संचार तथा विकास समय-समय पर होता रहा है।

**

परिशिष्ट

लोकनाट्य : उद्भव और विकास

देवीलाल सामर

कोई भी विगत घटना या व्यक्तित्व हमारी कल्पना में उभर सके, उसके लिये अभिनयकला, अंगसंचालन, भावाभिव्यंजन, आंगिकी, वाचन, संभाषण, कथोपकथन, कथाप्रसंग आदि के सुगठित चयन की आवश्यकता होती है। नाटक के ये सभी तत्त्व एक साथ विकसित नहीं हुए बल्कि इनमें से कुछ ने समय और स्थिति के अनुसार विशेष विकास पाया और वे सहस्रों वर्षों तक परम्परा के रूप में मानव-मनोरंजन के लिये कायम रहे। नाट्य के इन विविध अंगों का पृथक् तथा समन्वित विकास ही पूर्णांगी मानवीय नाट्य के लिये शक्तिशाली पृष्ठभूमि के रूप में सिद्ध हुआ। ऋग्वेद तथा सामवेद की संभाषण प्रधान तथा भावोद्रेकमयी ऋचाओं में नाट्यवाचन के पूर्व विकसित अंकुर विद्यमान थे। सामवेद के पुरूरवा और उर्वशी तथा ऋग्वेद के यम-यमी के भावप्रधान संवादों में नाट्य के स्पष्ट

अंकुर परिलक्षित होते हैं। अनेक जैन और बौद्ध सूत्रों में भी इसी प्रकार के प्रेरणा-दायी तथा भावपूर्ण कथोपकथन में नाट्य के प्रारम्भिक अंकुर उगते हुए दृष्टिगत होते हैं।

नाट्य की चित्रपट प्रणाली

उपर्युक्त वैदिक ऋचाओं के ये संवाद अनुकृतिमूलक एवं रूपप्रधान नहीं थे, और न कोई दर्शनीय दृश्य ही उपस्थित करते थे। वे केवल श्रवण योग्य थे, दृष्टियोग्य नहीं। किसी भी नाट्य प्रसंग का दृष्टियोग्य होना बहुत ही आवश्यक है। परन्तु मनुष्य इस स्थिति में नहीं था कि वह अपने परम पूज्य युगपुरुषों की युगप्रवर्तक घटनाओं को नाट्यरूप दे सकने की धृष्टता करें। इसलिये इन घटनाओं को सर्वप्रथम वृक्ष की सशक्त छालों, पशुओं के चमड़ों, दीवारों तथा कपड़ों पर विविध रंगों से चित्रित करने की परम्परा हमारे देश में आज से सैंकड़ों वर्ष पूर्व कायम हुई। अपने पूर्वजों तथा युगपुरुषों की स्मृति में उनके जीवन सम्बन्धी चित्र टांगने की प्रथा आज भी विद्यमान है। ये ही चित्र संगठित और सामूहिक रूप से एक ही विशद चित्र में समन्वित होकर जनता के समक्ष किन्हीं विशिष्ट व्यावसायिकों द्वारा प्रस्तुत किये जाने लगे। इनसे प्रदर्शित महा-पुरुषों की जीवनघटनाएँ जनमानस को आह्लादित करने के साथ-साथ उनकी स्मृतियों को भी ताजा रखने लगीं।

किसी बांस या लकड़ी पर लिपटे हुए ये पटपरिचालकों के कन्धों पर चढ़कर धीरे-धीरे एक गांव से दूसरे गाँव तक पहुँचने लगे। जहां भी गांव या नगर का चौराहा मिलता, ये पट फैलाकर खींच दिये जाते और नृत्यमुद्राओं के साथ उनमें चित्रित गाथाओं के विविध पक्षों को दर्शकों के समक्ष सुस्पष्ट किया जाता था। चित्रों को समझाने की यह नृत्यगीतमय प्रणाली उन चित्रों को सजीव स्वरूप प्रदान करती थी और दर्शकों को सम्पूर्ण नाटक देखने का आनन्द मिलता था। आज भी भारत के विविध प्रदेशों में पूर्वजों की जीवनगाथाओं को प्रस्तुत करने के लिये ऐसे चित्रपट परम्परा के रूप में विद्यमान हैं।

राजस्थान की पाबूजी तथा देवनारायण की पड़ें आज भी असंख्य जन के

हृदय में इन महान् पुरुषों की जीवनगाथाओं को अत्यन्त सुरुचिपूर्ण ढंग से अंकित करती हैं। वीर राठौड़ पाबूजी, जिन्होंने गोरक्षा के लिये अपना जीवनदान दे दिया था, आज भी असंख्य जन के श्रद्धा और आराधना के पात्र बने हुए हैं। उनके नाम पर राजस्थान में अनेक मेले लगते हैं। उनके विशिष्ट पुजारी पाबूजी के भोपे इन चित्रपटों के समक्ष पाबूजी के पवाड़े गाते हैं और उनकी स्त्रियां चित्रों को दीपक दिखाती हुई उनका गुण-गान करती हैं। ये पड़ें भीलवाड़ा और शाहपुरा के विशिष्ट जोशी छीपों द्वारा बनाई जाती हैं जो आज विशिष्ट चित्रशैली के रूप में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। देवनारायण भी मेवाड़ के एक विशिष्ट देवता-तुल्य व्यक्ति हो गये हैं जिनकी जीवनगाथाएं भी चित्रित की जाती हैं और देवनारायण के गूजर भोपे उनकी पड़ों का प्रदर्शन करते हैं।

चित्रपटों द्वारा युगपुरुषों के जीवन का अंकन करने की प्रथा बंगाल, बिहार आदि प्रदेशों में यमपट्टा के रूप में आज भी विद्यमान है। इस यमपट्टे में पाप-कर्म करने वालों को यम द्वारा दी गई सजाओं का अंकन किया जाता है। चित्रांकन द्वारा नाट्य प्रस्तुत करने वालों के दल इन यमपट्टों को एक गांव से दूसरे गांव में ले जाते हैं और गायन द्वारा उनका अर्थ स्पष्ट करते हैं। अनेक जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों में भी इन चित्रपटों का उल्लेख मिलता है जो धर्म-प्रचार के लिये प्रयुक्त होते थे। पतंजलि के महाभाष्य में भी शोभनिका नाम से चित्रांकन करने वाले नाट्यकारों का उल्लेख है। ये नाट्य-अभिनेता इन चित्रों को इस प्रभाव-शाली ढंग से प्रस्तुत करते थे कि चित्र के पात्र संजीव होकर दर्शकों की आंखों में उतर आते थे। जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों में इन चित्रपटों का सनखा नाम से उल्लेख मिलता है। ये पट्टे विविध प्रसंगों में विभाजित होते थे और प्रत्येक प्रसंग के पट्टे का काम समाप्त होने पर परिचालक उसको लपेटता जाता था और आगे के प्रसंग सम्बन्धी गीतवाचन करता हुआ उन चित्रों को सबके सामने प्रत्यक्ष करता था। इस प्रकार के पट्टे आज भी बिहार, बंगाल में पूर्वजों की गाथाओं को नाट्यरूप में प्रस्तुत करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। जैन साधुओं के पास आज भी ऐसे चित्र विद्यमान हैं, जिन पर नरक सम्बन्धी अनेक दृश्य अंकित

हैं। इनमें कुकर्मियों के कठोर दण्ड का बहुत ही वास्तविक अंकन किया गया है। ये साधु स्वयं इन चित्रों को अपने भक्तजनों को दिखलाकर पापों से उनका मन मोड़ने की कोशिश करते हैं।

चमड़े की आकृतियों द्वारा नाट्य-प्रदर्शन

चित्रपट के रूप में यह नाट्य-स्वरूप यद्यपि काफी लोकप्रिय हो चुका था और हजारों वर्षों तक जनता का मनोरंजन करता रहा परन्तु उसमें अंकित चित्र स्वयं गतिमान होकर पात्ररूप में अभिनय करने में असमर्थ थे। परिचालक इस अभाव की पूर्ति स्वयं नाच गा कर करता था। दर्शकगण उन चित्र-पात्रों के व्यक्तित्व का आरोपण उसमें नहीं कर सकते थे। चित्रप्रदर्शन के समय परि-चालक अपनी परम प्रभावशाली वाचनकला के माध्यम से दर्शकों को भावोद्रेक की स्थिति में ले जाते थे। वे अपने आराध्य देव को उन चित्रों में मूर्तिमान अवश्य देख सकते थे पर गतिमान नहीं। चित्रों पर दीपक द्वारा सामने से दिखाई हुई रोशनी उन रंगीन आकृतियों को प्रकाशमान और देदीप्यमान भी करती थी। आज भी पाबूजी और देवनारायण की पड़ों के समक्ष भोपनियां दीपक दिखाकर गाती हैं तथा भोपा रावणहत्थे पर उनकी जीवनगाथाओं का अत्यन्त प्रभावशाली विवेचन करता है। ये सभी पट रात्रि को ही दिखलाये जाते हैं।

इन चित्रांकित महापुरुषों को गतिमान करने के लिये सर्वप्रथम हमारे देश में चमड़े पर रंगीन चित्र बनाकर उन्हें काटने की परम्परा कायम हुई। इन रंग-बिरंगे चित्रों के विविध अंग-प्रत्यंगों पर बांस की खपच्चियां बांध कर उन्हें गतिमान किया जाने लगा। इस तरह महापुरुषों के विविध जीवन-प्रसंगों के अनेक चित्र चमड़े में काटे जाने लगे और इन्हें किसी नाट्यरूप में बांधने की कोशिश प्रारम्भ हुई। सर्वप्रथम उनपर चित्रपट की तरह ही सामने से रोशनी फेंकी जाती थी और ये चर्मपात्र बारी-बारी से जनता के समक्ष आकर नानाप्रकार से गतिमान होते थे। परिचालकगण छड़ी पकड़कर उन्हें नीचे से संचालित करते थे और गायन, वाचन आदि से उनका प्रयोजन स्पष्ट करते थे। चित्रांकन की यह प्रणाली निश्चय ही चित्रपट प्रणाली से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई।

परिचालकों के प्रत्येक दल में कम से कम तीन व्यक्ति रहते थे। एक चित्रों को चलाने वाला, दूसरा उनपर दीपक की रोशनी दिखलाने वाला तथा तीसरा वाद्य बजाने वाला। चित्रांकन के इस प्रदर्शन में नाट्यगुण अवश्य थे, परन्तु परिचालक स्वयं दर्शकों को दिखलाई पड़ते थे और उनका ध्यान बंटाते थे।

यद्यपि चित्रपट प्रणाली में भी परिचालकगण गाते, नाचते तथा दीपक दिखलाते हुए नजर आते थे, परन्तु चूंकि उनके चित्र गतिमान नहीं थे और वे स्थिर रूप से दर्शकों की आँखों में गुजरते थे, इसलिये परिचालक से किसी भी प्रकार उनका सम्बन्ध नहीं जुड़ता था। चित्रों की कटी हुई आकृतियों में स्वयं चित्र भी गतिमान होते थे और उनके साथ-साथ उनके परिचालक भी। अतः रूपक सिद्धि में निश्चय ही व्यवधान आता था। प्रारम्भ में इन चित्रों का आकार-प्रकार परिचालक से छोटा होता था, अतः जब परिचालक उनकी छड़ियां पकड़कर उन्हें नीचे से संचालित करता था तो पूरे साढ़े पांच फीट का परिचालक डेढ़ फीट के कटे चित्र के सामने परिणाम में बहुत बड़ा नजर आता था और चित्र की गति-शीलता से कहीं अधिक वह गतिशील बनकर दर्शकों की आँखों में गुजरता था, अतः छिपकर उन्हें परिचालित करने की परम्परा हमारे देश में कायम हुई और उसी के परिणामस्वरूप छायापुतलियों का प्रादुर्भाव हुआ।

छायापुतली-नाट्य का प्रादुर्भाव

कटी हुई पुतलियों की नाट्यप्रणाली को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये कई मर्मज्ञों ने अनेक प्रयोग किये। उनमें छायापुतलियों का प्रयोग सर्वाधिक कारगर सिद्ध हुआ। चमड़े को पारदर्शी बनाकर उसकी आदमकद आकृतियां काटी गईं और उसके आरपार प्रकाश किरणें डालकर उसे चमत्कारिक बनाया गया। इस प्रयोग में हमारे कलाकारों को अभूतपूर्व सफलता मिली। लगभग १० फुट ऊंचा और १५ फुट चौड़ा एक सफेद परदा बांसों या लकड़ी के चौखटे में तानकर सामने रख दिया जाता था। उसके पीछे इस आदमकद रंगीन चर्मपुतलियों की छड़ियों को परदे के सामने सार्थक रूप से हिलाया जाता था और पीछे से डाली हुई रोशनी से ये छायापुतलियां प्रकाशित होकर सफेद परदे पर नाना

प्रकार से गतिमान होती थीं। पुतलियों के प्रत्यक्ष रूप से कहीं अधिक उनका छायारूप दर्शकों के मन को मोहित करता था। प्रत्येक रूपक का यही नियम है कि चरित्र के प्रत्यक्ष प्रकट होकर गतिमान होने की अपेक्षा उसका अनुकृतिमूलक रूप अधिक प्रभावशाली और मनोरंजनकारी होता है। ये छायापुतलियां भी प्रत्यक्ष सामने न आकर उनकी छाया सामने आती थी, इसलिये ये छायाएँ नाना रंगों में परदे पर अंकित होती थीं और उनके अंग-प्रत्यंगों को नाना प्रकार से गतिमान होते देखकर दर्शकगण आनन्दविभोर हो जाते थे।

इन पुतलियों में परिचालकों द्वारा गाथा या प्रसंग-वर्णन न होकर स्वयं पात्रों पर ही उनके संभाषण आरोपित किये जाते थे जिससे ये छाया-पात्र स्वयं उस छायारूपक के सार्थक पात्र बन गये और बिना किसी माध्यम के ही दर्शकों के मन पर आरोपित होने लगे। इस छायानाट्य को अधिकाधिक प्रभावशाली और सफल बनाने के लिये जो गीत-संवादों की अत्यन्त मनमोहक योजना बनाई गई, उसमें योग्य कथोपकथन, योग्य कथा प्रसंग, रसविवेचन, आंगिकी, चिरित्रचित्रण, नाट्य के प्रारम्भ, मध्य और चरम विकास की सीढ़ियां अपना प्रारम्भिक स्वरूप पकड़ती गई।

काष्ठपुतलियों का प्रादुर्भाव

चूंकि छायापुतलियों की आकृतियाँ चपटी होती हैं, इसलिये उनमें किसी भी पात्र के संपूर्ण स्थूल शरीर का भान नहीं हो सकता। चपटी आकृतियों को वेश-भूषा भी नहीं पहनाई जा सकती और न उनपर अलंकार या शृंगार ही हो सकता है। उनके पृष्ठभाग दर्शकों को दृष्टिगत नहीं हो सकते, इसलिये उनको घुमाने-फिराने में बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। इन चपटी पुतलियों के संचालन तथा उनके द्वारा सम्पूर्ण नाट्याभिव्यंजन संभव नहीं समझ कर ही मूर्तिनुमा काष्ठ-पुतलियों की परम्परा हमारे देश में प्रारम्भ हुई। पुतली निर्माण के काष्ठ को सबसे हल्का माध्यम समझकर ही सर्वप्रथम काष्ठ का ही प्रयोग हुआ और उसके माध्यम से जो पुतलियां निर्मित हुईं वे कठपुतलियां कहलाईं। इन काष्ठपुतलियों द्वारा जो नाट्य रचनाएँ हुईं वे ही वास्तव में मानवीय नाट्य

का पूर्णांगी स्वरूप ग्रहण कर सकीं।

चपटी आकृतियों की चर्मपुतलियों द्वारा संपूर्ण पात्र का अनुमान करना केवल दर्शकों की कल्पना पर निर्भर रहता था। इसके अलावा उनको प्रत्यक्ष प्रदर्शित करना भी इसलिये प्रभावशाली नहीं होता था क्योंकि परिचालक को दर्शकों से छिपाना और पुतलियों को विना छाया के वास्तविक पात्र का भान कराना असंभव था। छाया द्वारा उन्हें प्रदर्शित करने से उनकी प्रभावशीलता की वृद्धि अवश्य हुई और उनकी सीमाओं की ओर भी अधिक ध्यान नहीं गया परन्तु कला के प्रयोगियों ने काष्ठपुतलियों को छायापुतलियों से भी अधिक प्रभावशाली पाया। उनसे नाट्ययोजना भी अधिक प्रभावशाली बन सकी और दर्शकों को मानवीय पात्रों का अभाव नहीं खटका।

ये काष्ठपुतलियां वस्त्राभूषण पहिनने लगीं तथा चर्मपुतलियों की तरह ही पात्रों के गुण-दोषों के अनुसार उनके चेहरों की रंगाई खुदाई हुई। मानवीय चेहरों की भावाभिव्यंजना इन निर्जीव पात्रों में संभव नहीं समझकर ही चर्म-पुतलियों के समान ही उनके चेहरों की आकृतियां अतिरंजित बनाई गई। छायापुतलियों की तरह ही काष्ठपुतलियों को मानवीय आकार में बनाना संभव नहीं था। उन्हें सूत्रों द्वारा संचालित करने के उद्देश्य से उनको वजनी भी नहीं बनाया जा सकता था तथा मानवीय पात्रों की तरह उन्हें भी किसी युगपुरुष के आरोपण से वंचित रहना था। अतः वे आकार-प्रकार में छायापुतलियों से काफी छोटी बनाई गई तथा उनकी आकृतियों को अतिरंजित किया गया।

मानवीय नाट्य की मुखौटा-प्रणाली

काष्ठपुतलियों के संपूर्ण विकास के बाद ही मानवीय नाट्य की ओर कला-विदों का ध्यान आकर्षित हुआ और उस ओर विभिन्न प्रयोग होने लगे, तब तक मानवीय नाट्य के माध्यम से अभिनय प्रस्तुत करने के प्रति जो सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिबंध थे वे भी कमजोर पड़ने लगे तथा मानवमूलक नाट्य पर नियंत्रण हटने लगा और मानवीय पात्र नाना प्रकार की पात्रानुकूल वेशभूषाओं से सुसज्जित होकर रंगमंच पर आने लगे। रंगमंच के इस अभिनव मानवीय प्रयोग में अभिनेता के लिये

अंगसंचालन तथा पात्रानुकूल वाचन की अनुकृति तो कठिन नहीं हुई परन्तु विविध भावमूलक आकृतियां बनाना तथा नयन, भौंहें, कपोल, ओष्ठ आदि के घुमाव द्वारा भावाभिव्यंजन करना उनके लिये बहुत कष्टसाध्य हो गया, अतः तदनुकूल मानवीय चेहरों पर रंग रोगन चढ़ाने तथा उन्हें पुनः छुड़ाने की दिक्कतों से बचने के लिये लकड़ी तथा कागज के मुखौटों का विकास हुआ। इन मुखौटों पर हर्ष, क्रोध, उल्लास, उत्साह, हास्य, रौद्र, बीभत्स, करुणा, शृंगार, प्रेम आदि के विविध भाव रंगों द्वारा बड़ी प्रवीणता से चित्रित कर दिये जाते थे। एक बार बना लेने पर ये मुखौटे काफी लम्बे समय तक सुरक्षित रह सकते थे और अभिनय के समय उनको मुंह पर लगाकर आसानी से अभिनय किया जा सकता था। इस प्रणाली से अब उन्हें अपनी आकृति द्वारा भावाभिनय दर्शाने की आवश्यकता नहीं होती थी और ये अपनी सम्पूर्ण शक्तियां वाचन तथा आंगिक अभिनय में ही लगाते थे।

मानवीय नाट्य की मुखौटा प्रणाली अनेक वर्षों तक कायम रही। इन चेहरों के साथ अभिनय करने की प्रथा आज भी बिहार के छाऊ नृत्यों में अपनी सम्पूर्ण साजसज्जा के साथ विद्यमान है। मुख पर चेहरे लगाना इसलिये भी आवश्यक हो गया कि प्रत्येक मानवीय पात्र के मुख की रेखाएं पात्रानुकूल होना संभव नहीं थीं। यदि किसी मानवीय पात्र को किसी राक्षस, वानर या रीछ का अभिनय करना हुआ तो उसके मौलिक आंख, नाक, कान तथा गाल में अतिरंजनात्मक विकृतियां लाना संभव नहीं होता था। अतः उसी के अनुसार बने बनाये चेहरे लगाने से उन आकृतियों की पूर्ति हो जाती थी। वैसे भी देवी-देवताओं की बड़ी-बड़ी आंखें और दैदीप्यमान तेजस्वी चेहरे औसत मानव की धरोहर नहीं होते। इसलिये इस आशय से भी मुखौटों का प्रयोग आवश्यक हो गया तथा नकली चेहरे लगाकर अभिनय करने से मानवीय पात्रों को छिपाना भी संभव हुआ।

कठपुतली पात्रों में एक अद्वितीय गुण यह था कि अभिनय के समय वे

किसी मानव विशेष का आभास अपने में नहीं देते और न उसके मानवीय गुण-दोषों का आरोपण दर्शकों पर होता। मानवीय पात्र में यह गुण विद्यमान नहीं रहने से ही उसका प्रभाव कठपुतली पात्र की तरह अधिक तीव्र नहीं होता। नकली चेहरे अथवा मुखौटे लगाकर अभिनय करने के पीछे भी यही प्रवृत्ति स्पष्ट थी कि अभिनेता का मानवीय चरित्र दर्शकों पर आरोपित न हो। यह मुखौटोंवाली नाट्य-परम्परा एक तरह से कठपुतली नाट्य और मानवीय नाट्य के बीच की कड़ी मात्र थी।

मानवीय नाट्य का सम्पूर्ण रूप

नाट्य के विकास की पांचवी सीढ़ी सम्पूर्ण मानवीय-नाट्य है जिसमें अभिनेता अपने में किसी चरित्र-विशेष का आरोप करने में वेश-विन्यास तथा मुख-विन्यास के अलावा किसी विशेष वाह्य साधनों का सहारा नहीं लेता। चूंकि मानवीय-नाट्य का विकास कठपुतली एवं चर्मपुतली से हुआ अतः उसकी स्मृतियों को कायम रखने के लिये उसने अपनी नाट्य-योजना में भी सूत्रधार को कायम रखा जो कठपुतली की तरह सूत्रों से संचालित तो नहीं होता परन्तु वह अन्य पात्रों का निर्देशन अवश्य करता था। यह सूत्रधार नाना प्रकार से इन नाट्यों में प्रयुक्त होता था। नाट्यशास्त्र की दृष्टि से संस्कृत नाटक सबसे पुराने माने जाते हैं परन्तु लोकनाट्यों की अवस्थिति तो उनसे भी बहुत पुरानी है। ऐसी कई घुमक्कड़ नाट्य-मण्डलियां थीं जिनके प्रदर्शन न केवल गांव के चौराहों, सांस्कृतिक पर्वों तथा मठ-मन्दिरों में होते थे बल्कि राजाओं और सम्राटों के दरबार में भी उनके द्वारा मनोरंजन प्राप्त किया जाता था। जैन ग्रन्थों में ऐसी मंडलियों के अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनके नाट्य लिखित रूप में कहीं परिलक्षित नहीं होते। इन नाट्यों का सम्पूर्ण स्वरूप, इनकी रंगमंचीय योजना तथा इनकी बनावट के संबंध में उनसे विशेष प्रकाश नहीं मिलता।

इन उल्लेखों से केवल यही ज्ञात होता है कि कुछ घुमक्कड़ कलाकार विभिन्न वेशभूषाओं में विविध संगीत वाद्यों के सहारे नाच-गाकर अपने नाट्य-

स्वरूप प्रस्तुत करते थे। भरत मुनि कृत नाट्यशास्त्र में उल्लिखित रंगमंचीय एवं अन्य नाट्य संबंधी नियमों का प्रतिपालन इन नाटकों में कहीं हुआ हो, ऐसा नहीं लगता। नाट्यशास्त्र के तात्त्विक विवेचन के अनुरूप लिखे जाने वाले भास एवं कालिदास के नाटकों से भी सैकड़ों वर्ष पूर्व अश्वघोष द्वारा लिखे हुए बौद्ध नाटक सारिपुत्र के कुछ बिखरे हुए अवशेष ताड़पत्र पर कहीं-कहीं उपलब्ध हुए हैं। परन्तु उनसे भी उसके सपूर्ण नाट्यतन्त्र का पता नहीं लगता। जिन मनोरंजनात्मक नाट्यों का उल्लेख जैन सूत्रों में हुआ है वे निश्चय ही शास्त्रोक्त नाट्य नियमों से बंधे हुए नहीं थे और न उस समय विद्वानों द्वारा नाट्यतंत्र की कल्पना ही की गई थी। ये लोकधर्मी नाट्य निश्चय ही सभी नियमों से मुक्त होकर स्वच्छंद रूप से प्रदर्शित होते थे।

प्राचीन जैनागमों में ऐसे कई नाट्यों का वर्णन है जो तीर्थंकरों के सामने प्रस्तुत होते थे। भगवान ऋषभदेव के उद्भव से पूर्व मानव-समाज नाना कलह और संघर्षों में उलझा हुआ था। उसी संक्रान्तिकाल में भगवान ने मनुष्य में आनंद-उल्लास की भावना की वृद्धि करने तथा उनको भोजन, विश्राम आदि की भौतिक भावना से ऊपर उठाकर आत्मिक आनन्द की ओर ले जाने के लिये पुरुष को ७२ और स्त्रियों को ६४ कलाएँ सिखलाईं। जैनागमों में जहाँ देवताओं का वर्णन है वहाँ उनका जीवन अधिकांश नाटक, संगीत, नृत्य आदि में ही लीन हुआ दर्शाया गया है। इन प्रसंगों में जिन नृत्यों का वर्णन है उनका उल्लेख स्वयं नाट्यशास्त्र में भी नहीं है क्योंकि उसकी रचना तब तक नहीं हुई थी।

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में जिन पाँच प्रकार के अभिनयों, प्रात्यंतिक, सामान्य, नोपानिपातनिक, दार्शनिक और लोकमाध्यवसानिक का प्रचुरता से उल्लेख किया है वे वस्तुतः शास्त्रोक्त नियमों में बंधे नहीं थे। लोकजीवन में फिर भी सर्वत्र इनका व्यापक व्यवहार होता था। इन नाट्यों के विशद रूप क्या थे, इसका पता लगाना आज बहुत कठिन है। परन्तु विविध जैन आगमों में उनका अद्‌भुत वर्णन मिलता है। उनसे उनके शृंगार, विविध नृत्य–प्रकार और विभिन्न वाद्ययन्त्रों के अस्तित्व का आभास उपलब्ध होता है जिनका उल्लेख स्वयं नाट्य-

शास्त्र ही में नहीं हुआ है। इन्हीं उल्लेखों में ३२ प्रकार के नाटक भी हैं जो देवगणों के सम्मुख प्रदर्शित होते थे। इन नाटकों में स्त्री-पुरुष सभी भाग लेते थे तथा उनमें नाना प्रकार के रास, नृत्य आदि की योजना थी। इनके लिये कोई विशिष्ट रंगशालाएँ नहीं थीं। कहीं भी चौड़े स्थान में डंड-कमण्डल तानकर विविध सिंहासनों तथा साज-सज्जा के साथ वे प्रदर्शित होते थे। ये अधिकांश में मौखिक परम्परा के रूप में चलते थे इसलिये इनके लिखित रूप नहीं मिलते।

विक्रम संवत् के प्रारम्भ में संस्कृत नाटक लिखे जाने लगे जिनका पूर्ण आधार नाट्यशास्त्र था। जनसाधारण के नाटकों की परम्परा तो उससे भी कई हजार वर्ष पूर्व की है। मध्यकाल में ये लोकधर्मी नाट्य रास, चर्चरि, फागु आदि के नाम से प्रचलित हुए जो जीवन के प्रत्येक आनन्दमय प्रसंगों में खेले जाते थे। ये सभी नाट्य गेय थे इसलिये वे बड़े आनन्द से गाये जाते थे और नृत्य तथा वादन के साथ उनका बहुसंख्यक जनता के समक्ष प्रदर्शन होता था। ये ही खेल-तमाशे समय के अनुसार अपना स्वरूप बदलते गये। ये ही लोकधर्मी परम्पराएँ आज भी हमारे देश में ख्याल, रास, स्वांग, तमाशे, जात्रा, लीलाएँ आदि के रूप में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं, जिनसे भारतीय जनमानस आनन्द और से प्रेरणा ग्रहण करता है।

**

लोकनाट्य : परम्परा और परिवेश

जगदीशचन्द्र माथुर

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र को पंचम वेद के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए तीन बातों पर जोर दिया है। एक तो यह कि चूंकि शूद्र तथा वन्य जातियों के लोग वेदपाठ से वंचित थे, इसलिए ऐसे वेद की आवश्यकता पड़ी, जो सभी वर्गों की जनता के लिए उपादेय हो। दूसरी बात यह कि नाट्य में ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का संग्रह किया गया। भरत की तीसरी स्थापना यह थी कि नाट्य सभी प्रकार की कलाओं, शिल्प तथा ज्ञान से सम्पन्न होने के कारण पंचम वेद कहलाने योग्य है। इस विषय में नाट्यशास्त्र में एक रोचक प्रसंग है। देवताओं के कहने पर भरत मुनि ने नाट्य का विधान किया। भरत मुनि ने जब पहले नाटक 'देवासुर-संग्राम' का प्रयोग प्रस्तुत किया और उसमें दैत्यों पर देवताओं की

विजय को प्रदर्शित किया तब दैत्यों ने विघ्न करके अदृश्य शक्तियों के सहारे नटों की स्मरणशक्ति, गीत और चेष्टा को जड़ीभूत कर दिया। जैसे-तैसे करके इन्द्र के 'जर्जर' नामक शस्त्रविशेष से इन विघ्नों का शमन किया गया। जब दूसरी बार प्रयोग हुआ और उसके लिए रंगशाला तैयार कर दी गई तब प्रदर्शन के पहले ब्रह्माजी ने समझौते के तौर पर दैत्यों के नेता विरूपाक्ष को बुलाकर उससे बातचीत की और तब उन्होंने आश्वासन दिया कि नाटक केवल देवताओं या दैत्यों के लिए ही नहीं होगा बल्कि त्रैलोक्यभर के भावों को प्रकट करेगा तथा गृहस्थों, दैत्यों, राजाओं और ऋषियों के चरित्र को प्रदर्शित करेगा। उसमें कहीं धर्म और लोकोपदेश, कहीं क्रीड़ाएँ, कहीं धन-प्राप्ति, कहीं शान्ति-प्रचार और कहीं युद्ध दिखाये जायेंगे। वह सभी प्रकार के लोगों के लिए धर्मप्रद, यशःप्रद, आयुष्प्रद, हितकर, बुद्धिविकासक और लोकोपदेशक होगा।

यद्यपि भारतवर्ष में नाट्य का यह विविध रूप सिद्धान्ततः मान्य रहा तथापि संस्कृत नाटकों की परम्परा प्रायः उच्च वर्ग तथा राजकुल के लोगों का मनोरंजन करने में विशेष बलवती रही। जातिगत भेदों का पालन तो नहीं किया गया किन्तु नाटकों का पूरी तरह से आनन्द उठाने के लिये प्रेक्षकों को सहृदय के गुण प्राप्त करने पर जोर दिया जाने लगा। सहृदय साहित्य तथा कला का मर्मज्ञ होता है और इसके लिए न केवल अभ्यास अपितु वंशगत संस्कारों की भी आवश्यकता पड़ती है। इसका फल यह हुआ कि धीरे-धीरे संस्कृत नाटक सीमित वर्ग का प्रतिबिम्ब बनता चला गया और उसे अंशतः ही पंचम वेद की संज्ञा दी जा सकती थी।

संस्कृत नाटक के पंचम वेद होने में दूसरी कठिनाई यह पड़ी कि उच्च वर्ग के लोगों के लिए मनोरंजन के साथ नाटक का सोद्देश्य रूप प्रस्तुत नहीं हो सकता था। इस दुविधा का निवारण संस्कृत नाटककारों ने नाटकों के अंत में 'भरतवाक्य' द्वारा किया। सबका कल्याण, शुभ और अशांति का विस्तार, इन सद्विचारों के साथ नाटक की समाप्ति होती और यही मंगल कामना नाटक का

उद्देश्य समझी जाती थी। नाटक के प्रधान कलेवर में किसी प्रकार के मत-स्थापन की गुंजाइश नहीं देखी गई। शायद यही कारण है कि प्रायः संस्कृत-नाटकों में विचार-तत्त्व, अध्यात्म–विश्लेषण और जीवन-दर्शन का अभाव सा प्रतीत होता है। दो ही अपवाद मिलते हैं। एक तो अश्वघोष का बौद्धधर्माव-लम्बी नाटक और दूसरा कृष्णमिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय'। इन दोनों के बीच लगभग एक हजार वर्ष तक, भास से राजशेखर तक, जितने नाटककार हुए उन्होंने प्रायः सोद्देश्य साहित्य से अपने को बरी रखा।

सर्वसाधारण का मनोरंजन और नीति तथा धर्म का उपदेश, ये दो लक्षण जो भरत ने पंचम वेद के लिए स्थिर किये थे, संस्कृत की प्रधान नाट्यधारा में प्रतिबिम्बित नहीं हुए। भरत मुनि के सिद्धांत सामान्य अनुभव पर आधारित थे और उनकी अभिव्यक्ति कहीं न कहीं होनी ही थी। अतः संस्कृत की प्रधान नाट्यधारा जब क्षीण होने लगी, उससे कुछ पहले ही जन–साधारण के मानस से मनोरंजन और शिक्षा से अनुप्राणित विभिन्न शैलियों का उदय होने लगा। इन शैलियों का विवेचन लक्षणग्रन्थों में बहुत कम हुआ। लक्षणकारों की प्रवृत्ति तो यह रही थी कि रूढ़ विधाओं से विभिन्न यदि कोई नये प्रकार का नाट्य–प्रयोग प्रस्तुत होता तो वे तुरन्त उसे अपने वर्गों की संख्या में जोड़ देते। इस तरह शास्त्र–सम्मत परिवेश का अतिक्रमण नहीं हो पाता। किन्तु ११ वीं और १२ वीं शताब्दी तक आते–आते संस्कृत नाट्यधारा कुछ क्षीण हो गई। राजप्रासाद उजड़ने लगे। सहृदय संरक्षकों की संख्या न्यून हो चली। अतः लक्षणकार भी अपनी संग्रह–शक्ति खो बैठे।

ऐसी परिस्थिति में वही नाट्य–प्रदर्शन पनप सका जो राजप्रासाद पर कम आश्रित था, मन्दिर और धर्म-स्थानों पर अधिक, जो मेलों और उत्सवों में जन-मनोरंजन करके पुष्ट हो सकता था, जो लक्षणकारों द्वारा स्थापित सिद्धांतों की उपेक्षा कर सकता था और जिसमें वस्तुतः विभिन्न कलाओं का प्रयोग होता था। पंचम वेद से मेरा तात्पर्य इसी नाट्यशैली से है जो संस्कृत नाट्यधारा के अवनतिकाल में सारे भारतवर्ष में प्रगतिशील हुई। यह नाट्य

आज भी हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय है। आज भी इसका प्रभाव उन नाटकों से कहीं अधिक व्यापक है जो नगरों के भव्य और उच्च वर्ग के लोगों का मनोरंजन करते हैं अथवा जिन्हें साहित्यिक नाटक कहा जाता है।

इन क्षेत्रीय और जनप्रिय नाटक शैलियों को प्रायः लोकनाटक के नाम से आजकल सम्बोधित किया जाता है। किन्तु लोकनाटक शब्द अंग्रेजी के 'फोक-ड्रामा' से उधार लिया गया है। 'ऑक्सफोर्ड कम्पेनियम ऑव ड्रामा' के अनुसार 'फोक प्ले' यानी लोकनाटक ऐसा नाट्य मनोरंजन है जो ग्रामीण उत्सवों पर ग्रामवासियों द्वारा स्वयं प्रस्तुत किया जाता है और प्रायः अशिष्ट और देहाती होता है। यूरोप में लोकनाटक आदिम जीवन में, लोकोत्सवों में प्रारम्भ हुए थे। उनमें मृत्यु, पुनर्जन्म तथा स्थानीय महापुरुषों के विवरण, नटों के खेल इत्यादि होते थे। इंगलैंड में 'ममर्स प्ले' को लोकनाटक कहा जाता है।

स्पष्ट है कि भारतवर्ष की क्षेत्रीय नाट्यशैलियां प्रायः इस प्रकार के लोक-नाट्य से कहीं ऊँचे स्तर के प्रदर्शन और साहित्य से सम्पन्न हैं। अतः उन्हें लोकनाटक की संज्ञा देना समीचीन नहीं जान पड़ता। उनमें कई शैलियाँ कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। मेरे विचार में इन शैलियों को 'परम्पराशील नाट्य' कहना अधिक उपयुक्त होगा। यह नाट्यशैली एक लम्बी परम्परा का वर्तमान स्वरूप है। इसके रंगमंच और साहित्य दोनों ही बहुत कुछ उस विवि और सोद्देश्य कला के प्रतीक हैं जिसका संकेत भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है और जिसका विशेष विकास मध्ययुग के संस्कृत नाटक के अवनतिकाल में हुआ। यही नाट्यशैली पंचम वेद की संज्ञा की अधिकारिणी जान पड़ती है। आज देश में पुनः इस पंचम वेद के प्रति जागरूकता की आवश्यकता है। हमारी नाग-रिक सभ्यता में पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप एकसूत्रता का समावेश हुआ। इस एक सूत्रता का धड़ राजनीतिक एकता है। किन्तु राजनीतिक एकता अपने में यथेष्ट नहीं। सांस्कृतिक सन्तुलन लोकजीवन की एकता का संवर्द्धन करता है। परम्परागत नाट्य में कई ऐसी विशेषताएँ हैं जो भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों को एक दूसरे से बांधती हैं। परम्परागत नाट्य का दूसरा महत्त्व इस बात में है

कि नागरिक नाट्य की अपेक्षा वह देश की असंख्य जनता से कहीं अधिक समीप है। आज जब भारतवर्ष में जनसाधारण को देशव्यापी प्रगति में शामिल करना अभीष्ट है, ऐसी सांस्कृतिक विधाओं को प्रोत्साहन मिलना चाहिये, जिनमें सामान्य जनता एकात्मीयता की अनुभूति कर सके। यही नहीं, सोद्देश्य नाट्य राष्ट्र-निर्माण की घड़ी में विशेष महत्ता रखता है। सोद्देश्यता नागरिक साहित्य में प्रायः अप्रासंगिक हो जाती है, जैसा संस्कृत नाटक में हुआ और जैसा आजदिन भी हम देखते हैं। किन्तु 'परम्पराशील नाट्य' में वही सोद्देश्यता बहुत स्वभाविक प्रतीत होती है।

परम्परागत नाट्य के दो पहलुओं की ओर मैंने संकेत किया। एक तो उनका देशव्यापी एकता का सूत्र होना और दूसरा उनमें जन साधारण को संचालित और प्रेरित करनेवाली प्रवृत्तियों की प्रधानता। ऊपर जिन क्षेत्रीय नाट्यशैलियों का जिक्र हुआ है उनमें निम्नांकित सामान्य विशेषताएं पाई जाती हैं, जिनके कारण उन्हें हमारे देश की संस्कृति का सार्वभौमिक स्वरूप माना जा सकता है।

१. दक्षिण और पूर्वी भारत के परम्परागत नाट्यों में एक ही प्रकार के पौरा-णिक कथानकों का प्रयोग हुआ है। नृसिंहावतार, श्रीकृष्ण लीला, रामचरित, महाभारत के दृश्य ये कथाएं असम से केरल तक सभी प्रकार के नाट्यों में मिलती है।

२. संगीत, नृत्य और संवाद तीनों ही परम्परागत नाट्यशैली के अनिवार्य अंग हैं और उनके सम्मिश्रण से ही सौन्दर्य-बोध और ज्ञान प्राप्त होते हैं।

३. यद्यपि हर क्षेत्रीय नाटक में क्षेत्र की प्रमुख भाषा का प्रयोग हुआ है तथापि लगभग सभी में सुसंस्कृत तथा ग्रामीण भाषाओं का विचित्र संयोग दीख पड़ता है। प्रेक्षक को एक साथ ही उच्च कोटि की साहित्यिकता तथा ग्रामीण स्वच्छन्दता का अनुभव होता है।

४. इन नाट्यशैलियों में जो संगीत प्रयुक्त हुआ है वह रागानुबद्ध होता है, यद्यपि एक ही नाम से रागों के विभिन्न स्वर-विधान मिलते हैं। आश्चर्य यह है कि कर्णाटक और दक्षिण भारत में प्रचलित कुछ रागों की प्रतिध्वनि

उत्तर विहार और असम के नाट्य-रागों में मिलती है। देशी और मार्गी दोनों प्रकार के राग क्षेत्रीय नाटकों में प्रायः पाये जाते हैं।

५. वेशभूषा में भी बहुत कुछ साम्य दीख पड़ता है। लंबे अंगवस्त्र कश्मीर में भी हैं और तमिलनाड में भी। मुखौटे तो देश भर में व्यवहृत होते हैं।

६. इन नाटकों में संवाद (विशेषतः पश्चिमी प्रदेशों में) प्रश्नोत्तर-पद्धति का उपयोग करते हैं। यह पद्धति वेदकालीन साहित्य से महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद तथा विविध बौद्ध और जैन साहित्य तक में प्रवाहित होती हुई प्रादेशिक नाट्यों में परिपुष्ट हुई है।

७. लगभग प्रत्येक परम्पराशील नाट्य में प्रारम्भिक अंश, जिसे भरत नाट्य-शास्त्र में पूर्वरंग कहा गया है, विशेष महत्त्व रखता है। वस्तुतः पूर्वरंग इन नाट्यों का सबसे व्यापक चिन्ह है।

८. लगभग सभी परम्परागत नाट्यों में सूत्रधार केवल प्रारम्भ में ही नहीं, बराबर किसी न किसी रूप में मौजूद रहता है। सूत्रधार नाटक की कथा को अग्रसर करता करता है और दर्शकों एवं कथा के बीच कड़ी का काम करता है। प्रायः सूत्रधार के साथ-साथ विदूषक भी किसी न किसी नाम से इनमें से अधिकतर नाट्यों में विद्यमान है।

९. परम्परागत मंच की यह विशेषता है कि इसमें अभिनय रूढ़िगत होता है। मुद्राओं का प्रयोग भाषा को स्पष्ट करने के लिए होता है और बोली विशेष स्वराघात के अनुसार होती है।

ये सभी विशेषताएँ परम्परागत प्रादेशिक नाट्यों को एक सूत्र में बांधती हैं और इस तरह सारे भारतवर्ष के एक रंगमंच का बोध होता है। उसी प्रकार इस रंगशाला का सम्पर्क जनसाधारण के जीवन से भी बहुत निकट का है। इस बात की पुष्टि निम्नांकित विशेषताओं से होती है :

१. ये सब प्रदर्शन थोड़े ही खर्चे में किये जा सकते हैं और निर्धन से निर्धन व्यक्ति का ऐसा मनोरंजन हो पाता है जिसमें संगीत भी है, नृत्य भी, और संवाद भी।

२. यद्यपि ये सब शैलियाँ परम्परागत हैं तथापि बदलते युग के अनुसार समस्याओं का समावेश इन नाट्यों में होता चलता है। सांग, नौटंकी और कूटियाट्टम में कथानकों अथवा प्रसंगों द्वारा समसामयिक जीवन पर प्रकाश डाला जाता है।

३. लगभग सभी नाट्यों से जनसाधारण को जीवन की नीतिशिक्षा मिलती है। कोई भी ऐसा अवसर खोया नहीं जाता जिसमें किसी न किसी प्रकार की शिक्षा की ओर प्रेक्षकों का ध्यान खींचा जा सके।

४. यद्यपि पौराणिक नाट्यों में अनेक अवतारी पुरुषों का चरित्र प्रदर्शित होता है तथापि अनेक प्रादेशिक नाट्य साधारण कुल में पैदा हुए नायकों को प्रस्तुत करते हैं। राजस्थान के ख्याल में तेजाजी का चरित्र इसकी पुष्टि करता है।

५. नाट्यों में सामाजिक जीवन पर छींटाकशी की जाती है और जनसाधारण के उग्र व्यंग्य की अभिव्यक्ति होती है। हिमाचल के करियाला और कश्मीर के भाण्डजश्न में इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे।

६. पौराणिक गाथाओं के अतिरिक्त इन नाट्यों में प्रेमाख्यानों का प्रचुर स्थान है। प्रेम का जो स्वरूप इन नाट्यों में मिलता है वह स्वच्छन्द इन्द्रिय-सुखबोधक और निर्बाध है।

७. इन नाट्यों के प्रदर्शन में प्रेक्षक और नट दोनों का निकट संबंध होता है और प्रायः दर्शक भी प्रदर्शन में हिस्सा लेते हैं। प्रेक्षकों और नाट्य के बीच में यह तारतम्य नागरिक जीवन के लिए एक अनूठी वस्तु है।

बहुजन सम्प्रेषण का माध्यम

परम्पराशील नाट्य में भरत के मूल उद्देश्य की पूर्ति हुई यानी सार्वभौमिक भावों की अभिव्यक्ति, सभी वर्गों के लोगों के चरित्र का प्रदर्शन तथा सर्वसाधारण के हित, सुख और उपदेश का संवर्द्धन। बुद्ध का वचन बहुजन सुखाय परम्पराशील नाट्य पर निःसन्देह लागू होता है। संकृत नाट्य इस उद्देश्य की ओर जागरूक होते हुए भी उसे पूरा करने में इसलिए असमर्थ रहा कि उसकी पद्धति उद्देश्य के अनुरूप न रह सकी। बात यह है कि जिस

समय किसी उद्देश्य विशेष का निरूपण किया जाता है, उस समय जो पद्धति और साधन उसकी पूर्ति के लिए यथेष्ट समझे जाते हैं, यह जरूरी नहीं कि बाद के युग में भी वही पद्धति और साधन सार्थक रहें। परम्पराशील नाट्य की परम्पराएँ बदलती रही हैं। यह लिखित शास्त्र से बंधा नहीं रहा। अतः सार्वभौमिक भावों की अभिव्यक्ति, विभिन्न वर्गों के चरित्रों के प्रदर्शन और लोकोपदेश के निरूपण के लिए वह नाट्य बहुजनसम्प्रेषण यानी 'मासकम्युनिकेशन' का माध्यम बन गया।

बहुजनसम्प्रेषण का सिद्धान्त आधुनिक समाज-विज्ञान की देन है। किन्तु अनेक युगों में अनेक प्रकार के बहुजनसम्प्रेषण साधनों (मीडिया ऑव मास कम्युनिकेशन) का व्यवहार होता रहा है। भारतवर्ष में पिछले एक हजार वर्ष में विकसित परम्पराशील आंचालिक नाट्य शैलियां बहुजन सम्प्रेषण–माध्यम की विशिष्ट उदाहरण हैं। वर्तमान युग के बहुजनसम्प्रेषण उपकरणों से भारतीय परम्पराशील नाट्य दो दिशाओं में कुछ पृथक हैं। एक तो यह कि उसमें अभिनय, नृत्य, संगीत और संवाद के यथावश्यक सम्मिश्रण द्वारा प्रेक्षकों में रसानुभूति का बीजारोपण किया जाता है जबकि आधुनिक माध्यमों में रसनिष्पत्ति नहीं वरन् चमत्कार की प्रधानता है और शील को व्यक्तिगत विशेषताओं (इण्डिविजुअलिटी ऑव करेक्टर) पर अधिक जोर दिया जाता है। दूसरा अन्तर यह है कि परम्पराशील नाट्य मानवमात्र के लिए व्यवहार के मानदण्ड और चिन्तन तथा अभिव्यक्ति के औचित्य की ओर संकेत करता है जबकि आधुनिक बहुजनसम्प्रेषण नीतिपरकता से आच्छन्न नहीं हो सकता। विघटित मूल्यों के युग में नैतिक आदर्श अमूर्त ही नहीं कृत्रिम प्रतीत होते हैं।

कदाचित् इसी अन्तर के कारण परम्पराशील नाट्य बहुजन सम्प्रेषण के स्तर से उठकर पंचम वेद की श्रेणी में आ जाता है। लोक कल्याण की भावना से प्रेरित इन विधाओं को चतुर्वेद की प्रतिष्ठा भले ही नहीं मिली, प्रभुविष्णुता और आदर्शों के प्रति लगाव इनमें चतुर्वेद से कम नहीं हैं। इनके विकास की कहानी भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास का एक उपेक्षित अध्याय है।

लोकनाट्य : नवीनीकरण और नैरंतर्य

डॉ० श्याम परमार

आज की जीवन-व्यवस्था में लोकनाट्य को यथावत् बनाये रखने की अपेक्षा करना सार्थक नहीं होगा। हालांकि इस बात पर लोककलाओं के प्रति रुझान रखनेवाले लोगों का एक पक्ष हमेशा जोर देता रहा है जबकि इन कलाओं में धीरे-धीरे अपने आप ही बहुत कुछ परिवर्तन आया है।

असल में हमारे अध्येताओं ने लोककलाओं के प्रति रूढ़ मान्यताओं का सहारा लिया। उन्होंने पश्चिम के लोकवार्ताविदों द्वारा चर्चित सिद्धान्तों के सन्दर्भ में ही भारतीय लोकसाहित्य और प्रदर्शनकारी कलाओं को समझने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि गलत निष्कर्षों के भरोसे इस दिशा में व्यर्थ का मंथन होता रहा है।

पश्चिम का एक वर्ग हर देश के पिछड़ेपन में रोमानी विषय तलाश

करता रहा। उस वर्ग के लिए हिन्दुस्तान की गरीबी, अजनबीपन, देहाती दुनिया की मध्यकालीन अनगढ़ता और आदिवासियों का नंगापन काफी समय तक आकर्षण के विषय बने रहे। इस वर्ग के विचारों का प्रभाव हमारे देश के आभिजात्य और बौद्धिक वर्ग की रुचियों पर पड़ा। मगर फर्क इतना रहा कि भारतीय अभिजात वर्ग ने पश्चिम के नृतत्त्वविदों की तरह लोकसंस्कृतियों के रूपों में अधिक समानियत तलाश नहीं की। उसने सही तौर पर लोकपरक कलाओं की सरहाना तो अवश्य की पर उन्हें प्रतिष्ठा नहीं दी। उसने इन कलाओं को अनुष्ठानिक, आचारपरक और मनोरंजनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया पर उच्च स्तर की कलाओं से सदैव अलग ही रखा। इस वर्ग के निकष, जो वास्तव में उत्कृष्ट साहित्य और कलाओं के निकष हैं, लोकवार्ता की इस सामग्री को परखते हैं। प्रकट है, गलत पैमानों से मूल्यांकित किये गये तथ्यों से हमेशा गलत परिणाम निकले हैं।

मुझे हमेशा इस बात का एहसास होता रहा है कि इस देश में लोकप्रचलित नाट्यशैलियों को साहित्य के स्तर पर कभी महत्व नहीं दिया गया। साहित्यपरक मान्यताओं के अन्तर्गत लोकसम्बद्ध विधाओं को समुचित महत्व इसलिए भी नहीं मिला कि अभिव्यक्ति का यह क्षेत्र लिखित साहित्य के अर्जित आभिजात्य के अनुकूल नहीं पड़ता। इस सम्बन्ध में विश्वविद्यालयों ने लोकसाहित्य सम्बन्धी शोधकार्यों को जिस रूप में प्रोत्साहन दिया है, उमसे केवल औपचारिकता का ही निर्वाह हुआ है। साहित्य के साथ उसकी कहीं भी संगति नहीं बैठी। स्वतन्त्र विषय के रूप में भी उसे गौरवान्वित होने से वंचित ही रखा गया है। लोकनाटकों को ही लीजिए। किसी भी लोक परम्पराओं से जुड़ी हुई नाट्यकृति को साहित्यिक अध्ययन का विषय बनाने का प्रयत्न कहीं भी नहीं किया गया। आभिजात्य साहित्य ने अपनी पठन-पाठन की व्यवस्था में लोकनाटकों के अनगढ़ स्वरूप को अपनी सीमाओं से दूर ही रखा है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जब हिन्दी का इतिहास लिखा तब क्या इस बात पर विश्वास किया जा सकता है कि ये लोकप्रचलित नाट्य शैलियां शुक्लजी की दृष्टि में न आयी हों। बाद के

नाटक विषयक आलोचना ग्रन्थों में भी लोकनाटकों का जिक्र नहीं हुआ है जिससे यही स्पष्ट होता है कि उपेक्षा की एक मुद्रा लोकसाहित्य के प्रति निरन्तर बनी रही है।

परिष्कृत नाटकों को जिन सिद्धान्तों से मूल्यांकित किया जाता है उन्हीं सिद्धान्तों को क्या लोकनाट्यों के अध्ययन का आधार नहीं बनाया जा सकता। जो मंजे-मंजाए आधार हमारे पास हैं वे आधार हमारी पौरनागरिक भाषा और अनुशासित साहित्य के निष्कर्ष हैं जबकि लोकनाट्यों का अपना निजी अनुशासन है। उनका रचनाविधान निरंतर प्रयोग और लोकचेतना के परस्पर आदान-प्रदान और आवश्यकताओं से स्थापित हुआ है। उनकी आंतरिक रचना-प्रक्रिया के सूत्र नितान्त अलग हैं। रूढ़िबद्धता में भी उनके लिए नावीन्य के क्षण असम्भव नहीं हैं। संस्कारों की स्वाभाविकता से बद्ध लोकसाहित्य का कलेवर अन्दर से जिस जातीय व्यवस्था, व्यवहार, नैरन्तर्य आचार-अनुष्ठान और सहसम्बन्धों से जुड़ा है उसके लिए आभिजात्य साहित्य और कला के पैमाने पराये लगते हैं। अब तक इन्हीं पैमानों से इस अलिखित और अर्द्धलिखित साहित्य को मूल्यांकित किया जाता रहा है। मूल समस्या यहीं से आरम्भ होती है क्योंकि मौखिक और लिखित साहित्य के बीच का फासला स्पष्ट रूप से दो वर्गों के बीच का फासला है।

जिन लोकनाटकों को इन दिनों हम देखते हैं या हममें से बहुतों को कभी बार-बार देखने का अवसर मिलता है उन्हे हम अपने मूलरूप में नहीं देखते हैं। परम्परा की वस्तु हुए होते भी उनमें परिवर्तन होते रहे हैं। कुछ 'मोटिफ' स्थायी महत्त्व के होते हैं। उन्हें ही हम लोकनाटकों के आदि सूत्र मान सकते हैं। परिवर्तन का बहुत सा अंश बाहरी होता है और वह इन नाटकों के साथ बराबर जुड़ा रहता है। रामलीला और रासलीला ऐसे दो फार्म हैं जिनमें बहुत परिवर्तन हुआ है पर कथा की रूपरेखा और मानवीय संवेदना के बिन्दु नहीं बदले। दक्षिण का यक्षगान मूलरूप में आदिवासियों का खेल था, बंगाल की जात्रा शैली धार्मिक मनोरंजन से आगे निकल आई। महाराष्ट्र का तमाशा नाचने वाली

लड़कियों का व्यवसाय नहीं रहा, मनोरंजन के साथ उसमें और भी अनेक बातों का प्रवेश हुआ। कालान्तर में 'ख्याल' और 'माच' की भी बहुतेरी अनगढ़ताएँ कम हुई हैं।

लोकगीतों की तरह लोकनाट्यों का रचयिता अज्ञात व्यक्ति नहीं होता। इसमें नाट्य-रचयिता, पात्र, दर्शक और व्यवस्थापकों के बीच भेद नहीं होता। यही कारण है कि इनका दर्शक फैशन के लिए इन्हें नहीं देखता, उसके लगाव में संस्कारजन्य मनोरंजन का लक्ष्य स्पष्ट है। वह एक ही नाटक कई बार देखकर भी ऊबता नहीं। हर साल 'रामलीला' या 'रासलीला' के जाने पहचाने प्रसंग या परिचित कथाओं वाले 'ख्याल' या 'माच' देखकर उसका आकर्षण कम नहीं होता। शहर का पढ़ालिखा व्यक्ति संयोग से इस तरह की चीज कुतूहल या जानकारी के लिए देखेगा। दुबारा देखने की उसे रुचि नहीं होगी, एवं इन्द्रजीत, या 'आधे-अधूरे' नाटक शायद दो बार देखने के बाद वह देखना नहीं चाहेगा, लोकनाट्यों का तो प्रश्न ही नहीं।

लोकनाटकों ने अपने स्वरूप और निजी क्षेत्र के दर्शकों के बीच आत्मीय सम्बन्ध कायम रखा है। इन नाटकों से सम्बन्धित सभी बातें उनके दर्शक की जानकारी में होती हैं। उसके इस आकर्षण में Pre-literate सभ्यता का प्रबल अंश निहित है। इसमें मध्यकालीन जादू है। जागरूक दर्शक पर लोक-नाटकों का यह जादू काम नहीं करता। पाबूजी की पड़ें दिखाने वाले भोपे सदियों पुरानी कथाएँ कहते हैं और उन्हें व्यक्त करने वाले तरीके आज भी गांवों के मानस को बांधते हैं। गाँव का यह मानस जहां भी होगा, इस ओर आकृष्ट होगा। परिष्कृत रुचि के शहरी आदमी के लिए यह चीज मात्र कुतूहल के लिये होगी क्योंकि पाबूजी की पड़ जैसा विषय उसके लिये अपने ही देश के इतिहास को वर्तमान में देखने जैसी चीज होगा। मगर यह मुश्किल होगा कि महाराष्ट्र के 'तमाशा' का जादू राजस्थान के दर्शक पर प्रभाव डाले या 'माच' या 'गवरी' नाट्य का आन्तरिक प्रभाव पंजाब का दर्शक अनुभव कर सके। भाषा और क्षेत्र का निकट परिचय इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान करता है। यहीं लोक-

नाट्यों के स्वरूप को Generalise करने का प्रयत्न किया जा सकता है जिससे कि स्थानीय रंग तो बना रहे मगर Communicate करने की क्षमता बढ़ सके। यह काम उन्हीं व्यक्तियों द्वारा संभव होता है जिनमें लोककलाकारों के मानस को समझने और नये दर्शकों को देने योग्य सामग्री का चयन कर सकने की क्षमता होती है। इसमें ठेठ गांव का कलाकार स्वयं कुछ नहीं कर सकता।

आज एक दूसरे को जानने के साधन बहुत हैं। अब न चाहते हुए भी आधुनिक जीवन के कई संदर्भों को स्वीकार करना अनिवार्य हो गया है। यह अनिवार्यता सिर्फ शहरों के लिये ही नहीं गांव के लिये भी हो गई है। आज की जीवन व्यवस्था में लोकनाट्यों के संरक्षकों की बहुत सी क्षमताएँ उनके अपने ही समाज के हाथ से छूटती जा रही हैं। अब सभी पुरानी चीजों की उपादेयता बनाये रखना संभव नहीं है। जिन लोककलाओं में आज के जीवन के साथ बने रहने की क्षमता है वे स्वयं ही नयी परिस्थितियों में किसी न किसी तरह अस्तित्व सार्थक कर लेती हैं।

अस्तित्व के नैरन्तर्य में विकृतियों का बहुत सा अंश उभर कर आता है। कई बार विकृतियों का यह अंश विकृतियों के प्रति रूढ़ समझ के कारण विकृति नहीं होता। उदाहरण के लिये भारतीय लोक कलामण्डल के कुछ प्रयोग रूढ़ दृष्टि से आलोचना के विषय हो सकते हैं मगर आज की आवश्यकता के हिसाब से अनेक चीजें हैं जिन्हें अनिवार्य प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करना होगा। अनिवार्य स्वीकार्य और अस्वीकार्य दोनों के लिये भावना और बुद्धि की खिड़कियां खुली रखने से अनेक उलझनें कम हो सकती हैं।

मैं समझता हूं लोकपरक नाटकों का क्षेत्रीय महत्त्व नष्ट नहीं हुआ है। खासकर उस क्षेत्र के उस बहुसंख्यक समाज के लिये तो निश्चय ही उनका महत्त्व है जो Pre-literate अवस्था में हैं। यह अवस्था सतही नवीकरण से उतनी सम्बद्ध नहीं है जितनी संस्कारजन्य मूल्यों से है। होता यह है कि आज की अन्धी दौड़ में मन के प्रतिकूल पड़नेवाली परम्पराएँ भी आसानी से नहीं छूटतीं। इस द्वन्द्व में आज का पढ़ा-लिखा आदमी भी लोकपरक कलाओं के बारे में मध्यकालीन

भावुकता के कारण साफ-साफ राय बनाने में हिचकिचाता है। लोकनाट्यों में स्वाभाविक रूप से आये हुए नये तत्त्वों को स्वीकार करने में आखिर दुविधा क्यों हो ? स्पष्ट है, परिभाषाओं और आस्थाओं के सहारे सोचना अब व्यर्थ होता जा रहा है। यथार्थ स्थितियों के सन्दर्भ में मात्र भावुकता और सिद्धांत के सूत्र पूर्णरूप से काम नहीं आते। अतः अपनी बात मैं यहां आकर छोड़ता हूं कि जो जातियाँ सामाजिक व्यवस्था में अपनी कलाएँ प्रदर्शित कर पेट पालती रही हैं उनके लिये आज की सामाजिक व्यवस्था में अब स्थान नहीं रहा है। हर प्रबुद्ध व्यक्ति जानता है कि इन जातियों को जीविका के लिये विविध साधन अपनाने पड़े हैं। बढ़ती हुई औद्योगिकता और नये मूल्यों की दिशा में लोककलाओं के नैरन्तर्य का भार निश्चय ही इन जातियों से कुछ माने में छिनकर मिले-जुले कलाभिरुचियों वाले व्यक्तियों के हाथ में आ गया है। यद्यपि इन व्यक्तियों के लिये इन्हीं कलाजीवी जातियों के बचे हुए व्यक्तियों का सहयोग लिये बिना आगे बढ़ना संभव नहीं है। मुझे लगता है कि लोकनाटकों के प्रति यहीं से उनके नवीनीकरण और नैरन्तर्य का सिलसिला शुरू होता है।

अन्त में विचार के लिए लोकनाट्यों की उपादेयता और परिवर्तन के सन्दर्भ में मैं इन प्रश्नों को रखना चाहूंगा :

१. आज जब कि शहरों और गाँवों में भेद समाप्त होते जा रहे हैं या यों कहिये समाप्त होने की संक्रामक स्थिति उत्पन्न होती जा रही है तब लोकनाट्यों में परिवर्तन के आधार क्या हों ? परिवर्तन के पूर्व क्या लोकनाट्य प्रदर्शन करने वाले व्यावसायिक और गैर व्यावसायिक कलाकारों के लिए बिना उनकी कला छीने उनकी जीविका के लिए क्या कोई व्यवस्था संभव है ?

२. अधिकांश लोकनाट्य हमें अलिखित रूप में मिलते हैं। उन्हें स्वतन्त्र रूप से लिखित साहित्य की प्रतिष्ठा देना क्या संभव नहीं है ? क्या यह आरोप लगाना ठीक होगा कि भारतीय नाटक का इतिहास वर्गविशेष के नाटक का इतिहास है। उसने लोकनाट्य की उपेक्षा क्या इसलिए

तो नहीं की कि यदि जनजीवन के इस शक्तिशाली माध्यम को प्रबुद्ध वर्ग ने स्वीकार कर लिया तो आभिजात्य व्यवस्था का अर्जित गौरव आहत होगा ? देश की इस सम्पदा को पाठ्यक्रमों में क्या इसी भय या कुंठा के कारण अब तक स्थान नहीं मिला ?

३. क्या ऐसा नहीं लगता कि इन लोकपरक कलाओं के प्रति कुछ वर्गों में जो आकर्षण पैदा हुआ है उसके दल में एक तरह की विलासिता अथवा व्यवसाय की भावना है ?

**

लोकनाट्य : आधुनिक संदर्भ

डॉ० नरेन्द्र भानावत

लोकनाट्य एक विकसनशील प्रक्रिया है। उसमें परिवर्तन स्वतः घुलकर मिलता चलता है। आज विज्ञान के प्रभाव से तकनीकी प्रगति की गति अत्यन्त तीव्र हो गई है। इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि जो कपड़ा सिलाया जाता है उसके फटने के पूर्व ही कटाई-छँटाई संबंधी फैशन कई बार बदल जाती है। यही कारण है कि आज लोकनाट्य भी हमें पिछड़े हुए लगने लगे हैं। समसामयिक सन्दर्भों से वे कटे हुए से प्रतीत होते हैं। अतः प्रश्न उठ खड़ा होता है कि उन्हें आधुनिक संदर्भों से कैसे जोड़ा जाय।

अब तक हमारे लोकनाट्यों की पृष्ठभूमि मध्ययुगीन सामाजिकता रही है। उसमें राम, कृष्ण जीवन के पौराणिक प्रसंग अधिक हैं और उनकी दृष्टि सामान्य जनजीवन की ओर कम केन्द्रित हुई है। सामान्य जन-जीवन को केवल प्रासंगिक कथाओं विशेषतः कॉमिक-प्रदर्शनों में ही आबद्ध रखा गया है।

इस संयोजन में परिवर्तन अपेक्षित है। अब हमें लोकनाट्यों के मूल कथानकों को इस ढंग से प्रदर्शित करना होगा कि लोकमानस का अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व हो सके।

गांव और नगर की सीमाएं अब मिटती जा रही हैं। अब तक हम समझते थे कि लोकनाट्यों के लिए गांवों का विस्तृत क्षेत्र है। पर गांवों के विद्युतीकरण की गति के साथ-साथ वहां सिनेमा प्रसार पाता जायगा। ऐसी स्थिति में लोकनाट्यों का भविष्य उनके आधुनिक संदर्भ पर ही विशेष निर्भर रहेगा। मानव स्वभाव नवीनताप्रिय है। वह विविध रुचियों और संस्कारों में अधिक रस लेता है। यदि लोकनाट्यकार अपने लोकनाट्यों में आधुनिक जीवन के संघर्षपूर्ण कटु और विक्षोभ भरे प्रसंगों को व्यंग्य के सहारे अभिव्यक्ति दे पायें तो वह अधिक सफल हो सकता है। मेरी दृष्टि में लोकनाट्य की टेक्नीक कार्टूनकला के अधिक निकट है। वह गांवों की कमजोरियों और विद्रूपताओं से संबन्धित प्रदर्शन शहरों में आयोजित कर और शहरों की आपाधापी अकेलेपन तथा द्वैतव्यक्तित्व का प्रदर्शन गांवों में आयोजित कर लोकमानस को अपनी ओर आकर्षित कर सकेगा। धीरे-धीरे यह गांव-नगर का अन्तर तो मिट जायगा पर लोकनाट्यों के द्वारा जगाई गई यह भूख हमेशा बनी रहेगी।

मैं लोकनाट्यों को लोकचेतना को प्रबुद्ध करने के शक्तिशाली माध्यम के रूप में देखता हूं। लोकनाट्यों की अद्यतन चली आती हुई समृद्ध परम्परा इस सत्य का प्रमाण है। शिष्ट नाट्यपरम्परा तो विकसित हुई, खूब ऊंचाई पर पहुँची पर ऐसी गिरी कि उसके चिन्ह भी बीच में दिखाई नहीं दिये। पर लोक-नाट्यपरम्परा के साथ ऐसा कभी नही हुआ। विदेशी भयंकर आक्रमणों के समय भी जनता इससे मनोबल प्राप्त करती रही। यही नहीं वह इसके माध्यम से अपने सांस्कृतिक तत्वों को नष्ट होने से बचाये रही। आज विदेशी प्रभाव चाहे आक्रमणकारी शत्रु के रूप में प्रत्यक्ष न हो पर वह उससे कम खतरनाक नहीं है। उसके सूक्ष्म कीटाणु बड़े खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं। ऐसी स्थिति

में लोकनाट्य जिनका प्रत्यक्ष लोकजीवन से सीधा संबंध रहता है, बड़ा प्रभावकारी कार्य सम्पादित कर सकते हैं।

आज का मानव मानसिक तनाव से अधिक दुखी और परेशान है। धार्मिक स्थान, जहां जाने से उसे थोड़ी शांति मिलने के अवसर निकल आते थे' अब श्रद्धा की वस्तु नहीं रहे, धार्मिक नेता जिनके सत्संग व सान्निध्य से वह मानसिक शांति प्राप्त करने का अवसर ढूंढता था अब उतने चरित्रवान नहीं रहे, ऐसी स्थिति में लोकनाट्यों के ये सहज प्रदर्शन उसका शुद्ध मनोरंजन कर उसकी मानसिक थकान मिटाने में कारगर सिद्ध हो सकते हैं।

प्रश्न है लोकनाट्यों को आधुनिक संदर्भ देने का। आधुनिकता का यह पुट किस प्रकार दिया जाय। यह कार्य कहने में जितना सरल लगता है, कार्यान्वियन में उतना ही कठिन और नाजुक है। कहीं ऐसा न हो कि आधुनिकता का यह व्यामोह परम्परा को ही ले डूबे। स्पष्ट है कि लोकनाट्यों की विकसनशील प्रक्रिया से जो परिचित हैं वही इस कार्य को कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता है। यों तो लोकनाट्यों में ऐसे परिवर्तन-क्रम स्वतः स्थान लेते चलते हैं पर आवश्यकता है उन्हें वैज्ञानिकता के साथ आधुनिक दृष्टि प्रदान करने की।

परिवर्तन की इस प्रकिया को वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करने की दिशा में मेरा एक सुझाव है— लोकनाट्यों के वर्तमान प्रचलित रूपों और प्रदर्शनों की दर्शकों की दृष्टि से सर्वेक्षणात्मक समीक्षा कराने की। लोकनाट्यों के कुछ विशिष्ट रूप, कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में प्रदर्शित करते समय दर्शकों को शिक्षा, व्यवसाय, रुचि, आयु आदि वर्गों के आधार पर कुछ श्रेणियों में विभक्त कर प्रश्नावली के रूप में एक-एक प्रपत्र बांट दिया जाय जिसमें प्रदर्शित किये जाने वाले लोकनाट्य के संबंध में कुछ इस तरह के प्रश्न पूछे गये हों :

१. दर्शक का नाम, स्थान व क्षेत्र
२. आयु व योग्यता
३. पद व व्यवसाय
४. लोककला में रुचि कब से ?

५. लोकनाट्यों के प्रदर्शन कब–कब देखे ?

६. लोकनाट्यों के कौन से प्रकार अधिक प्रिय हैं ? वरीयता के क्रम से.

क. ....

ख. ....

ग. ... ...

७. क्या कभी लोकनाट्यों के प्रदर्शन में स्वयं ने भाग लिया ? यदि हां तो कब व किन-किन रूपों में ?

८. क्या अब भी भाग लेते हैं ? यदि नहीं तो क्यों ?

९. प्रस्तुत लोकनाट्य में आपको सबसे अच्छा क्या लगा ?

क. कथानक ख. संवाद ग. नृत्य

घ. संगीत च. वेशभूषा छ. गायकी

ज. प्रहसन

१०. प्रस्तुत लोकनाट्य के नवीनीकरण के संबंध में आप क्या सोचते हैं ?

११. आपके क्षेत्र का विशेष लोकनाट्य कौनसा है ?

१२. आप आधुनिक संदर्भ में उनमें क्या परिवर्तन चाहते हैं ?

१३. क्या आपके क्षेत्र में लोकनाट्यों की कोई व्यावसायिक या गैर व्यावसायिक मंडली है ? यदि हो तो उसका नाम व पता.

१४. लोकनाट्यों के पुनरुत्थान में आपके सुझाव.

१५. अन्य कोई विशेष बात.

इस प्रकार की प्रश्नावली के प्रपत्र नाट्य-समाप्ति से पूर्व एकत्र कर लिये जायें। फिर उनका अध्ययन कर जो निष्कर्ष सामने आयें उनसे लोकरुचि का पता लगाकर लोकनाट्यों के नवीनीकरण की प्रक्रिया को अधिक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया जा सकता है। इस प्रकार के सर्वेक्षण अलग–अलग नाट्यरूपों को लेकर या एक ही नाट्यरूप को अलग-अलग क्षेत्रों में प्रदर्शित कर विभिन्न क्षेत्रों में किये जाने चाहियें।

आधुनिक संदर्भ देने के साथ ही जुड़ा हुआ दूसरा प्रश्न है लोकनाट्यों के

मूल्यांकन का। मूल्यांकन का आधार क्या हो? अब तक लोकनाट्यों की मूल्यागत समीक्षा की ओर ध्यान नहीं गया है। लोकसाहित्य के विवेचन में भी लोकनाट्यों की चर्चा कम की गई है। अब थोड़ी बहुत चर्चा हो रही है वह लोकनाट्यों को शास्त्रीय या साहित्यिक तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में रखकर ही। मुझे भय है कि इस समीक्षा-प्रणाली से कहीं लोकनाट्य शास्त्रीय नियमों में न जकड़ दिया जाय। यदि ऐसा हो गया तो लोकनाट्यों की जीवन्त परम्परा उस महान् वृक्ष से टूटी हुई डाली की तरह लगेगी जो रस-तत्त्व के अभाव में सूख जायगी।

लोकनाट्यों की जीवन्त परम्परा के आलोक में उसके सांस्कृतिक और कलात्मक मूल्यों की खोज ही हमारा अभिप्रेत होना चाहिये। उसका सम्बन्ध साहित्यशास्त्र से अधिक न होकर समाजशास्त्र से है। हमारी दृष्टि उसमें साहित्य तत्त्व ढूंढ़ने की अभ्यस्त रही है। उसे सही दिशा-निर्देश देना होगा। हमें देखना होगा कि लोकनाट्यों की वे कौनसी रूढ़ियां हैं जिनसे शिष्ट साहित्य प्रभावित होता रहा है और आज ऐसी संभावनाएँ कितनी हैं कि आधुनिक साहित्यकार लोकनाट्यों की शैलियों का अपने साहित्यसर्जन में प्रभावकारी तरीके से उपयोग कर सकें।